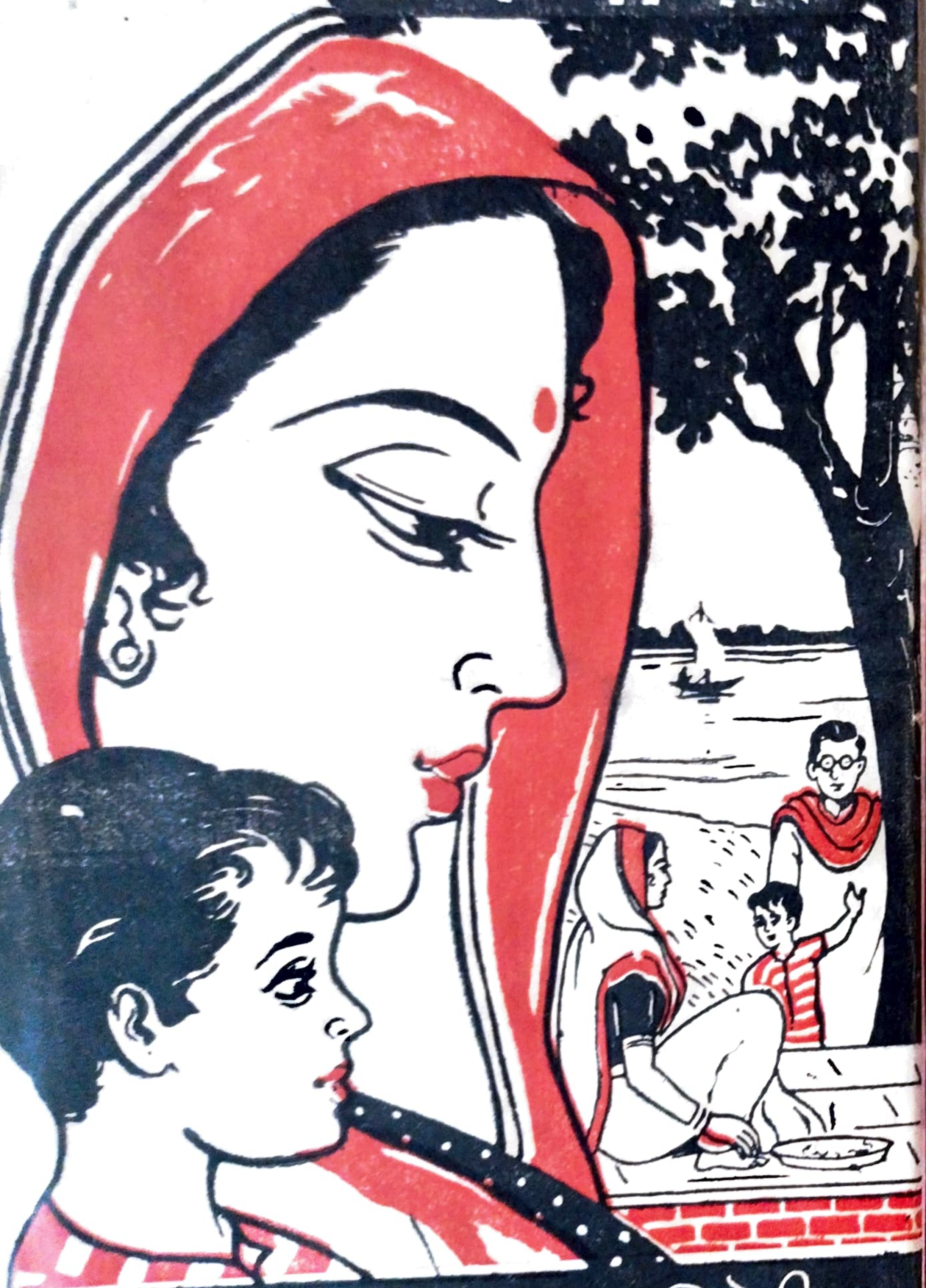
कर्तव्याघात



देवनारायण द्विवेदी

कर्त्तव्याघात

स्वर्गीय श्री प्रेमचन्दकी सम्मति :

...हिन्दीमें इतना अच्छा उपन्यास अबतक हमारी नजरोंसे नहीं गुजरा था। कहानी इतनी सुन्दर है, लेखककी शैली इतनी प्यारी है, चरित्रोंका प्रदर्शन इतना मनोहर है कि पाठक मानो भावोंके उद्यानमें विचर रहा है। कहीं मानमय पितृ-भक्ति है, तो कहीं दीप-शिखाकी भाँति हृदयमें जलनेवाला पुत्र-प्रेम ! चन्द्रकलाका चित्र तो हिन्दी-संसारमें एक अनूठी वस्तु है।... हम पाठकोंसे अनुरोध करते हैं कि इस करुण-कथाको अवश्य पढ़ें। ऐसे उपन्यास उन्होंने कम पढ़े होंगे।...

—फरवरी सन् १९२६ 'माधुरी'

कर्त्तव्याघात

(सामाजिक उपन्यास)

लेखक
देवनारायण द्विवेदी

बनारस
ज्ञानमण्डल लिमिटेड

मूल्य : ५ रुपये

पंचम संस्करण, संवत् २०२०

प्रकाशक—ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस)

मुद्रक—ओम्प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी ६२०१–२०

१

जाड़ेका दिन था। कड़ाकेकी सर्दीके कारण किसान गनगनाते हुए बैल लेकर खेतोंकी ओर जा रहे थे। उस समय सूर्य भगवान्‌की लालिमा पूर्व दिशामें फैल रही थी। धीरे-धीरे बाल-मन्दारके फूलोंके गुच्छे-सा, अथवा गगन-गुम्बजपर स्वर्ण-कलश-सा, या देवांगनाओंके मस्तकके सीस-फूल-सा, या चराचर विश्वमात्रको समूचा निगल जानेवाले काल-महासर्पके अण्डे-सा, कमल-वनको प्रफुल्लित करता हुआ, चक्रवाककी विरहाग्निको बुझाता हुआ, पद्मरागके नूपुरके समान रविमण्डल प्राच्य दिशामें ऊपर चढ़ रहा था। ठीक इसी समय अचानक पड़ोसीके घरसे वापस आकर सुभद्राने बेटीको पुकारा—"मानू, ओ मानू, जरा सुन तो, यहाँ आ।"

बालिका मनोरमा ऊपर दो-तल्लेपर बैठी हुई पुस्तक पढ़ रही थी। माँकी आवाज सुनते ही नीचे उतर आयी। पूछा,—"मुझे पुकारती हो क्या अम्मा? क्यों, क्या काम है?"

"सुना है तेरे ससुरका स्वर्गवास हो गया।"

मनोरमाने चौंककर पूछा,—"किससे सुना, क्या चिट्ठी आयी है?"

सुभद्राने उपेक्षाकी दृष्टिसे मनोरमाकी ओर देखकर कहा, "पगली कहींकी! तुझे वे चिट्ठी लिखेंगे! अरे मित्तू आज भोरकी गाड़ीसे अपने घर आया है कि नहीं; उसीने अपनी माँसे कहा है। उसीके यहाँसे मैं भी सुनकर आ रही हूँ।"

मनोरमा यह सुनकर अवाक् रह गयी। उसके मुँहसे एक शब्द भी

न निकला। कुछ देरतक चुप रहनेके बाद लम्बी साँस लेकर माँसे पूछा,—"क्या हुआ था, सो भी कुछ कहा ?"

"मित्तूसे भेंट नहीं हुई। मुझसे उसकी माँ मिली थी।"

"उसे कुछ मालूम नहीं है ?"

"क्या हुआ था, सो तो मालूम नहीं। मित्तू बतलाता था कि वे इधर कई दिनोंसे बीमार जरूर थे।"

थोड़ी देरतक दोनों ही चुपचाप खड़ी रहीं। दोनोंके दिलोंमें पुरानी बातें जोरोंसे उछल-कूद मचाने लगीं। कुछ देर बाद माताने कहा,—"गाँवके नहीं, पड़ोसके नहीं—खास अपने ससुर थे—साक्षात् अपने पिता-तुल्य थे—उनकी बुद्धि कैसी ही क्यों न रही हो, पर तुझे अपना कर्त्तव्य पालन करना ही उचित है बेटी ! सुशीलको इस वक्त नहलानेकी जरूत नहीं है, उसका हाथ-पाँव धो डाल, ऊपर जल छिड़क दे—और तू नहा ले। उनका व्यवहार तेरे साथ बुरा था, बुरा ही सही, पर तू अपना धर्म काहेको छोड़ेगी,—जा अब फजूल देरी न कर।"

"जाती हूँ" कहकर मनोरमा दीवारके सहारे और कुछ देरतक सचिन्त खड़ी रही। बाद ऊँची साँस लेकर कहने लगी,—"मेरी सासको इस समय कितना कष्ट होता होगा। मेरे ससुरकी देश-कोसमें खासी इज्जत थी, क्यों अम्मा ?"

"हाँ, अच्छे थे तभी तो मुझपर वज्र गिरानेके लिए तुझे इस दशामें रख छोड़ा था। ईश्वर ऐसे अच्छे आदमियोंको अधिक न गढ़े, यही अच्छा ! जा, अब और ज्यादा ससुरकी तारीफ न कर।"

यह कहकर माँ कुछ काम करने लगी और कन्या मनोरमा लज्जा और सङ्कोचसे सिर नीचा करके कुछ पश्चात्ताप करने लगी। शिशिर-मथिता पद्मिनीकी भाँति मनोरमा भी एक पतित्यक्ता अभागिनी युवती है।

२

पण्डित सदानन्द त्रिपाठी बनारसके एक प्रतिष्ठित रईस थे। त्रिपाठी महाशयके पास कई इलाके मुसल्लम थे। करीब बीस हजार रुपये सालकी तहसील थी। वकालतसे भी खासी आमदनी होती थी। आज दो दिन हुए अपनी सारी सम्पत्ति अपने एकमात्र उत्तराधिकारी पुत्र राजेन्द्रप्रसादके लिए छोड़कर वह इस असार संसारसे स्वर्गारोहण कर गये। राजेन्द्र इलाहाबादके 'लॉ' कालेजमें पढ़ते थे। उनके लिए बड़ी ही जटिल समस्या उपस्थित है। यह समस्या सदानन्दकी कृपासे ही उपस्थित हुई है।

सदानन्दकी मृत्युसे मुहल्लेभरमें सन्नाटा-सा छाया रहनेपर भी उनकी श्राद्धादिक क्रिया करनेके लिए लोग जहाँ-तहाँ सामग्री आदि जुटानेमें निमग्न हैं। पितृ-वियोगमें व्याकुल दोनों कन्याएँ—भामा और प्रभा, लोगोंकी सान्त्वना-पूर्ण शिक्षाओंसे धैर्य धारण करनेकी चेष्टा करती हुई पिताके कृत्यकर्मके उद्योगमें लगी हैं। प्रभा सबसे छोटी है। बापकी बहुत ही प्यारी लड़की है। अवस्था भी अभी बिलकुल कम है। इस शोकसे कोई उसे शान्त नहीं कर पा रहा है।

सदानन्द इस अवस्थामें मरनेपर भी एक विधवाकी सृष्टि किये बिना नहीं जा सके। वृद्धा स्त्रीने सोनेके गहने, रेशमी किनारेदार साड़ियाँ, रत्न-जटित सुहाग-सूचक चूड़ियाँ, ये सारी चीजें जिनके लिए थीं, उन्हींके लिए उतारकर रख दीं। चेहरेपर न तो अब पहले जैसी कान्ति है और न वह प्रसन्नता ही। साधारण परिचितोंका पहचानना भी कठिन है। वैधव्यने उसे राक्षसी बना दिया है।

राजेन्द्रने आकर कहा, "माँ, जब तुम्हीं इस दशामें पड़ी रहती हो, तो भला हमलोगोंकी क्या गति होगी?" इतना कहकर माँकी श्री-हीन मूर्ति देखकर रोने लगे। हाय! बाबूजी तो चले गये, माँकी भी सूरत न-जाने कैसी दिख रही है। थोड़ी देरतक अश्रुपात होनेके बाद हृदयका भार कुछ कम हुआ।

फिर माताने कहा,—"क्या कह रहे हो बेटा ! हमारा तो अब जो कुछ होना था, सब हो गया; तुम जो कुछ कर सको, करो। भामाको बुला लो।"

राजेन्द्रने कहा, "माँ, बाबूजी नहीं हैं, यदि तुम भी कुछ देख-भाल न करोगी, तो भला बताओ हमलोग क्या कर सकते हैं ? इज्जत तो रखनी ही होगी। उठो, नहीं तो हमलोग कुछ न कर सकेंगे।"

पुत्रकी नैराश्य-पूर्ण बातें और भय-व्यंजक मुख देखकर माँ कभी भी सहन नहीं कर सकती, चाहे उसे कितना ही क्लेश क्यों न हो। माँ अपनेको सँभालकर उठी, और घरके कामोंकी देखभाल करने लगी। वह भामाके साथ घरमें एकादशाहके लिए मिट्टी तथा काँसे, पीतल और फूलके बर्तन, पलँग, बिस्तरा आदि सारी चीजें ठीक करने लगीं। इतनेमें सावित्रीने आकर भामासे कहा, "क्यों बबुई, ये चीजें तो कलके लिए चाहिये न ?" भामाने कहा, "हाँ।"

वेदव्रत त्रिपाठी राजेन्द्रके चचेरे भाई थे। अवस्थामें भी राजेन्द्रसे तीन वर्ष बड़े थे। इनकी स्त्री सावित्री देवी बड़ी ही नम्र-स्वाभाव और धैर्य-परायणा शिक्षिता थीं। इनकी लड़कीका नाम भानुमती था।

भामाने कहा, "माँ, अब ऐसे अवसरपर भी क्या बड़ी बहूकी खबर न ली जायगी ?"

माँने कहा, "यही तो मैं भी सोच रही हूँ ! (सावित्रीसे) क्यों बहू, क्या करूँ कुछ समझमें नहीं आता।"

सावित्रीने कहा, "ऐसे मौकेपर दस जगहके बाहरी आदमी आवेंगे माँ, बहूको न बुलाना लोगोंको बुरी तरह खटकेगा। लोग अपने मनमें क्या सोचेंगे ?"

प्रभा उसी कमरेमें पलँगके ऊपर तकिया लगाकर लेटी हुई थी। ये बातें सुनते ही झटसे चौंककर उठ बैठी। कहने लगी,—"बहन ! बड़ी भाभी आवेंगी, यह कैसी बात ? जानती नहीं क्या कि उन्हें बाबूजीने अपने घरमें आनेके लिए मना कर दिया है ?"

भामाने कहा, "उसका क्या अपराध है, जो वह नहीं आवेगी ?"

"बाबूजीने मना किया है।"

"बाबूजी क्रोधमें आकर अगर कोई भूल ही कर जायँ तो क्या धर्मको एक किनारे पटककर वही किया जायगा ?"

"उनकी आज्ञा तो माननी ही पड़ेगी। जो नहीं मानेगा वह—"

"क्या, क्या ? बोल न, चुप क्यों हो गयी ?"

प्रभाने झनककर मुँह फेर लिया और बिना कुछ उत्तर दिये ही फिर पलँगपर पहलेकी भाँति लेट गयी। गम्भीर शोकाच्छन्न क्रोधसे कहा— "कभी भी न आने पावेगी। क्या बाबूजीके जाते ही उनकी बातोंका निरादर होने लगेगा ? मैं इसे नहीं सह सकती।" इसके बाद वह मन-ही-मन न जाने क्या-क्या भुनभुनाने लगी।

भामा खिन्न होकर उस कमरेसे निकलकर दूसरे कमरेमें चली गयी। इस छोटी बहनके समीप सब दिनसे भामाकी हार होती आ रही है। हार हो कैसे न ! प्रभा जो बापकी दुलारी बेटी थी ! सावित्री भी कुछ देरतक निस्तब्ध खड़ी रही। फिर प्रभासे कहा, "देखो मन्नी ! बबुई तुम्हारी बड़ी बहन हैं, उनका जवाब तुम्हें इस तरह नहीं देना चाहिये।"

प्रभा—"हाँ, हाँ, वह तो जो दिलमें आवे कहती जायँ, मैं कुछ न बोलूँ। क्यों !"

"उन्होंने तुम्हें तो कुछ कहा नहीं।"

"बाबूजीको तो कहा।"

"क्या—"

इतनेमें भामाने सावित्रीका हाथ पकड़कर खींच लिया। सावित्री भी प्रभासे अप्रसन्न होकर भामाके साथ दूसरे कमरेमें चली गयी।

थोड़ी देरमें वेदव्रत और राजेन्द्र घरमें आये। वेदव्रतने भामासे पूछा कि, "तेरी बहू कहाँ है ? उसे मैं किसी काममें नहीं देखता हूँ ?"

भामाने अत्यन्त गम्भीर मुँहसे उत्तर दिया "घरमें होंगी।"

"उसे भी साथमें क्यों नहीं ले लेती ? इतना काम है, बिना सबके

हाथ लगाये कैसे होगा ?"

"भैया मैं उन्हें कुछ नहीं कह सकती। इच्छा हो कुछ करें, चाहे न करें।"

वेदव्रत बाहर चले आये। भामा भी अपने काममें लग गयी। बहनके उत्तरसे राजेन्द्र अप्रसन्नचित्त हुए वहीं खड़े रह गये। राजेन्द्रको अकेले देखकर सावित्रीने आकर कहा, "जरा जाकर समझा दो उन्हें। क्यों लोगोंकी नजरोंसे उतरती हैं ?"

राजेन्द्रने ऐसा ही किया। स्त्रीके समीप जाकर देखा कि पत्नी चन्द्रकला पलँगपर लेटी हुई एक किताब पढ़ रही है। बाल-बिखरे हुए हैं। देखते ही राजेन्द्रका दिल जल गया। विवश हो रूखे स्वरमें उन्होंने कहा—"क्या यह मुँहके सामने किताब करके सोनेका समय है ? भामा अकेले कहाँ-कहाँ सँभालेगी, बोलो तो सही ?"

"क्यों अकेले क्यों ? और भी तो एकके आनेकी बात हो रही है। उनके आते ही वह दो हो जायँगी।"

"क्या ? किसके आनेकी बात हो रही है ?—और फिर चाहे जितने लोग आवें जायँ, घर तो तुम्हारा है न; तुम्हारे इस तरह उदासीन रहनेसे घरका काम कैसे चल सकता है ?"

"मेरा घर काहेका ? मैं कौन हूँ ? जो घरकी मालकिन हैं, जो बेटेकी माँ हैं, वही जब आ रही हैं, तो फिर मुझे लेकर कोई क्या करेगा ? मैं तो एक कोनेमें पड़ी हूँ—इससे किसीका कोई हर्ज हो रहा है ?" इतना कह किताबका पन्ना उलटकर चन्द्रकला फिर उसीमें निमग्न हो गयी। राजेन्द्रके चेहरेका भाव कैसा हो गया है, यह भी वह न देख सकी।

इन बातोंको सुनकर राजेन्द्रके मुखका कैसा भाव हो गया, नहीं कहा जा सकता। विरक्त स्वरमें राजेन्द्रने कहा,—"किसने तुमसे आकर यह अद्भुत खबर कही है, सुनें तो जरा ?"

चन्द्रकलाने पुस्तकसे मुँह नहीं हटाया। पठनशील मेधावी छात्राकी भाँति पुस्तकके पृष्ठपर अखण्ड दृष्टि लगाये तुरन्त उत्तर दिया, "मुझे इस

खबरका मिलना भी अन्याय हुआ क्या ?"

"ये बातें जिसने कहीं हैं उसकी —"

"व्यर्थ ही किसीको मुँहसे गालियाँ न निकालो महाराज; मुझसे किसीने नहीं कहा है। मैं भी घरमें ही रहती हूँ। घरमें जो बातें होती हैं, उन्हें मैं भी तो सुनती हूँ, मेरे कान बहरे तो हैं नहीं।"

"ना,—तुम्हारे कान बहरे क्यों हैं, मैं ही बहरा हूँ। खैर जो हो, इस समय इन सब कल्पनाओंको लेकर पड़ी न रहो, घरका काम-काज देखो। क्योंकि माँके शरीरमें इस समय इतना बल नहीं रह गया है कि वह अधिक झंझट उठा सकें ? भाभा भी अपने बच्चोंसे बहुत कम फुरसत पाती है।"

"तो क्या यह क्रिया-कर्म खतम हो जानेके बाद आवेंगी ? ऐसा क्यों ? दो दिन पहले ही आ जानेसे तो सारा काम हो जाता। ऊँह ! मेरा क्या !" यह कहकर उसने हाथकी पुस्तक बिछौनेपर फेंक दी और उठ खड़ी हुई। बोली, —"बाबूजीको या भाईको लिखनेसे ही तो कोई-न-कोई आकर मुझे लिवा ले जायगा।"

राजेन्द्रने एक और झंझट बढ़नेकी सम्भावना देखकर भयके मारे कुछ भी नहीं कहा। निरुत्तर हो बाहर चले गये।

३

संध्या हो गयी, छतकी बहार निराली थी। बेला, जूही और रजनी-गंधा आदि सुगंधित पुष्प मिट्टीके गमलोंमें चारों ओर खिलकर अपनी-अपनी महककी मनोहारिणी माधुरीसे मानसको विकसित कर रहे थे। उसी छतपर एक किनारे लेटी हुई नव-विधवा छोटी बालिकाकी भाँति शोका-श्रुपात करती हुई गृहस्थीकी बहुत-सी छोटी-बड़ी बातोंकी याद करके बिलख

रही थी। भामा और सावित्रीके लड़के-लड़कियाँ नित्यकी भाँति कहानी कहलानेके लिए वृद्धाको चारों तरफसे घेरकर बैठे थे।

भामाके लड़के कहते थे,—"नानी, एक खूब अच्छी-सी कहानी उस रोजकी तरह सुना दो।"

वृद्धाने कहा,—"आज हमारी तबीयत अच्छी नहीं है लल्लू, तुम नीचे जाओ खेलो।"

भानुमतीने कहा—"नहीं, एक कहानी सुना दो। बस सिर्फ एक।"

वृद्धाने कुछ जवाब नहीं दिया। बच्चे कुछ देरतक तो कहानी कहलानेके लिए कोशिश करते रहे, पर जब सफल न हुए और वृद्धाको रोते देखा, तब सबके-सब उदास होकर नीचे चले गये।

"माँ! माँ, कहाँ हो?" धीमी आवाजसे कहती हुई सावित्री छतपर आ गयी। सावित्रीके ससुर कुछ समय पहले ही सदानन्दसे अलग हो गये थे। किन्तु अलग रहते हुए भी सावित्रीके गुणोंसे वृद्धा उसे अपनी सगी पुत्र-वधूकी भाँति मानती थी। दोनों घरोंमें प्रेमका जरा भी अभाव न था। वृद्धाने सावित्रीकी आवाज पहचानकर स्नेह-पूर्वक कहा—"आओ बहू यहाँ हूँ।"

सासके पाँवके पास जाकर सावित्री बैठ गयी। पूछा,—"कैसी हो माँ?"

"अच्छी हूँ। तुम्हें उसी कामके लिए बुलाया है; तुम यहाँ बैठो, मैं जाती हूँ।" इतना कहकर वृद्धा तो नीचे चली गयी और सावित्री वहीं बैठी-बैठी कुछ सोचने लगी। इतनेमें आवाज आयी—"माँ?"

सावित्रीने कहा—"कौन! भानो"।

"हाँ, राजो चाचाको बुला लायी। आ रहे हैं।"

"अच्छा किया! अच्छा जाओ नीचे खेलो।"

भानुमती नीचे चली गयी। राजेन्द्रने आकर कहा,—भाभी! कहो क्या बुला रही हो?

"आइये, बबुआजी, इधर बैठिये।"

राजेन्द्रने बैठते ही कहा,—"देखो तुम हमारे बड़े भाईकी स्त्री हो। तुम हमें आइयेकी जगह अगर 'आओ' पुकारा करो तो बहुत अच्छा हो। तुम्हारे इन शब्दोंसे हमें सङ्कोच मालूम होता है।"

सावित्रीने मुस्कराकर कहा,—"भाई, मुझे वैसे पुकारनेमें बड़ा अनकुस मालूम होता है।"

—"अच्छा, तो मैं जाता हूँ। जब तुम्हारी यह आदत छूट जायगी, तब मैं तुमसे बातें करूँगा।" यह कहते हुए राजेन्द्र जानेके लिए उठकर खड़े हो गये।

सावित्रीने कहा,—"अच्छा बैठो, बैठो। जो तुम कहो, वही सही भाई। स्त्रियाँ तो हमेशा ही पुरुषोंकी आज्ञाकारिणी हैं। यदि पुरुषोंका चौथाई हठ भी स्त्रियाँ करें तो गृहस्थी एक दिन भी न चले।"

"इसके लिए बुलाया? तुम्हारे सामने इस शोकावस्थामें भी हँसी आये बिना नहीं रहती। भला तुम स्त्रियोंका इतना पक्षपात व्यर्थ ही क्यों कर रही हो?"

"क्या मैं झूठ कहती हूँ?"

"नहीं, नहीं। बिलकुल ठीक कह रही हो। पर स्त्रियोंकी तरह यदि पुरुष भी बेवकूफी करने लगें और सहन न करें तो बस—"

"क्या, क्या? अरे बापरे! भला पुरुष कबसे सहन करने लगे हैं बबुआ?"

"सब दिनसे।"

"अच्छा हाँ। ठीक है, सहन तो करना ही चाहिये। जाने दो ये बातें, मैंने क्यों बुलाया है, वह सुनो। माँकी राय है, बड़ी बहूको मिर्जापुरसे बुलानेकी। वह तुमसे कहनेमें समझती थीं कि तुम सङ्कोचसे ठीक उत्तर न दोगे। इसीसे उन्होंने मुझसे तुम्हारी राय लेनेके लिए कहा है। मैं भी यही ठीक समझती हूँ कि निर्दोष बहूको इस तरह कष्ट पहुँचाना उचित नहीं।"

"तो क्या बाबूजीकी आज्ञा टाल दी जाय ? भला संसार क्या कहेगा ? यही न कि देखो ऐसा नीच लड़का है कि बापके मरते ही उनकी बातोंपर पानी फेरने लगा।"

"नहीं, नहीं, तुम भूल रहे हो। तुम्हें माँकी भी तो आज्ञा माननी चाहिये न। जब वे कह रही हैं, तो तुम्हें कोई आपत्ति न होनी चाहिये।"

"मैं यह नहीं मान सकता। बाबूजी मरते समय भी कह गये कि देखो बेटा, मरनेके बाद हमारे नामपर धब्बा लगानेके लिए उस स्त्रीको न बुलाना। इसलिए मैं माँकी यह बात कैसे मान सकता हूँ।"

"बाबूजीने क्रोधमें ही ऐसी बातें कही थीं। अब तुम्हें उचित काम करना चाहिये। बहूको वहाँ रख छोड़ना सर्वथा अनुचित है।"

"सो नहीं हो सकता भाभी।"

"नहीं बबुआ ऐसा न कहो। अनुचित और उचित विचारकर काम करो।"

"बाबूजीकी आज्ञा टालनेमें मैं सर्वथा असमर्थ हूँ।"

"तो क्या माँकी बातोंकी कुछ भी परवाह न करोगे ?"

"जरूर करूँगा, पर बाबूजीकी कोई भी बात रद्द करके नहीं। अच्छा अब मुझे छुट्टी दो, कुछ जरूरी काम है।" यह कहकर राजेन्द्र नीचे उतर आये।

सावित्री राजेन्द्रकी भीतरी बातोंका अन्दाज कर चुकी थी, इसलिए बैठनेके लिए अनुरोध नहीं किया। राजेन्द्रके चले जानेपर माँके पास जाकर सावित्रीने सारा हाल कह सुनाया। भामा भी खड़ी सुन रही थी। वृद्धा अपनेको अधिक न सँभाल सकी। निराशा-जनक उत्तर सुनते ही फूट-फूटकर रोने लगी। भामा भी भाईकी बातें सुनकर जल उठी। तीनों ही इसी चिन्तामें निमग्न हो कुछ देरतक चुप रहीं। पश्चात् माताने कहा—

"किसी भी अपराधसे अपराधिनी नहीं, किसी भी पापसे पापिनी नहीं; एकके दोषसे दूसरा सताया जाय, यही क्या धर्म है ? हाय भगवान्!

तुम्हारी कैसी लीला है, कुछ भी समझमें नहीं आती !"

भामाने कहा,—"बाबूजी तो बहूको न बुलानेके लिए कहना ही चाहते थे। यदि ऐसा न कहते तो छोटी बहूके बापके सामने उन्हें चोर बनना पड़ता न। मैं सब जानती हूँ। बाबूजीकी आज्ञा माननेका तो राजेन्द्र बहानामात्र कर रहे हैं, असल बात तो यह है कि भीतर वह छोटी बहूसे डर रहे हैं।"

माताने अपने माथेपर हाथ रखकर कहा—"कुछ समझमें नहीं आता कि क्या करूँ। घरकी देवी हमलोगोंके दुर्भाग्यसे ही हमलोगोंसे अलग है।"

भामाके दिलमें उसी दिन ज्वाला उत्पन्न हो गयी थी, जिस दिन पहले-पहल उसकी कैशोर-संगिनीका अकस्मात् प्रणय-बन्धन छुड़ाकर ममता-विहीन निष्ठुर अकाल विसर्जन कर दिया गया था। आज आशा भङ्ग होनेके कारण वह ज्वाला उसके हृदयमें फिर भभक उठी।

सावित्रीको भी कम दुःख नहीं हुआ। कहने लगी—"धनकी ऐसी लीला ! बाबूजीके साथ जो हुआ था, सो तो हुआ ही, पर बबुआके साथ तो कुछ नहीं हुआ है। फिर यह क्यों इतनी निष्ठुरता दिखा रहे हैं ?"

यह कहकर सावित्री स्वामीको भोजन करानेके लिए अपने घर चली आयी।

४

मिर्जापुर शहरके बाहरी तरफ पं० श्रीनिवास उपाध्यायका एकतल्ला मकान बहुत दिनोंसे मरम्मत न होते हुए भी यह सूचित करता है कि पहले गृहस्वामीकी अवस्था बहुत ही अच्छी थी। मकानके चारों ओर सुन्दर नकशेदार पत्थरके मोटे दिव्य खम्भोंपर भव्य मुरेरियाँ आज भी

गृह-स्वामीका प्राचीन गौरव सूचित कर रही है। मकानके चारों ओर चहारदीवारीके भीतर सुन्दर पुष्प-बाटिका और उसका विशाल प्रवेश-द्वार किसी भी भाग्यवानके सुसज्जित प्रासादकी अपेक्षा कम नहीं है।

गृह-स्वामीका इस समय स्वर्गवास हो गया है। सुभद्रा देवी ही इस समय इस मकानकी स्वामिनी हैं। शहरसे बाहर थोड़ी दूरपर कई बीघा जमीन ही इस अनाथ परिवारके लिए आधार है। उस जमीनकी सौंजाबन्दीसे मोटा अन्न और मोटा वस्त्र इस अनाथ गृहको अँटता जाता है। घरमें आदमी भी अधिक नहीं हैं। स्वयं विधवा सुभद्रा, श्वसुर-परित्यक्ता एकमात्र युवती कन्या एवं बालक दौहित्र, बस ये ही तीन प्राणी हैं। इनके अतिरिक्त जगन नामका एक नौकर है, मुण्डी गाय और उसकी झलरी नामकी बछिया है।

मिर्जापुरका यह भाग प्रायः जंगलाकीर्ण है। पास-पड़ोसमें चार-पाँच घरके सिवा अधिक बस्ती भी नहीं है। इनमेंसे एक मकान तो इनके स्वजातीयका, एक क्षत्रियका और एक मकान मुसलमान परिवारका है।

वैशाखका महीना था। दोपहरके प्रखर रौद्रमें पृथ्वीसे ज्वाला निकल रही थी। विन्ध्याचल पहाड़ीसे लू निकल रही थी। वृक्षोंके नीचे गायें झुण्डकी-झुण्ड खड़ी हाँफ रही थीं, जहाँ-तहाँ चरवाहे अँगोछा बिछाये पेड़ोंकी छायामें लेटे हुए थे। मनोरमा बासन माँज-धोकर बैठी हुई धीरे-धीरे उन्हें कपड़ेसे पोंछ रही है। इतनेमें उसकी बाल्य-सखी जहाँनारा आ गयी; हँसकर बोली—"क्यों मानू, क्या हो रहा है?"

नासिरअलीकी लड़की जहाँनारा मनोरमाकी ही समौरिया है। आज इस अनादृताका रूप-यौवन मेघच्छायान्धकारसे मसिमय हो गया है; किन्तु एक दिन सौन्दर्यके प्रभावसे ही इस हतभागिनीने अहंकृत धनी घरके बहू-रूप आजीवन-व्यापी महादुःखको खरीद लिया था। आज भी उसका मेघाच्छादित चन्द्रमाकी भाँति प्रकाशमय सौन्दर्य दर्शकोंके लिए सौन्दर्यका उदाहरण है। सौन्दर्यमें मनोरमा और जहाँनारा सगी बहन-सी मालूम होती हैं। चन्द्रमाके सदृश स्निग्ध, लताके समान कोमल,

स्थिर विद्युत्-रेखाकी भाँति उज्ज्वल-दर्शना यह युवती वास्तवमें विधाताकी सृजन-कलाकी गौरव बढ़ानेवाली अपूर्व वस्तु है।

मनोरमाने हँसकर कहा—"अभी आती हूँ नूरी, इधर दो-तीन दिनसे आयी क्यों नहीं ?"

"छोटी माँकी तबीयत ठीक नहीं थी, खाँसी और बुखार हो गया था, इसी झंझटसे नहीं आ सकी। हाँ मानू ! सुनती हूँ तेरे ससुर मर गये ?"

"हाँ भाई।"

"तब तो शायद स्वर्गकी परी शाप-मुक्त हो स्वर्गमें जायगी।"

मनोरमाने इस कांक्षित परिहाससे सिर नीचा कर लिया और लज्जा-युक्त मुस्कराहटसे जरा-सा सिर ऊँचा करके कहा—"कौन जाने।"

बात कहते-कहते मनोरमाका कण्ठ काँप उठा। कई दिनोंसे सब लोग इसी चिन्तामें डूबे हुए थे। सुशील जब मदरसेसे पढ़कर आता, तब जगन बालकके दोनों हाथ पकड़कर आह्लादित होकर उसके गालोंपर धीरे-धीरे ठोंकता हुआ कहने लगता—"अबकी दाई जब हमरे भैया अपने घर जइहैं तब हमहूँ साथै चलबै। कहो भैया, हमैं ले चलिहो न ? वहाँ चलके बाबूजीकी टमटम हँकबै। अच्छा भैया अबकी घर जायके हमैं भूल तो न जइहौ ?"

अभी सुशील बहुत ही छोटा और बिलकुल अबोध बालक था। पिताके घरका सुख-सौभाग्य विशेषकर जगनके कहते-कहते थोड़ा-बहुत जानने लगा था। बालक सुशील बाल-स्वभावानुसार ही ये बातें सुनकर आनन्दित हो कुछ सोचने लगता था। मनोरमाके कानोंमें जब यह शब्द पड़ता, तब वह भी प्रफुल्लित-सी हो उठती थी। पर बुद्धिमती सुभद्राको विश्वास नहीं होता था कि मनोरमाके पतिदेव इसे अपने घर ले जायँगे। जिस समय समधीकी मृत्युका हाल उसने दूसरेसे सुना, दामादने तेरहीपर निमंत्रण भी नहीं भेजा, उसी समय सुभद्रा समझ गयी थी कि पुत्र भी पिताके मार्गका अनुसरण करेगा। उसने पिताकी आज्ञासे ही पत्नीका

त्याग किया है; पिताकी अनुपस्थितिमें भी वह परित्यक्ताको ग्रहण न करेगा—यह बात एक प्रकारसे सुभद्राके दिलमें दृढ़ हो गयी थी। उसके हृदयमें जामाताके प्रति अश्रद्धा-सी उत्पन्न हो गयी थी। माताका नैराश्य-पूर्ण मुख देखकर मनोरमाकी भी आशालता मुरझा गयी थी। इतनेमें सुभद्राने ठंढी साँस लेकर कहा—"यह आशा वृथा है री! ऐसा भाग्य कहाँ!"

सखीके प्रश्नका मनोरमाने जो अर्द्ध-अविश्वास-पूर्ण उत्तर दिया था, उसका कारण यह था कि मनोरमाको बहुत-कुछ स्वामीके स्नेहपर विश्वास था। पिताको मरे एक मास हो गया था, किसीने जब कुछ सुध नहीं ली और माताने भी निराशा-पूर्ण बातें कहीं, तब मनोरमाको अविश्वास हो गया।

जहाँनारा प्रखर बुद्धि-शालिनी थी; निराशा-जनक बातें सुनकर उसका दिल दहल उठा। किन्तु उसने उसे छिपाया और पूर्ववत् फिर धीरेसे पूछा—"सुशीलके पिता आये थे, मानू?"

मनोरमा उत्तर देनेमें सङ्कोच करने लगी। वह समझती थी कि कहीं माँ सुन न ले। पर माँ चली गयी थी। जहाँनाराने फिर धीरेसे खोदकर कहा 'बोल ना।' मनोरमाने अवसर पाकर कहा—"नहीं भाई, अभीतक तो नहीं आये। मालूम होता है, काम-काजकी भीड़से आनेकी फुरसत नहीं मिली।"

"चिट्ठी-पत्री कुछ लिखा था?"

"न्ना"!

"न्ना" सुनकर जहाँनाराका सदा-हास्य-विमंडित पद्म-मुख कुम्हिला गया। आकस्मिक विस्मयके संशयसे स्तम्भित होकर सखीकी ओर उसने एक दृष्टि फेंकी और सिर नीचे कर लिया।

मनोरमा बड़ी ही सरल कन्या थी। इतनी कठिन मानसिक वेदना होते हुए भी उसका मुँह सदा हँसता-सा दिखता था। उसने बाल्य-सखीके सुस्पष्ट सन्देहको दूर करनेके लिए सहानुभूति-जटित मीठे शब्दोंमें कहा—

"तेरी ये बातें मुझे तो हमेशा याद आती रहेंगी नूरी, पर तू मुझे क्योंकर याद करेगी ? अभीतक तो एक ही बार तेरा साथ कुछ दिनोंके लिए छूटा था। वही ब्याहके बाद। पर अब मेरे जानेपर देखूँ फिर कब मुलाकात होती है।"

जहाँनाराने मनोरमाका भाव ताड़कर कहा—"अच्छा हो, तू जा यहाँसे, मुझे भेंट करनेकी इच्छा नहीं है। पर हाँ मानू, यह तो बता कि कभी-कभी चिट्ठी द्वारा मुझे याद तो करती रहेगी न ?"

मनोरमाने हँसकर कहा—"जब मैं तुझे इतनी अप्रिय हो गयी हूँ, तो मेरी चिट्ठी लेकर तू क्या करेगी ?"

"अरे नहीं भाई, तू और अप्रिय ! हाँ मानू, एक बात याद आ गयी। किसी विद्वानने कहा है कि विच्छेदमें ही प्रेमकी परिणति होती है। मैं समझती हूँ इस बारके विच्छेदसे हमलोगोंका प्रेम सोनेकी तरह और भी चमक उठेगा;—सुशील ! तुम आज इसी वक्त कैसे आ गये ?"

पटिया और दो-तीन पुस्तकें बगलमें दबाये हुए सात वर्षका एक बालक पावोंमें धूल लपेटे घरमें आ गया। देखनेमें वह बड़ा सुन्दर है। गौर वर्ण, सुन्दर केश खूबसूरत नन्हा-सा मुँह बड़ा भला मालूम होता है। विशाल आँखोंसे चेहरेकी शोभा बहुत बढ़ गयी है। जान पड़ता है, ऐसा सुन्दर बालक संसारमें दूसरा है ही नहीं। बालकने पटिया और किताबें एक जगह रख दीं। माँकी गोदमें बैठते हुए उत्तर दिया—"छुट्टी हो गयी।"

"अच्छा,—आज शनिवार है न। हमीद भी तो आ गया होगा। सुशील, जब तुम्हारे बाबूजी तुम्हें अपने घर ले जायँगे, तब तुम हमीदको चिट्ठी लिखना।"

"क्या बाबूजी आये हैं मौसी ?"

"नहीं, अभी तो नहीं आये हैं,—पर शीघ्र ही आनेवाले हैं।"

"बाबूजी कब आवेंगे ?" यह कहता हुआ बालक माताका हाथ छुड़ा जहाँनाराके पास चला गया। माँने मुँह फेरकर धीरेसे कहा—"कितना गर्दा लपेट रखा है सुशील ! आ, जरा कपड़ेसे पोंछ दूँ।"

"ठहरो"—कहकर सुशील मातृ-सखीके मुँहकी ओर बड़े आग्रहकी दृष्टिसे देखने लगा। पूछा,—"हाँ, बोलो मौसी! बाबूजी कब आवेंगे?"

पितृ-स्नेहसे वंचित बालकके मुँहपर व्यग्रता-पूर्ण पितृ-मिलनकी उत्कट अभिलाषा देखकर जहाँनाराको बहुत ही दुःख हुआ! मन-ही-मन सोचने लगी,—"क्या जानें, वह निष्ठुर पिता कदाचित् नहीं ही आवे। ना, ना—ऐसा क्या कभी हो सकता है? आवेंगे जरूर! मानू-जैसी देवीकी एकाग्र साधनाका क्या कुछ मूल्य ही नहीं? भला इस निर्दोष बालकको खुद किस लिए इस दुःखमय अवस्थामें रखेगा? इन्सान बेरहमी कर सकता है, मगर वह नहीं कर सकता।" यही सब सोचती हुई ऊपरसे बालकके बिखरे हुए घुँघराले बालोंको उसके मुँहपरसे समेटने लगी। बालकका प्रेम-स्वरूप सुन्दर और कोमल मुख देखती हुई जहाँनारा बोली,—"कब आवेंगे, सो तो मालूम नहीं सुशील! मगर मेरा ख्याल है कि यही आज ही कलमें वह आवेंगे। तुम अपने बाबूजीके पास जाकर हमें भूल तो न जाओगे बेटा सुशील।"

"नहीं, मैं तुम्हें कभी न भूलूँगा,—देखना, रोजाना एक चिट्ठी लिखूँगा।"

"रोज न लिख सकना तो अँतरे दिन लिखा करना।"

"जरूर लिखूँगा।—हाँ माँ! हमलोग कब चलेंगे? जाऊँ नानीजीसे कह आऊँ।"

यह कहकर सुशील उत्साह-भरी छलाँगें मारता हुआ रेलकी भाँति सीटी देता नानीके पास चला गया। अकस्मात् मनोरमाकी हृदय-सलिलामें विरुद्ध वायुके आघातसे चञ्चलता आ गयी। माताका नाम सुनते ही उसके अधरोंपर स्थित मृदु हास्य-बिन्दु मेघाच्छन्न हो गया। उसने चौंककर जरा जोरसे आवाज दी—"सुशील! सुन रे सुन!"

तबतक सुशील बहुत दूर पहुँच गया था। ऊपर सीढ़ीपर चढ़नेके साथ-साथ, 'नानीजी! नानीजी!' शब्दकी ऊँची पुकार सुनायी पड़ी।

५

मनोरमा हमेशा माँका मुँह जोहा करती थी। उसे भय लगा रहता था कि कहीं मेरे किसी व्यवहारसे माँ रूठ न जाय। कभी-कभी सुभद्रा छोटी-छोटी बातोंपर ही मनोरमापर रुष्ट हो जाया करती थी। आज जिस समय मनोरमा सुशीलको जलपान लेकर शंकित चित्तसे माँके समीप गयी, उस समय सुभद्राने बच्चेके जलपानकी कटोरी मनोरमाके हाथसे लेकर प्रसन्नतापूर्वक कहा,—"हलुआ तैयार कर लायी है? अच्छा किया। ऐसी-वैसी चीजें तो इसे अच्छी नहीं लगतीं, न बनानेसे और खाता ही क्या! औरोंके लड़कोंकी तरह तो यह है नहीं कि जो कुछ रूखा-सूखा पावे खुशीसे खा पी ले। अरे भाई, नतिहर बड़े आदमीके नाती हैं न! ले—हाथ-मुँह धोकर इसे खा ले सुशील।"

सुशीलका मन इस समय खानेके ऊपर नहीं था। वह रंगीन खिलौना लेकर गौरसे देख रहा था। उसने खानेसे अनिच्छा प्रकट की; कहा—"अभी जरा ठहरकर खाऊँगा। पहले मैं अपनी चीज-वस्तु ठीक कर लूँ। नानीजी! तुम हमारी सन्दूक वगैरह ठीकसे सजाकर रख दो न? माँ! मेरे कपड़े यहीं ला दे तो।"

सुभद्राने पासमें बैठी हुई पड़ोसिनसे कहा—"देखती हो बहन! इतने दिनोंतक सेवा करके सयाना करनेका यह फल है। न-जाने किस तरहके लड़के इस जमानेमें होते जा रहे हैं।"

पड़ोसिनने सहानुभूतिके साथ कहा—"ठीक बात है बहन! कहावत है 'बिटियौ बंस कोडरियौ बाम्हन।' लड़कीके लड़के तो बस सेवा कराना जानते हैं। जहाँ जरा होशियार हुए, तहाँ नौ-दो ग्यारह।" यह कहकर पड़ोसिन अपनी बातपर आप ही विह्वल हो उठी, पर और कोई न हँसा।

सुशील प्रसन्नताके मारे बाहर चला आया। मनोरमा भी एक बहानेसे बाहर आ गयी। सुशीलको देखकर उसने कहा,—"यह कैसा पाजी लड़का हुआ जाता है! मैं तो परेशान हो गयी इस लड़केसे।"

सुशीलने माँकी बातपर ध्यान नहीं दिया। वह उस समय अहातेके भीतर एक आमके पेड़के नीचे खड़ा हो पेड़पर बैठी हुई कोयलकी आवाजमें अपनी आवाज मिला रहा था—"कू-हू, कु-हू ! हमारे बाबूजी आवेंगे री आवेंगे। मैं जब चला जाऊँगा, तब तू किसे 'कू-कू-कू' करके पुकारेगी, बोल तो देखें कलूटी ?" मनोरमा बड़े उद्वेगसे सुशीलपर नाराज होनेके लिए आयी थी; पर बालकका कौतूहल देखकर उसका गला भर आया। खड़ी-खड़ी जमीनकी ओर देखती हुई पाँवोंके नाखूनसे मिट्टी खोदने लगी।

इतनेमें मधुर कण्ठसे 'माँ' सम्बोधन करता हुआ बालक सुशील आकर मनोरमाकी कमर पकड़कर लटक गया। स्नेहमयी जननी बालकके प्रेममें विभोर हो गयी; झटसे गोदमें उठाकर चुम्बन करती हुई घरमें चली गयी।

इस तरह प्रतीक्षामें वह दिन बीत गया। सबेरे सुभद्रा कुशासनपर बैठी पूजा कर रही थी। मनोरमा सुशीलको नहलाकर कपड़ा पहना रही थी। माँ-बेटेमें बातें हो रही थीं।

पुत्रने प्रश्न किया—"आज कई दिनोंसे चर्चा हो रही है—बाबूजी कब आवेंगे माँ ? इतनी देर क्यों कर रहे हैं ?"

माँने धीरेसे पुत्रका मुँह दबाकर कहा—"आवेंगे क्या रे पागल, चुप रह न।"

सुशील और भी दूने उत्साहसे पूछने लगा—"कब आवेंगे माँ ! बोल ?"

माँने हँसकर धीरेसे कहा—"दो-एक दिनमें आवेंगे। उन्हें काम-काजकी झंझटसे आनेके लिए समय न मिलता होगा, अकेले हैं न ! अच्छा, उनके आनेपर तू उन्हें क्या कहकर पुकारेगा रे सुशील ?"

"मैं"—कहकर सुशील थोड़ी देरतक चुप रहा। क्योंकि इस सम्बन्धमें उसने पहलेसे कुछ नहीं स्थिर किया था, और न माँने कुछ उपदेश ही दिया था। पर शीघ्र ही धीरेसे बोल उठा—"बाबूजी कहूँगा।"

मनोरमाने मुस्कराकर पुत्रका माथा चुम्बन करते हुए कहा—"उन्हें देखकर तू शर्म तो नहीं करेगा न सुशील? नजदीक जाकर प्रणाम करना, भला!"

"अच्छा।"

"अच्छा, अगर वह तुमसे नाम पूछेंगे तो?"

"मैं अपना नाम बतला दूँगा।"

"अपना नाम क्या बतलाओगे, बोलो तो देखें?"

"बोलूँगा? बोलूँगा—मेरा नाम श्री सुशीलकुमार त्रिपाठी। बापका नाम श्रीयुत पं० राजेन्द्रप्रसाद त्रिपाठी महाशय। बाबाका नाम—"

मनोरमा खिलखिलाकर हँस पड़ी। कहने लगी—"यह सब बोलनेकी जरूरत नहीं है, सिर्फ तू अपना नाम बता देना। अच्छा और क्या कहेगा?"

"और क्या कहूँगा? कहूँगा—माँका नाम श्रीमती मनोरमा देवी और नानीका नाम श्रीमती नानीजी—हाँ माँ, नानीजीका नाम क्या है?"

"दुत् पागल कहींका! यह सब कहनेकी क्या जरूरत है रे!"

"तो फिर कहूँगा—बाबूजी मुझे कहाँ ले चलोगे? क्यों?"

मनोरमा पुत्रके इस लालायित भावको देखकर थोड़ी देरतक किसी गहरी चिन्तामें निमग्न हो गयी। बाद बोली—"नहीं, यह बात न पूछना। जहाँ वह ले जायँगे, वहाँ साथ चले जाना, पूछनेकी क्या जरूरत है। हाँ तुझे वह श्लोक याद है न सुशील?"

"कौन? ओः! "पिता स्वर्गः पिता धर्मः पिताहि परमं तपः—पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्व देवता"—यही न?"

"हाँ, हाँ, यही। तू तो हमारा पुर्खा है सुशील।"

"हूँ—तुम्हींने तो सिखलाया था।"

६

वैशाखका महीना था। मिर्जापुरमें जोरसे प्लेगकी बीमारी फैली थी। शहरमें चारों तरफ सन्नाटा छाया हुआ था। मिर्जापुर-निवासी शहर छोड़कर जहाँ-तहाँ काल-क्षेप कर रहे थे। सुभद्रा भी अपना घर-द्वार छोड़ विन्ध्याचल स्टेशनके पास मँड़ई लगाकर अपने पड़ोसियों-सहित जा बसी थी। सुभद्राकी मँड़ईके सामने ही एक बहुत बड़ा बरगदका पेड़ था। पेड़के नीचे मिट्टीका चबूतरा बना हुआ था। पासहीमें एक अच्छा गचदार कूप था। इस कुएँका पानी बहुत ही ठण्डा रहता था। स्टेशनपर जानेवाले मुसाफिर बहुधा इसी कुएँपर छायामें बैठकर पानी पीते और विश्राम करते थे।

एक दिन सन्ध्या समय छः बजेके करीब भगवतीके मन्दिरमें दीपक जलाकर मनोरमा सुशीलका पाठ सुननेके लिए चबूतरेपर बरगदके नीचे बैठी हुई थी। उस समय पृथ्वी वायु-शून्य थी—घरमें बैठा नहीं जाता था। जहाँ मनोरमा बैठी हुई थी, वह कुछ ऐसी जगह थी, जहाँ पड़ोसियोंसे लज्जा निवारण की जा सकती थी।

सुशीलने आकर कहा—“माँ! देखो तो, पाठ कण्ठ हो गया कि नहीं—यह लो, किताबमें देखो—

कबहु न गुणको छोड़िये, जदपि नीच पै होय।
पड़ो अपावन ठौरमें, कञ्चन तजत न कोय॥

“हाँ, माँ! मुझे जो तुमने उपमा-उपमेय और विशेषण-विशेष्य समझा दिया था न, वह भी मैंने याद कर लिया है।”

इतनेमें बटोहियोंका एक गिरोह कुएँकी जगतके पास आ गया। बालक सुशील खड़े-खड़े जन-समूहको देख रहा था। शतरंजी बिछ गयी, लोग आरामसे उसपर तकियोंके सहारे बैठ गये; मनोरमा भी किसी आवश्यक कामसे घरमें चली गयी। सुशीलको शतरंजीका रंग बहुत अच्छा मालूम हुआ। वह दौड़कर माँके पास आया और कहने लगा—

"माँ, देखो एक वैसी ही छोटी-सी शतरंजी मुझे मँगा दो।"

मनोरमाने कहा—"अच्छा।"

सुशीलने कहा—"तुमने देखा तो नहीं, कह दिया अच्छा। जरा उसे देख लो, माँ!"

मनोरमा किसी पर-पुरुषकी ओर ताकती नहीं थी। और स्त्रियोंकी भाँति घरमें लुक-छिपकर किसी पुरुष को देखना भी उसके स्वभाव-विरुद्ध था। इसीसे आज वह सुशीलकी बातोंको टालना चाहती थी। पर बाल-हठके सामने उसकी एक न चली। विवश हो मनोरमाको देखनेके लिए दरवाजेके पास जाना ही पड़ा।

कौन जानता था कि इस समूहमें मनोरमाको मूर्च्छित करनेकी जड़ी है? कौन जानता था कि उसके जीवन-प्राण हैं, या उसके हृदय-रूपी चकमकमें अग्नि उत्पन्न करनेवाला सूर्य है? ताकते ही मनोरमा अवाक् हो गयी। एक बार निश्चयात्मक दृष्टिसे उसने फिर देखा। अबकी वह मूर्च्छित होकर जमीनपर गिर पड़ी। बदन पसीनेसे तर हो गया। बालक सुशील किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहा। उसका कमलके फूल-सा विकसित चेहरा एक क्षणमें ही कुम्हिला गया। थोडी देरमें मनोरमाको होश हुआ। सँभलकर उठ बैठी। बालकको यह रहस्य कुछ भी मालूम नहीं हुआ। "आओ बेटा घरमें चलें, तबीयत ठीक नहीं" कहकर मनोरमा घरमें चली गयी। बालक भी उदास होकर माँके साथ भीतर चला गया। सुभद्राको ये बातें कुछ भी मालूम नहीं। वह स्वभावतः ही दरवाजेपर आकर रोजकी तरह खड़ी हो गयी। जन-समूहकी ओर नजर पड़ते ही झटसे भीतर चली आयी। "सुशील, ओ सुशील! मानू!" कहती हुई घरमें देखने लगी।

"जी" कहता हुआ सुशील नानीके पास आ गया। सुभद्रा बच्चेको दरवाजेके पास ले गयी और बाहर बैठे हुए आदमीको बुलानेके लिए यत्न सोचने लगी। उसे रह-रहकर सन्देह होता था कि कहीं ऐसा न हो कि वह न आवे। सुभद्राकी छाती धक-धक करने लगी। बालक सुशील भी

इस अद्भुत रहस्यको देखकर ाबदम सुस्त हो गया। इतनेमें जगन दिखाई पड़ा। आज सुभद्राको एक ऐसे आदमीके सामने होना पड़ेगा, जिसके सामने होना समाजकी दृष्टिसे लज्जाकी बात है। फिर भी उसने अपना विचार स्थिर कर लिया कि विपत्ति-कालमें लज्जा करना ठीक नहीं; उन्हें बुलाती हूँ, उनके मनका भाव तो मालूम हो जायगा।

जगनको बुलाकर सुभद्राने कहा—"देखो, पूरब तरफ गोरेसे थोड़ी उम्रके जो बैठे हैं उन्हें बुला लाओ। कहो कि आपको भीतर एक बुढ़िया बुला रही है।"

जगनको भी यह भेद बिलकुल नहीं मालूम हुआ। 'बहुत अच्छा' कहकर वह बुलानेके लिए चला गया। सुभद्रा भी सुशीलका हाथ पकड़कर घरमें चली गयी और सहूलियतके साथ एक जगह बैठ रही।

मनोरमाके हृदयकी इस समय क्या गति हो रही है, कहा नहीं जा सकता। सोच रही है—"चलूँ एक बार नजरभर देख तो लूँ। नहीं नहीं, कोई मुझे देख लेगा तो ठीक न होगा। ऊँहू, बलासे कोई देख लेगा। मैं उन्मादिनी हूँ, राक्षसी हूँ, मेरा कोई क्या करेगा?" इस प्रकार मानसके द्वन्द-युद्धमें मनोरमा निमग्न थी। इतनेमें सुभद्राने जाकर कहा—"क्यों री मानू, देख मैंने जो कहा था वही हुआ न?"

"क्या?"

"बाहर कौन आया है, मालूम है?"

मनोरमाकी आँखोंसे अश्रु-धारा बहने लगी। कहा—"मालूम है। हाँ, सो क्या हुआ?"

"मैंने जगनको बुलानेके लिए उनके पास भेजा था। उन्होंने इसे पहचान लिया। इसने जाकर कहा कि आपको घरमें माँजी बुला रही हैं। उन्होंने पूछा—'तुम यहाँ कैसे?' जगनने कहा, प्लेगकी वजहसे सबलोग यहींपर आये हुए हैं। इतना सुनते ही वह नौकरोंसे बिछौना वगैरह उठानेके लिए कहकर आप स्टेशन चले गये।"

मनोरमाकी छाती धड़कने लगी। सुभद्रा भी सुशीलको लेकर आँगनमें

चली गयी। मनोरमाने स्टेशनतक जाकर भेंट करनेका निश्चय कर लिया। थोड़ी देरमें धीरेसे उठी और घरके बाहर आकर खड़ी हो गयी। सोचने लगी, "कहीं मेरे जानेसे स्वामीकी पितृ-भक्तिमें कोई विघ्न न पड़ जाय।" फिर सोचती, "इसमें विघ्न क्या है, मैं चुपकेसे पासमें जाकर उनकी चरण-रेणुका माथे लगाकर चली आऊँगी। पर कहीं माँ मुझे जाते देख न ले।"

मनोरमाने देखा, मँड़ईके पिछवाड़े सुभद्रा सुशीलको लेकर ययाति और परशुरामकी कहानी सुना रही है। उसने अपना मुँह उधरसे फेर लिया और चुपकेसे घर वापस चली आयी।

लोक-लज्जा और जीवन-संस्कारने मनोरमाको पतिदेवका दर्शन न करने दिया। उसके दिलमें बारबार स्टेशनतक जानेकी इच्छा उत्पन्न होती थी, पर साहस न होता था। इतनेमें अचानक थोड़ी दूरपर एक घरसे रोनेकी आवाज आयी। मनोरमाको अपना दुःख भूल गया। रुदन शब्दके आधारपर वह उसी ओर तेजीसे आगे बढ़ी। जिस घरमें रुलाई हो रही थी, उस घरमें पहुँचकर उसने देखा कि एक बीस वर्षके युवकको प्लेगकी गिल्टी निकली हुई है और उसके घरके सबलोग आँगनमें बैठकर रो रहे हैं। रोगीके पास कोई पानी देनेवाला भी नहीं है। रोगी प्यासके मारे व्याकुल हो रहा है। भयके मारे कोई उसके पास नहीं जाता था। मनो-रमा यह दृश्य देखकर सोचने लगी कि मानव-जातिमें कितना स्वार्थ भरा हुआ है! अपनी जान बचानेके लिए ही ये सब रोगीके पास नहीं जा रहे हैं!

मनोरमाने रोगीके पास जाकर उसे जल पिलाया और साधारण दवाइयाँ जो कुछ उसके पास थीं, करने लगी। ईश्वरकी कृपासे रोगीको कुछ आराम होने लगा। मनोरमा भी अपने घर वापस चली आयी।

वापस आते ही वह फिर पति-चिन्तामें निमग्न हो गयी। इधर घरमें सुभद्रा बैठी-बैठी मनोरमापर नाराज हो रही थी। उसे देखते ही सुभद्राने कहा,—"मानू, तुझमें कुछ भी हया नहीं है? क्या लोक-लज्जाको तू एकदम ही घोटकर पी गयी? इतनी देरतक कहाँ थी?"

मनोरमाने धीरेसे उत्तर दिया—एक आदमी बीमार था, उसको देखने गयी थी।

सुभद्रा—पर तुझे मालूम है कि तेरे प्रति लोगोंकी कैसी कुदृष्टि हो रही है?

इतना सुनते ही मनोरमाकी आँखोंसे टपाटप आँसूकी बूँदे टपकने लगीं। सुभद्राने फिर कुछ न कहा।

७

राजेन्द्रप्रसाद अपनी मित्र-मंडलीके साथ एक बारातमें गये थे। बरगदके नीचे छाया देखकर आराम करनेके लिए मित्र-मंडली-सहित बैठ गये। गाड़ीमें कई घण्टेकी देर थी। वहाँका कुछ और ही काण्ड देखकर चुपचाप वहाँसे चल पड़े। यह भेद मित्र-मंडलीको भी उन्होंने बिलकुल मालूम नहीं होने दिया। एक साथीने पूछा भी तो उन्होंने यही कहा कि कुछ आर्थिक सहायताके लिए यह बुढ़िया बुला रही थी, एकबार यह घरपर भी गयी थी। इसी तरहकी कुछ बात जोड़कर उन्होंने मित्रोंका सन्देह दूर कर दिया और गाड़ीपर सवार हो बनारस चले आये।

जिस समय राजेन्द्रप्रसाद घर पहुँचे, उस समय आधी रात बीत चुकी थी। शहरमें सन्नाटा छाया हुआ था। सड़कोंपर जहाँ-तहाँ पहरे-वालोंके सिवा और कोई भी दिखाई नहीं पड़ता था। हाँ, जहाँ-तहाँ शराबी या कोकिनखोर अवश्य भागते नजर आ रहे थे। एक आदमी पुलिस-सिपाहीको देखकर अपनी रक्षा करनेके लिए "भजु मन राम-चरन दिन राती" गाता हुआ चला जा रहा था।

ड्योढ़ीदार नन्हकूसिंह स्वामीकी प्रतीक्षामें फाटक बन्द करके बैठा हुआ तुलसीकृत रामायण गाकर पढ़ रहा था। "नन्हकूसिंह" आवाज

सुनते ही उठकर उसने दरवाजा खोल दिया। स्वामीको देखते ही दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

स्वामीने पूछा—"सबलोग अच्छे हैं न नन्हकूसिंह ?"

नन्हकू—"जी हाँ, हुजूर। सबलोग अच्छे हैं, माँजीकी तबीयत कुछ खराब हो गयी थी।"

राजेन्द्र—"माँकी ? क्या हुआ है ?"

नन्हकू—"हुआ ऐसा कुछ नहीं है। सुना था कि उनका शरीर दुखता था और कुछ ज्वर भी हो गया था।"

"ओ—मातासरन, जाकर ऊपर देखो तो माँ सोयी हुई हैं या नहीं। सुनो—अगर सो गयी हों तो जगाना मत।"

मातासरन खबर लेनेके लिए ऊपर चला गया। नन्हकूसिंह लालटेन लेकर बैठकके दरवाजे खोलने लगा। राजेन्द्र बैठकमें जाकर एक आराम कुर्सीपर बैठ गये।

इतनेमें मातासरनने आकर कहा—"माँजी सो गयी हैं। बहन बैठी हुई आपकी राह देख रही हैं। उन्होंने कहा है कि—कोई वैसी तबीयत खराब नहीं है।"

राजेन्द्र—"अच्छा तुम एक बार ऊपर जाओ और बहनसे कह आओ कि मैं इस वक्त कुछ न खाऊँगा। बारहदरीमेंसे सूती गलीचा और तकिया ला दो, मैं यहींपर सोऊँगा।"

मातासरन स्तब्ध हो गया। कहा—"भैया, न खानेसे तबीयत खराब हो जायगी। रास्तेकी तकलीफ बिना खाये कैसे दूर होगी।"

राजेन्द्र—"नहीं, इस वक्त खानेकी बिलकुल इच्छा नहीं है। तुम जल्दी जाकर बहनसे कह दो, नहीं तो वे नाराज होंगी।"

नौकर—"यहाँपर मच्छरोंसे बड़ा कष्ट होगा। आपका यहाँ सोना ठीक नहीं।"

राजेन्द्र—"नहीं भाई, जोरोंसे हवा चल रही है, मच्छर टिक न करेंगे। तुम गलीचा ला दो।"

नौकर—"तो फिर ऊपरसे मखमली गलीचा ला दूँ। इस गलीचेपर आपको नींद न आवेगी।"

राजेन्द्र—"आवेगी। मैं जो कहता हूँ वह करो न, व्यर्थ बकवाद न करो।"

इस तिरस्कारसे मातासरनने गोझेकी तरह मुँह फुलाकर बगलके कमरेसे गलीचा और तकिया ला दिया। कहा—"मैं अच्छेके लिए कहता था। गर्मीका दिन है, रातकी बेला नीचे सोना ठीक नहीं। माँजी सुनेंगी तो मुझपर नाराज होंगी। कहेंगी, क्या तू नया नौकर था?"

बिछौना बिछाकर मातासरन खबर देनेके लिए ऊपर चला गया। पर भामाके पास न जाकर बीचसे ही लौट आया और बोला—"बहन मुझपर झुँझला रही हैं। कहती हैं कि तू बुला दे ना, खायँगे या न खायँगे, मैं यहाँ पूछ लूँगी।"

आलस्यके मारे आँख मूँदे ही राजेन्द्रने कहा—"कहो, मैं थक गया हूँ ऊपर नहीं आ सकता, जोरोंकी नींद आ रही है। अब मुझे अधिक न जगावें, नहीं तो मैं बीमार पड़ जाऊँगा।"

"बहन जो सुनती नहीं हैं भैया, मैं क्या करूँगा। भैयाने कभी मुसीबत तो झेली नहीं, आज पिलेटफारमपर घूमते-घूमते शरीर चूर हो गया है। मैं तो जानता हूँ न।" यह कहकर मातासरन ऊपर चला गया और बहनसे भैयाके न खानेका हाल कहकर नीचे वापस आ गया।

भामाने राजेन्द्रको थका हुआ समझकर फिर जगानेके लिए नहीं कहा और न आप ही भाईके पास गयी।

राजेन्द्रने कहा—"सामनेकी खिड़की जरा बन्द कर देना मातासरन।"

मातासरनने स्वामीके आज्ञानुसार खिड़की बन्द कर दी। कमरेके बाहर चबूतरेपर अँगोछीसे झाड़कर मातासरनने भी अपने एक हाथको तो तकिया बनाया और दूसरे हाथसे पंखेका काम लेता हुआ पड़ रहा।

राजेन्द्र बाबू सो गये या जागते हैं, यह बात जानी नहीं जा सकती

थी। रह-रहकर राजेन्द्र हृदय-भेदी दीर्घ निःश्वास छोड़ रहे थे। जान पड़ता था जैसे कोई अकसरुआ दुखिया निस्तब्ध रात्रिमें व्यथाके कारण ऊँची साँस ले रहा है। कमरेके बाहर सोया हुआ पुराना नौकर मातासरन भी नींद छोड़कर चौंक पड़ा। वही आवाज सुनाई पड़ी। मन-ही-मन सीताराम, सीताराम जपने लगा। फिर उसे नींद नहीं आयी।

भोर होते ही तीन-चार गाड़ियाँ फाटकके सामने आकर खड़ी हो गयीं। गाड़ियाँ राजेन्द्र बाबूके पड़ोसियोंकी थीं। साईसोंने गाड़ियोंके दरवाजे खोले। आत्मीय-मंडली गाड़ीसे उतरकर बैठकमें आ विराजी। राजेन्द्र भी सोये तो थे नहीं, गाड़ियोंकी आवाज सुनाई पड़ते ही उठ बैठे। आज महाशय सदानन्दका मासिक श्राद्ध-दिवस था। हृदय-कातर राजेन्द्र सिर नीचे करके उत्तरकी ओर देखने लगे। उनकी आँखोंसे अश्रु-पात होने लगा। कुटुम्बियोंने समझा, आज राजेन्द्रको पिताकी याद आयी है, इसीसे वह दुखी हैं। लोग समझाने-बुझाने लगे, पर राजेन्द्रके नेत्रोंका अश्रु-प्रवाह बराबर जोर ही पकड़ता गया। किसीको भी राजेन्द्रकी वास्तविक वेदनाका हाल नहीं मालूम हुआ।

थोड़ी देरमें राजेन्द्र अपनेको सँभालकर उठे और ठण्ढी साँस भरकर श्राद्धकी सामग्री आदि जुटानेके लिए नौकरोंको सहेजने लगे।

इधर घरमें कुटुम्बके बच्चोंको कलेवा देनेके लिए चन्द्रकला जब भण्डारमें गयी तो उसने एक टोकरीमें लाचीदाना, रोली, रक्षा आदि चीजें देखीं। भण्डारकी मालकिन ठकुराइनसे पूछा कि यह सामान कहाँ-से आया है ठकुराइन?

ठकुरा०—"भैया लाये हैं। विन्ध्यक्षेत्र गये थे।"

भामा भण्डार-घरके पास ही खड़ी थी। इतना सुनकर वह भी भण्डार-घरमें चली आयी और कहने लगी—"लाचीदानेकी टोकरीका क्या हुआ बहू?"

चन्द्रकलाने कुछ भी उत्तर न दिया। उसके बदले ठकुराइनने कहा कि कुछ हुआ नहीं। बहू जी यों ही पूछ रही थीं कि ये चीजें कहाँसे आयी हैं?

भामाने कहा—"देवीका प्रसाद कभी देखा नहीं था क्या, जो पूछनेकी जरूरत हुई ?"

ननँदकी यह तिरस्कार-पूर्ण बात सुनकर क्रुद्धा चन्द्रकलाने कहा—"देखा क्यों नहीं है, लाखों बार देखा है, पर यह पूछकर मैंने कसूर क्या किया ?"

भामा—क्या नहीं मालूम था कि राजो बारातमें गये थे, रास्तेमें देवीका मन्दिर पड़ता है, उन्हें छोड़कर और कौन प्रसाद लाता ?"

चन्द्र०—"कहीं जाते समय कोई मुझसे कहकर जाता तो मैं भी जानती। कौन कहाँ जा रहा है, मुझे क्या मालूम ? मुझे नहीं मालूम था कि मेरा पूछना भी लोगोंको बुरा लगेगा, नहीं तो मैं पूछती ही क्यों ?"

भामा—"क्या मिर्जापुरके पास देवीका मन्दिर होनेसे उनका प्रसाद भी दूषित हो गया ?"

इतना सुनते ही चन्द्रकलाका मुँह लाल हो गया। आँखें बिजलीकी तरह चमकने लगीं। पर भामाने चन्द्रकलाके मुँहकी ओर एक बार भी नहीं ताका। ताकनेसे होता ही क्या ? इस तरहकी बातें तो रोजाना ही होती रहती थीं। नव-वधू चन्द्रकला जिस समय पहले-पहल घरमें आयी, उसी दिन भामा पेटके दर्दके बहाने लेटी हुई थी। शुभ-मुहूर्त्तमें उसने चन्द्रकलाका मुँह देखा ही नहीं। किसीने आकर यदि कुछ कहा भी, तो भामाने यही उत्तर दिया कि, "मैं पेटकी व्यथामें मरी जाती हूँ यह सब मुझे कुछ नीक नहीं लग रहा है।"

बहुतोंने जाकर कहा, 'बेटी, आजके दिन तू एक बार आँख खोलकर नयी बहूको देख तो ले !' किसीने पिपरमिंट देनेको कहा, किसीने सौंफ और अजवाइनका अर्क मिलाकर देनेको कहा, किसीने जामुनका अर्क देनेको कहा। माँ एक कटोरीमें दूध और साबूदाना लेकर गयी। पर भामाने कहा—"मैं कुछ न खा सकूँगी माँ; हठ न करो।"

माँ दुखी होकर चुप रह गयी। कहने लगी—"कैसी बहू घरमें आयी भगवान् ! इसने ड्यौढ़ीके भीतर पाँव रखते ही घरमें आफत मचा दी।"

शामके वक्त पलँगपर मुँह ढटाकर भामा पड़ी थी। पैरकी आवाज सुनाई नहीं पड़ी। अचानक ही चारपाई हिली। मालूम हुआ कोई आकर पासमें बैठा है। "कौन? कौन है?" कहकर भामा भयके मारे और कुछ न कह सकी।

आगन्तुकने कहा—"भामू!"

उसने पूछा—"कौन, राजो?"

भामा जल्दीसे पलँगसे उठी, पर पछाड़ खाकर जमीनपर गिर पड़ी। राजेन्द्रने उसे उठाकर फिर पलँगपर सुला दिया! धीरे-धीरे हवा करने लगे। थोड़ी देरमें भामाको होश हुआ। वह फिर पलँगसे उतरकर नीचे बैठनेकी चेष्टा करने लगी। राजेन्द्रने उसे रोक दिया। भामामें भी उस समय उठनेकी शक्ति नहीं रह गयी थी।

राजेन्द्रने कहा—"भामू, इस तरह कैसे काम चलेगा? उठकर कुछ खा लो।" भामाने बहुत देरतक कोई उत्तर नहीं दिया। पर भाईके बार-बार अनुनय-विनय करनेपर अश्रु-मथित रुद्ध-प्राय कण्ठसे कहा—"खानेसे मैं मर जाऊँगी। तुम नहीं जानते राजो, मुझे भयानक कष्ट हो रहा है।"

राजेन्द्रने शान्त भावसे कहा—"सो मैं जानता हूँ। पर खानेसे इस रोगमें कुछ-न-कुछ लाभ ही होगा। तेरे शरीरमें तो कुछ हुआ नहीं है।"

भामाने भाईपर क्रोधित होकर जोरसे कहा—"तो क्या मैं यों ही पड़ी हूँ—क्या तुम यह कहना चाहते हो?"

राजेन्द्रकी आँखोंसे आँसूकी बूँद टपक पड़ी। उन्होंने आगे एक शब्द भी न कहा। थोड़ी देरके बाद भामाने कहा—"तुम मेरे छोटे भाई हो! मैं आशीर्वाद देती हूँ कि ईश्वर तुम्हें प्रसन्न रखें। पर राजो, मैं तुम्हारा मुँह देखना नहीं चाहती। ओह! एक निरपराधिनी—"

यह तो है ननँद भौजाईका प्रथम प्रणय। एक बार भामाकी बीमारीमें चन्द्रकला पंखा झलने लगी। भामाने झुँझलाकर कहा, शीत लग रही है। भामाने चन्द्रकलाकी ओर आँख उठाकर देखातक नहीं। जब-जब

चन्द्रकला भामाकी सेवा-सुश्रूषा करनेके लिए जाती थी, तब-तब भामा इसी तरह अश्रद्धा प्रकट किया करती थी। चन्द्रकला बेचारी और क्या करती, नीचे सिर करके भामाके पास बैठी रहती, फिर खिन्न होकर लौट आती। जब कोई सखी कहती कि तुम भामाके पास जाओ, तब भाभीकी ओरसे प्रभा कह बैठती कि, "रोगीके घरमें बैठनेसे क्या लाभ?"

इस तरह प्रभा अपनी भाभीका हाथ पकड़कर अपने कमरेमें ले जाती और चौपड़ खेलने लगती। धीरे-धीरे प्रभा और चन्द्रकलाका प्रेम बहुत बढ़ गया। पर भामासे द्वेष ही बढ़ता गया। मनोरमाको आज भी भामा भूली नहीं है।

प्रतिदिनकी भाँति आज भी घरमें भामा और चन्द्रकलासे कुछ कहा-सुनी हो रही थी—

चन्द्रकला—"इसमें मेरा क्या दोष?"

भामा—"तुम्हें दोषी कौन ठहराता है?"

चन्द्र०—"तो फिर झगड़ा ही किस बातका?"

भामा—"मैं तो झगड़ा करती नहीं, तुम्हीं व्यर्थ बातें बढ़ा रही हो।"

अचानक ही राजेन्द्र गंगाजीके तटसे श्राद्ध करके आ पहुँचे। उन्हें देखते ही दोनोंकी बातें समाप्त हो गयीं।



ब्याह होनेके बाद एक वर्षतक मनोरमा अपने पतिके घर रही थी। एक वर्षका दिन कोई अधिक नहीं होता—केवल तीन सौ पैंसठ दिन; किन्तु घटना-वैचित्र्यके कारण मनोरमाके लिए एक वर्षका दिन पहाड़ हो गया था। सास मनोरमापर बहुत ही ज्यादा स्नेह रखती थी। ननँद भी मनोरमाको प्राणके समान मानती थी, बल्कि यों कहना चाहिये कि ननँदको

मनोरमासे बढ़कर संसारमें दूसरा कोई प्रिय था ही नहीं। स्वामी प्रेम ?— सो तो बैकुण्ठ-वासिनी नारायणीके भाग्यमें ठीक मनोरमाकी भाँति पति-प्रेम-सुख लिखा है या नहीं, इसका भ्रम इस मुग्धा स्त्रीको जिन्दगीभर बना ही रह गया। धनके लालचमें राजेन्द्रका ब्याह करके सदानन्द बड़ी अभिलाषासे मनोरमाको घरमें लाये थे; क्योंकि पहले उन्हें मालूम था कि श्रीनिवासके पास अच्छा माल है और एक कन्याके सिवा दूसरी कोई भी सन्तान नहीं है; किन्तु ब्याह हो जानेके बाद मालूम हुआ कि अब उनके पास कुछ भी नहीं है। मनोरमाके रूप-लावण्य और कर्त्तव्यपर सास तथा अड़ोस-पड़ोसकी सब स्त्रियाँ मुग्ध थीं। पर मनोरमाके गहने राजेन्द्रके घरके उपयुक्त न होनेके कारण सब स्त्रियाँ ताने मारा करती थीं। कोई भी स्त्री मनोरमासे अच्छी तरह बोलती नहीं थी। राजेन्द्रके पिता भी मनोरमापर रुष्ट हो गये थे। जिसके जो दिलमें आता था, वह वही मनोरमाको कह दिया करता था। मिठाइयाँ भी मनोरमाके पिताने कोई बढ़िया नहीं दी थीं। इससे लोग और भी नाखुश थे। केवल राजेन्द्रके दिलमें मनोरमाके प्रति किसी प्रकारका अप्रसन्नताका भाव नहीं उदय हुआ था। मनोरमा भी नितान्त बालिका नहीं थी। दरिद्र पिताकी कन्या थी। द्रव्याभावके कारण मनोरमाका ब्याह करनेमें उसके पिताने विलम्ब कर दिया था; इससे मनोरमा षोडश-वर्षीया हो चुकी थी। राजेन्द्रप्रसाद भी इक्कीसवें वर्षमें पदार्पण कर रहे थे।

गर्मीका दिन था। राजेन्द्र घरपर ही थे। धीरे-धीरे दाम्पत्य-प्रेम बहुत बढ़ गया। सावित्री घरकी अकेली थी, इसीलिए दिनमें प्रायः राजेन्द्रके ही घर रहा करती थी। राजेन्द्र आकर सावित्रीसे कहते—आज मेरा सिर बहुत भारी हो रहा है। सावित्री मुस्कराकर कह देती—"सो जाओ, सिर हलका हो जायगा।" विशेषकर राजेन्द्र यही दवा करते भी थे। पर इस तरहकी दवासे क्या रोग कभी घट सकता है ? तृष्णा हमेशा आगे बढ़ती है। पिता सबेरे ही खा-पीकर दस बजे कोर्ट चले जाते थे। छोटी बहन प्रभा स्कूल चली जाती थी। माता अपने कमरेमें भामा, सावित्री और

छोटे बच्चोंको लेकर नींद लेने लगती थीं। वे सारी बातें जानती हुई भी इस तरफ दृष्टि नहीं रखती थीं, वरन् स्नेह-कौतुकसे मन-ही-मन अपनी युवावस्थाकी बातें स्मरण कर हँसती थीं। इस तरहका समय तो एक बार प्रायः सबका बीतता है। राजेन्द्रके लिए कोई नयी बात तो है नहीं। यही समझकर वह शान्त रहती थीं। घरमें दिनके दस बजेके बाद रोजाना निस्तब्धता छा जाती थी। इसलिए राजेन्द्र भी चोरकी भाँति दबे पाँव मनोरमाके कमरेमें चले जाते थे।

मनोरमाके पिता श्रीनिवास महाशय अभीतक अपने वादेको पूरा नहीं कर सके थे। विवाहके समय उन्होंने तीन हजार रुपये अपने कथनानुसार सदानन्द त्रिपाठीको कम दिये थे। उन्होंने जान-बूझकर ऐसा किया था, सो नहीं। श्रीनिवासने रुपये जुटानेके लिए कोई भी यत्न उठा नहीं रखा था। पर होनहार बड़ा प्रबल है। गरीबी मान नहीं रखती; अन्ततः तीन हजार रुपयेकी कमी रह ही गयी। वर-पक्ष इस कमीपर बहुत असन्तुष्ट हुआ। यहाँतक कि सदानन्दने साफ कह दिया कि मैं लड़कीको अपने घर हर्गिज न ले जाऊँगा और इसी सालमें राजेन्द्रकी दूसरी शादी करके छोड़ूँगा। श्रीनिवासने बहुत विनती की, पर उनकी एक न चली। बराती उठकर जानेको तैयार हो गये। राजेन्द्रकी पालकी भी उठ गयी। सदानन्द भी मोटरपर बैठकर जानेके लिए तैयार हो गये। ड्राइवर मोटरमें तेल-पानी भरने लगा। श्रीनिवासने गिड़गिड़ाकर कहा—कन्या-पक्षका सिर हमेशा वर-पक्षके पैरों-तले रहता है। मेरी इज्जत और लड़कीका जीवन आपके हाथमें है। मेरे पास जो कुछ था, वह दिया। कर्ज लेनेपर भी रुपये नहीं मिले। समय सदा एक-सा नहीं रहता। मैं आपको वचन देता हूँ कि घटे हुए रुपये ब्याज-समेत आपके चरणोंपर रखूँगा। आप लड़कीको बिदा कराकर मेरी लज्जा रखें। इस शरणागतपर अनुग्रह करें।

सदानन्दकी मोटरपर बैठे हुए उन्हींके एक समाज-सुधारक मित्रका दिल श्रीनिवासकी बातें सुनकर भर आया। उन्होंने मोटरसे उतरकर

कहा—सदानन्दजी, आप बिना एक शब्द कहे मेरे कहनेसे लड़कीको बिदा करा लें। अब यहाँ मनुष्यत्वका अन्त हो रहा है। यद्यपि सदानन्दकी भीतरी इच्छा तो लड़कीको ले जानेकी नहीं थी, पर मित्रके बार-बार अनुरोध करनेपर उन्हें लड़कीको बिदा करानेके लिए विवश होना पड़ा। ज्यों ही सदानन्दने लड़की बिदा करानेके लिए कहारोंसे पालकी ले जानेको कहा, त्यों ही एक बरातीने बने-बनाये कामपर पानी फेर दिया। उसने कहा कि यह आप क्या कर रहे हैं! आप किसीके कहनेमें आकर अपनी मर्यादा नष्ट न करें। लोग पूछेंगे कि 'क्या मिला' तो आप क्या उत्तर देंगे? लोग समझेंगे कि सदानन्द महाशयकी हैसियत इतने कम दहेजके योग्य है, तभी तो अधिक नहीं मिला। पर लड़की न ले चलनेसे लोगोंसे कहनेके लिए मार्ग तो रहेगा कि वहाँ कुछ मिला नहीं, इसीसे रंजारंजी हो गयी। इस बातपर कई बरातियोंने जोर दे दिया। फिर क्या था, सदानन्दने कहारोंको रोक दिया, उनके विचार पूर्ववत् हो गये।

एक दूसरे सज्जन अपनी पौत्रीके साथ राजेन्द्रका ब्याह करनेके लिए सदानन्दके पास आये थे। लायन ठीक हो गया, केवल नकद रुपयोंमें फर्क रह गया था। सदानन्द आठ हजार माँग रहे थे और ये पाँच हजार देना चाहते थे। इसीसे ब्याह ठीक न हो सका। ऐसा सुअवसर पाकर भला ये महाशय बोलनेसे कब चूकनेवाले थे? तिसपर सदानन्दके मुँहसे इसी साल राजेन्द्रकी दूसरी शादी करनेकी बात भी सुन पड़ी है। इन्होंने कहा—"जब बराबरका सम्बन्ध नहीं मिलता तो बड़ा ही दुःख होता है। छोटे आदमीका सम्बन्ध तो त्याग देनेसे ही अच्छा होता है, नहीं तो जन्मभर दुःख सहना पड़ता है।" इस समय सुधारक महाशय फिर बोल उठे—"किन्तु जिनके यहाँ हमलोग ब्याहने आये हैं, वे छोटे आदमी नहीं हैं। उनके पिता-पितामह मिर्जापुर प्रान्तके बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। आज चार पैसेकी कमी हो जानेसे उनके वंशज छोटे नहीं कहे जा सकते। उनकी सामाजिक उच्चता आज भी किसीकी अपेक्षा कम नहीं है।"

"पर संसारमें तो सब खेल पैसेका ही है। जिसके पास पैसा न रहे, उसे गरीबकी तरह ही अपना बसर करना चाहिये—ऊँची डालीका फल तोड़नेसे प्रयोजन ?"

"आप फूट पैदा करनेकी बातें मुँहसे निकालते हैं ! किसकी इच्छा ऐसी नहीं होती कि हमारी लड़की सुखी घरमें जाय ? कन्या-पुत्रके सुखा-कांक्षी माता-पिताको किसी तरह भी हम अपराधी नहीं ठहरा सकते महोदय ! छिः ! कैसे-कैसे स्वार्थी लोग संसारमें पड़े हुए हैं ! किसी शुभ कार्यमें बाधा डालते उन्हें जरा भी लज्जा नहीं मालूम होती। क्या धनके सामने मनुष्यत्व कोई चीज ही नहीं ? सदानन्दजी ! आप क्या आगा-पीछा कर रहे हैं। लड़कीको बिदा करानेके लिए कहिये। काम जरा सोच-विचारकर करना होता है।

सदानन्दने हिचकिचाते हुए लड़कीको बिदा करा लेनेकी आज्ञा दे दी। इस प्रकार पूर्व-सम्पन्न कुलकी धन-हीन कन्या मनोरमा विख्यात धनी-पुत्र राजेन्द्रप्रसादके घर आयी। लोक-लज्जाके कारण सदानन्द महाशय खिन्न होकर पतोहूको साथ लिये घर तो लौटे; किन्तु घरमें उठते-बैठते वह बराबर नव-वधूको सुना-सुनाकर कहते कि "दरिद्र घरकी इस लड़कीने हमारा घर चौपट कर दिया।"

भाग्य-चन्द्र बड़ा ही बेढब है। कहनेको तो मनोरमा एक धनीके घरमें आयी, पर वह दिन-रात चिन्तामें डूबी रहने लगी। संसारमें सब कुछ सहन हो सकता है, पर अपमान और कोसना नहीं सहा जाता।

कुछ दिन बीत जानेपर मनोरमाकी माँने श्रीनिवाससे कहा—एक बार तुम वहाँ जाओ और मानूको बिदा करा लाओ।

इसके पहले चौथीपर जब श्रीनिवासके आदमी गये थे तब सदानन्दने उनका बहुत अपमान किया था। यहाँतक कि श्रीनिवासकी भेजी हुई मिठाइयोंके घड़े भी उन्होंने बाहर फेंकवा दिये थे। इसका स्मरण कर श्रीनिवास जानेका साहस नहीं करते थे। किन्तु कन्याके प्रेम और सुभद्राके हठसे उन्हें कुछ रुपयोंका प्रबन्ध करके मनोरमाके घर जाना पड़ा। साथ

समधीको रुपये देकर राजी कर लूँगा।

किन्तु सारी आशाओंपर पानी फिर गया। सदानन्दने रुपये तो ले लिये, पर मनोरमाको बिदा करनेपर राजी न हुए। यहाँतक कि श्रीनिवासको मनोरमासे भेंटतक न करने दिया। लाचार होकर श्रीनिवासको अपना-सा मुँह लेकर घर लौट आना पड़ा।

श्रीनिवासके लौट आनेपर सदानन्दने घरमें जाकर राजेन्द्रकी माँसे कहा—"छोटे घरोंकी लड़कियोंको घरमें लानेसे बड़े घर भी छोटे हो जाते हैं। यह बहू जिस दिन घरमें आयी, उसी दिन हम समझ गये कि बस इस घरका बड़प्पन चौपट हुआ। यह जबसे यहाँ आयी, तबसे जमींदारीमें एक-न-एक उपद्रव मचा ही रहता है। कमसे कम साठ-सत्तर हजारका नुकसान हो चुका।"

रातके दस बज चुके थे। मनोरमा अपने ऊपरके कमरेमें लेटी हुई थी। राजेन्द्र भी बाहरसे घूम-फिरकर कमरेमें आ गये। स्वामीका खिन्न और म्लान मुँह देख मनोरमाने चकित होकर पूछा—"आज इतने उदास क्यों हो?"

राजेन्द्रके जीवनमें उनके हृदयको यह सबसे पहला ही अकृतकार्यताका धक्का लगा था; किन्तु मनोरमाकी आँखोंसे आँसू गिरते देख उनको अपना दुःख बिलकुल भूल गया। उन्होंने विषादयुक्त मनोरमाको हृदयसे लगा लिया और उसके आँसू पोछते हुए उसे सान्त्वना देनेके लिए पूछा—"तुम इतना दुखी क्यों हो रही हो? क्या कोई परीक्षामें फेल नहीं होता? यदि मैं इस साल पास नहीं हुआ तो न सही; अगले साल और भी चेष्टा करूँगा; देखूँगा कैसे पास नहीं होता हूँ।"

पर मनोरमाका रुदन इन सान्त्वनापूर्ण बातोंसे बन्द नहीं हुआ वरन् ग्रथि-छिन्न मुक्ता-मालाकी भाँति शुभ्र और स्थूल अश्रु-बिन्दु उसके विशाल नेत्रोंसे झरने लगे। रोते-रोते उसका कण्ठ भर आया। भग्न कण्ठसे उसने कहा—"मेरे ही कारण यह हुआ।"

राजेन्द्र—"तुम्हारे कारण?"

अत्यन्त कष्टसे मनोरमाने कहा—"हाँ।"

राजेन्द्रने विस्मयान्वित होकर कहा—"अच्छा, सो मुझे नहीं मालूम था। क्या बी० ए० की परीक्षाके लिए तुम्हींने कड़े-कड़े प्रश्न चुनकर दिये थे ? या पेपर इग्ज़ामिन करनेके समय मेरे लिखे उत्तरोंको काट दिया था ? अथवा मेरे माथेमें सरस्वती-रूप होकर तुमने ही मुझसे गलत उत्तर लिखवाया था ? क्या किया, बोलो तो देखें ! मुझे नहीं मालूम था कि मैं तुम्हारे ही कारण फेल हुआ।"

रोते-ही-रोते मनोरमाने उक्त बातोंपर हँसकर अपना माथा स्वामीकी गोदमें लज्जित भावसे छिपा लिया। कहा—"चलो उधर ! तुम हर वक्त हँसाया करते हो।"

राजेन्द्र—"क्यों इसमें मैंने हँसानेकी कौन-सी बात कही ? जब तुम्हारे कारण मैं फेल हुआ, तो आखिर तुमने इन्हीं कामोंमेंसे तो कुछ-न-कुछ किया होगा।"

मनोरमाकी वह हँसी क्षणिक थी। उसने फिर आर्त्तभावसे कहा—"मैं जो अपया और दरिद्र कन्या हूँ।—यदि तुम मुझे ब्याहकर न लाये होते..."

राजेन्द्र—"तू आज ऐसी बातें क्यों कर रही है पगली ?"

अब मनोरमा और भी जोरोंसे हुटकने लगी। राजेन्द्रने कहा—"अच्छा जरा तुम हट जाओ।"

मनोरमा—"क्यों ?"

राजेन्द्र—"इसलिए कि अभी तो तुम बातें करोगी नहीं, हम भी तुम्हारे रोनेमें शामिल हो जायँ। आओ पहले हम दोनों पेट भरकर खूब रो लें, पीछे बातें करेंगे।"

मनोरमा अबकी बार फिर अपनी हँसी रोक न सकी। कहने लगी—"धन्य हो महाराज, तुम यह आदत न छोड़ोगे।"

राजेन्द्र—"क्यों, मैंने तो कुछ कहा नहीं। तुम्हीं तो कहती हो और फिर मुझपर दोष लगाती हो। क्यों जी, क्या मेरे साथ यदि तुम्हारा

विवाह न हुआ होता, तो तुम आजीवन कुँआरी रह जातीं ! किसी-न-किसीके साथ तुम्हारा ब्याह तो होता ही ! देशमें क्या इस रत्नको लोग यों ही रद्दीकी टोकरीमें डाले रहते ! कोई तो इसे प्राप्त करता ही !

स्वामीकी सम्मान-युक्त बातें सुनकर आदरिणी मनोरमा हँसते-हँसते उस समय बहुत-सी बातें कह गयी। राजेन्द्रके अतिरिक्त उसका और किसीके साथ ब्याह होना सम्भव ही न था। यही सब दार्शनिक बातें उसने अनेक तरहसे विश्लेषण करके अर्द्ध-नास्तिक पाश्चात्य-विद्याके पण्डित स्वामीको समझानेकी चेष्टा की। स्वामीने उसके जन्म-जन्मान्तरके गूढ़ तत्त्वोंपर विश्वास किया या नहीं, सो उनके हास्य-मण्डित आनन्दोज्वल मुखको देखकर नहीं कहा जा सकता।

९

सदानन्द त्रिपाठीके एक सहपाठी लाहौरमें वकालत करके बहुत-सा धन उपार्जन करनेके बाद बनारस लौट आये थे। साथमें अपने बाल-बच्चोंको भी लेते आये थे। वास्तवमें नगवाके ही रहनेवाले थे। इनकी एक अविवाहिता कन्या थी जो एण्ट्रेन्स पास कर चुकी थी। इन्होंने अपने पुराने मित्र सदानन्दको लिखा कि पुरानी बातोंके अनुसार अब आपको अपने पुत्रके साथ मेरी कन्या चन्द्रकलाका विवाह करके मुझे निश्चिन्त करना होगा। विवाहकी सारी सामग्री तैयार है। वरको कन्याका पाणि-ग्रहण करने एवं कन्या-पुत्रको आशीर्वाद देनेके लिए एक शुभ मुहूर्त्त स्थिर करनेकी आवश्यकता है।

लड़कीको पचीस हजार रुपये नकद और दस हजार रुपयोंके गहने तथा लायन ऊपर देनेका उन्होंने निश्चय किया था। सदानन्द पहलेसे ही जले-भुने बैठे थे। पर करते क्या ? श्रीनिवासके यहाँ ब्याह करनेकी गलती

भी तो उन्होंने ही की थी! पत्र पढ़ते ही सदानन्द मारे खुशीके उछल पड़े। घरमें जाकर राजेन्द्रकी माँसे कहने लगे—

"विवाहके लिए पं० गंगाधरजीका पत्र आ गया। मैं तो तुमसे पहले ही कहता था कि राजेन्द्रके ब्याहके लिए एक-से-एक अच्छे लोग आवेंगे, पर तुमने नाकों दम कर दिया। आखिर तुमने एक नीच घरकी लड़की राजेन्द्रके गले मढ़कर छोड़ा। पर तुम्हारा दोष नहीं, प्रारब्धानुसार काम हो ही जाता है।"

सदानन्दके क्रोधके समय कोई बात कहनेका साहस किसीमें भी नहीं था; तथापि राजेन्द्रकी माँने धीरे-धीरे स्वामीको शान्त करनेके लिए कहा कि ऐसा न कहो। तुम्हारी बहू रूप और गुणमें लक्ष्मी है। मुहल्लेमें और भी बहुएँ आयी हैं और आ रही हैं पर कोई मेरी बहूकी गोड़धोई भी तो नहीं है।

सदा०—"हाँ हाँ, तुम्हारी बहू तो स्वर्गकी परी है! रहने दो बहूके रूप और गुणकी तारीफ़। जिसका बाप दरिद्री है—वह रूप और गुण-वाली होगी, क्यों? पं० गंगाधरका नाम कितना बड़ा है, मालूम भी है? दसके सामने कहनेसे भी इज्जत बढ़ती है। तुम क्या बकती हो, यह क्या थोड़े दुःखकी बात है? इतना कहकर सदानन्द जानेके लिए उठ खड़े हुए। राजेन्द्रकी माँने भी कुछ और कहना ठीक नहीं समझा। मन-ही मन मनोरमाके पितापर झुँझलाते हुए सदानन्द घरके बाहर आये। अबसे उनके दिलमें मनोरमाके प्रति विद्वेषकी मात्रा सौगुनी बढ़ गयी।

इसी दुःसमयमें सुभद्राकी असाध्य बीमारीके कारण खिन्नचित्त श्रीनिवास एक हजार रुपये लेकर भिक्षुककी तरह एक किनारे आकर बैठ गये। मुँहसे कुछ कहनेका साहस नहीं होता था। कहीं पहलेकी भाँति आज भी प्रार्थना स्वीकार न हो, इसी भयसे वह कुछ कहनेका साहस नहीं कर रहे थे। पर उधर स्त्री रोग-शय्यापर लड़कीके लिए ताक लगाये पड़ी हुई थी, निराशाके आघातसे उसके निर्वाणोन्मुख जीवन-प्रदीपके

बुझ जानेकी सम्भावना है। वह अपनी एकमात्र जीवित सन्तानको मृत्युके समय एक बार देखना चाहती है—और यह भी आशा है कि शायद वह रुग्णा आशाके अवलम्बनसे बच ही जाय। श्रीनिवासकी छाती धकधक करने लगी—कहीं चेष्टा विफल न हो जाय।

एक-एक दो-दो करके आठ-दस असामी आकर बैठ गये। नजर-निगाह देने लगे। सदानन्द महाशयने किसीकी दक्षिणा तो हाथमें ले ली और किसीकी दक्षिणाको पाँवोंसे झटक दिया। लोग अपना-अपना दुःख सुनाने लगे। कोई कहता था—'सरकार इस सालमें अन्न बिलकुल नहीं हुआ, घरके प्राणी भूखों मर रहे हैं। अगले सालमें ब्याज जोड़कर मालगुजारी ले ली जाय, इस साल माफ हो।' कोई कहता था—'मालगुजारी और नजराना ले लिया जाय और हुण्डीकी किश्त परसाल देनेकी मोहलत दी जाय।' इसके उत्तरमें सदानन्द किसीको माफ कर देते थे और किसीपर गन्दी-गन्दी गालियोंकी बौछारें छोड़ रहे थे। कहते थे—'तुमलोगोंको जितना ही कसा जायगा, उतना ही तेल निकलेगा। अगर परसाल भी फसल न होगी, तो क्या हमारी मालगुजारी न मिलेगी ! हमने क्या फसल होनेका ठेका ले रखा है ? तुमलोगोंकी बदजाती हम अच्छी तरह जानते हैं।'

श्रीनिवास बैठे-बैठे विस्मय-स्तिमित नेत्रोंसे यह सब देख रहे थे। असामियोंके चले जानेपर सदानन्दके पैरोंके समीप रुपये और नोटोंकी थैली रखकर सशंक स्वरमें उन्होंने कहा—"यही बाकी रुपया देनेके लिए सेवामें आया हूँ, और—"

सदा० "रुपये तो डाकके जरिये भी भेजे जा सकते थे, व्यर्थ ही इतनी दूर आनेकी क्या जरूरत थी !"

श्रीनिवासने विनीत भावसे कहा—"घरमें बीमारी इतनी बढ़ गयी है कि जीवनकी आशा बहुत ही कम है। डाक्टर और वैद्यलोग भी जवाब दे चुके हैं। लड़कीको अन्तिम बार देखनेकी उसकी बड़ी उत्कट अभिलाषा है। यदि अनुग्रह करके दस दिनके लिए भी एक बार आप विदा

कर देंगे, तो उसकी अन्तिम अभिलाषा पूरी हो जायगी।"

दरिद्र समधीकी बातोंपर सदानन्दने मुस्कराते हुए सिर हिलाकर कहा—"इन चालोंको मैं अच्छी तरह समझता हूँ। क्या मालूम नहीं कि, ऐसी चालें तो एकदम पुरानी हो गयी हैं? इन्हीं चालोंको देखते-देखते तो मेरे सिरके बाल पक गये; फिर भी आप मेरी आँखोंमें प्रत्यक्ष धूल झोंकनेका प्रयत्न कर रहे हैं? ऐसी चालें यहाँ नहीं चल सकतीं।"

इस अपमानसे श्रीनिवासका मुँह लाल हो गया। ओठ हिलने लगा। आखिर सहनशीलताकी भी एक हद होती है। आत्म-हनन करके उन्होंने कहा—"लड़कियाँ अपने माँ-बापका कठिनसे-कठिन अपमान करा देती हैं। इसमें आपका कोई दोष नहीं, दोष मेरा है। यदि आपको इतनेपर भी सन्तोष न हुआ, तो लीजिये मैं जाता हूँ और कहे जाता हूँ कि आजसे फिर कभी आप इस दरिद्रके यहाँका एक कुत्ता भी अपने दरवाजेपर अपमानित करनेके लिए न पावेंगे। मैं अभीतक अपना पूज्य समझकर आपके किये हुए अपमानोंको सहन करता आया हूँ; पर आज सहनकी इतिश्री हो रही है। आपने मेरे साथ जैसा बर्ताव किया है, वैसा बर्ताव दरवाजेपर आये हुए एक शत्रुके साथ भी कोई नहीं कर सकता। मैं कुछ नहीं कहता, ईश्वर स्वयं न्याय करेंगे।"

अत्यन्त आश्चर्य-सूचक दृष्टिसे देखते हुए सदानन्दने व्यस्त भावसे कहा—"क्या कहते हो? ईश्वर न्याय करेंगे? तुम्हारी लड़कीको इस घरमें अब एक क्षण भी रहनेके लिए स्थान नहीं है। जमादार, एक भाड़ेकी गाड़ी बुला लाओ। वह लड़की अब हमारी कोई नहीं है। तुम्हारी इच्छा हो उसे पैदल ले जा सकते हो। अब हम कुछ न कहेंगे।

श्रीनिवास—"मैं लड़कीको न ले जाऊँगा महाशय, व्यर्थ ही रंज न हों। आपका ऋण भी मैंने चुका दिया, चलो अच्छा ही हुआ। लड़की आपकी है, मेरा उसपर जोर ही क्या है! यह कहते-कहते श्रीनिवास घरके बाहर हो गये।"

किन्तु उनके आगे बढ़नेमें विघ्न उपस्थित हो गया। मनोरमाके

ससुरकी गम्भीर आवाजने उनको गतिहीन कर दिया। नहीं तो इन बातोंके फैलनेके पहले ही श्रीनिवास आत्म-हत्या करनेका बिचार कर चुके थे। लज्जा और अपमानको भूलकर अपराधी पितृ-हृदयको ईश्वरकी ओरसे अनायास ही यह चेतावनी मिली—अरे, मूर्ख! रे पापी! आत्म-हत्या करनेके लिए ही क्या तू यहाँ आया था? क्या तू अबला कन्याका सर्वनाश करनेपर ही उतारू है? श्रीनिवास इन अप्रत्यक्ष बातोंको सुन ही रहे थे कि अचानक पीछेसे आवाज आयी—"श्रीनिवास महाशय! लड़कीको साथ लेकर जाना ही अच्छा है; नहीं तो पीछे अफसोस करना पड़ेगा। मैं यह कह चुका हूँ कि अब मेरे घरमें वह एक क्षण भी न रहने पावेगी। यदि तुम उसे अपने साथ न ले जाओगे, तो उसे अपनी जीविका चलानेके लिए किसीके घरमें मजूरी करनी पड़ेगी, या अपने हुनरसे कमाकर पेट भरना पड़ेगा। उसकी जो इच्छा हो सो करे, जहाँ इच्छा हो वहाँ जाय, मुझसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। मैंने अब उसका त्याग कर दिया।"

इतना सुनते ही श्रीनिवास चौंककर खड़े हो गये। सदानन्दके स्वभावसे वह भलीभाँति परिचित थे। ऊँची साँस लेकर कहा—"तो फिर मैं उसे अपने साथ ही ले जाऊँगा।"

बाहर जो बातें हुई थीं, वे अभीतक घरमें नहीं पहुँच सकी थीं। घरमें एक नौकरने कहा कि बहूजीकी माँ बहुत बीमार हैं; मिर्जापुरसे बाबू आये हैं, बहूजीको अपने साथ ले जायेंगे। बड़े बाबूने कहा है कि जल्दीसे बहूकी तैयारी कर दो—"बापके घरके गहनोंके सिवा और गहना न देनेके लिए भी बाबूजीने कहा है।"

भामाके मुँहपर उदासीनता छा गयी थी, पर उसने सखीके आनन्दमें आनन्दित होनेकी चेष्टा करके माँसे पूछा—"यहाँका गहना देनेके लिए बाबूजीने मना क्यों किया है माँ?"

माँने सोझमोझ जो कुछ समझा था वही कहा, "गरीबका घर है; और फिर घर पहुँचते रात हो जायगी। कीमती गहने ठहरे; बाहर जोखिमकी चीज रखना ठीक नहीं, समय बहुत बुरा है; इसीसे मना

किया होगा। पर सुनो, बहूके कानोंके हीरे-जड़े कनफूल, अँगूठी, मोतीका हार—और जो तेरी इच्छा हो, दो-चार थान गहने चुनकर दे दे—उसके बाबूजी साथमें हैं, भय काहेका? हाय-हाय रे, बहू अपनी माँको देख सकेगी या नहीं कौन जाने! क्या जाने वह न बचे।"

"क्या जाने वह न बचे!"—सुनते ही मनोरमाकी आँखोंसे आँसू गिरने लगे। आँचलसे आँसू पोंछकर उसे रोकनेकी चेष्टा करते हुए उसने कहा—"बाबूजी जब मना कर रहे हैं, तब उसको रहने देना ही ठीक है माँ। फिर कभी जाने लगूँगी तो ले जाऊँगी, इस समय तो दुःखमें जा रही हूँ।

एक वर्षके बाद पहले-पहल पिताके घर जानेके समय लड़कियोंके चित्तमें जिस अवर्णनीय सुखकी तरंग स्वाभाविक रीतिसे उठती है, इस आकस्मिक विदाईसे मनोरमाके हृदयमें उस सुखका आभासतक नहीं हुआ।"

स्नेहमयी सासने कहा—"भगवान् करेंगे तो अच्छा हो जायगा बहू। घबरानेकी जरूरत नहीं। माँ-बापके सिवा और घरमें कोई भी तो नहीं है।"

गहना निकालते समय भामाने दो-तीन थान दामी गहने भी निकालकर मनोरमा को दे दिये। पर देनेका भाव ऐसा था मानो भामा भूलसे दे रही है। मनोरमाके लौटा देनेपर भामाने जरा माथा सिकोड़कर कहा—"ले जा न; इसके बिना तेरा मुँह भी तो अच्छा नहीं मालूम होगा। हाथमें क्या एक हीरेकी अँगूठी भी न रखेगी? लोग भला क्या कहेंगे? ले, रख ले।"

मनोरमाके दिलमें ले लेनेकी इच्छा तो जरूर पैदा हुई, किन्तु उसने उसे रोककर सासके हाथोंपर उन्हें रख दिये। खिन्न भावसे हँसकर कहा—"इस दफे सब रख दो, क्योंकि बाबूजीने मना किया है।

भामाने मुँह लटका लिया। सासने कहा—ऐसी सीधी और पगली बहू संसारमें न मिलेगी।

मनोरमाने आड़में आकर हृदय-संगिनी भामासे कहा—"जल्दीमें

मैंने एक पत्र लिख दिया है, उसे भेज दोगी न ?"

भामा—"दुत्, भला मैं उन्हें कैसे भेजूँगी री ? हर वक्त तुझे दिल्लगी सूझती है। क्या वह मेरा हस्ताक्षर न पहचानेंगे ?"

मनो०—"नहीं मैं दिल्लगी नहीं करती हूँ, अपनी कसम।"

भामा—"अच्छा तो भाभी आती होगी, उससे देनेके लिए कह देना।"

मनो०—"हाँ देखो, तुम रोज चिट्ठी लिखती रहोगी न ?"

भामा—"लिखूँगी क्यों नहीं ?"

मनो०—"मैं शायद रोजाना चिट्ठी न लिख सकूँगी।"

भामा—"सो तो मैं पहलेसे ही जानती हूँ।"

मनो०—"नहीं, देखो माँकी बीमारीसे मुझे सचमुच फुरसत न मिलेगी। घरमें और तो कोई है नहीं।—यह क्या, तुम दुखी क्यों होती हो ? हो सकेगा तो मैं रोजाना ही चिट्ठी भेजती रहूँगी। पर लाचारीसे अगर मैं किसी दिन चिट्ठी न भेज सकूँ, तो देखना तुम कोई खयाल न करना।"

इतनेमें सावित्री भी आ गयी। सावित्रीको देखते ही भामाने कहा—"भाभी जरा इधर आना।"

सावित्रीने आकर कहा—"क्यों बहू, वहाँ जाकर हमलोगोंको भूल तो न जायगी ?"

मनोरमा, भामा और सावित्रीमें जी-जीका अन्तर था। तीनों आपसमें सहेलीकी तरह रहती थीं। मनोरमाने सलज्ज भावसे उत्तर दिया—"भूलना क्या मेरे बसकी बात है बहन ?"

सावित्री—"देखना कजली खेलनेकी लालचसे सुदेवस लौटवा न देना। माँ जब अच्छी हो जायँ तो यहाँका सुदेवस जानेपर रोक-टोक न करना। क्योंकि जन्माष्टमीका उत्सव नजदीक है। उस समय अगर तुम न रहोगी तो मुझे बड़ा दुःख होगा।"

मनोरमाने मूक भाषामें उत्तर दिया। बाद उस लिखे हुए पत्रको देनेके लिए आगे हाथ बढ़ाया।

सावित्रीने कहा—"ले लो बबुई, उन्हें भेज देना।"

भामाने हँसकर मुँह फेर लिया। सावित्रीने मनोरमाके हाथसे चिट्ठी लेकर अपनी जेबमें डाल ली।

मनोरमाकी आँखोंसे फिर अश्रुधारा बहने लगी। इतनी देरतक वह बातोंमें माँकी बीमारीको भूल-सी गयी थी, पर अब फिर शोक-ग्रस्त हो गयी। कहने लगी—"माँका न-जानें क्या हाल है! बहन और दीदीसे न-जानें कब भेंट होगी।"

भामा और सावित्रीकी आँखोंमें भी आँसू आ गये। कुछ देरके बाद सावित्रीने धीरज धरकर कहा—"राम-राम करो। रोनेसे कोई लाभ नहीं। जरूर अच्छी हो जायँगी। चुप रहो। रोओ मत। तुम्हारी आँखें रोते-रोते फूल आयी हैं। देखना चिट्ठी लिखा करना।"

१०

इलाहाबादके 'लॉ' कालेजमें राजेन्द्रप्रसाद कानूनका अध्ययन करते थे। कालेजके होस्टलमें ही दो-तल्लेपर वह एक कमरेमें रहते भी थे। इस साल फेल हो जानेके कारण वह मन-ही-मन बहुत लज्जित रहा करते थे। सदानन्द महाशयने राजेन्द्रके फेल होनेका लांछन अपराधिनी मनोरमापर लगाया, यह बात भी राजेन्द्रसे छिपी नहीं थी। पिताको प्रसन्न करने तथा स्त्रीका कलंक मिटानेके लिए इस साल राजेन्द्र स्त्रीकी सुध छोड़कर जी-जानसे अध्ययनमें लगे हुए थे। पर चंचल मन क्या एकाएक अपना स्वभाव बदल सकता है? स्वाध्याय-निरत तपस्वीका ध्यान भंग करनेके लिए वह हमेशा लगा रहता था। पलँगपर लेटकर जब राजेन्द्र लॉ-बुक लेकर पढ़ने लगते तो मन अनायास ही शुद्ध गौर-वदना, मृग-नयनी, बिम्बाफलके समान आरक्त अधरोष्ठीका सुन्दर स्वरूप देखनेमें लग जाता था। लाचार होकर राजेन्द्रको लॉ-बुक बन्द कर देनी पड़ती

थी। कभी-कभी वह अपने मनपर जबर्दस्ती करनेके लिए पलँगसे उठकर कुर्सीपर आ विराजते और टेबुलपर पुस्तक रखकर अवलोकन करने लगते। अगल-बगलके कमरोंमें रहनेवाले छात्र एकान्त मनोयोगी राजेन्द्रकी पठन-ध्वनिका अकस्मात् ही रुक जाना सुना करते थे। पश्चात् यदि कोई सन्दिग्ध चित्तसे आकर राजेन्द्रको देखनेकी चेष्टा करता तो यही दिखलाई पड़ता था कि विशाल आकारवाली लॉ-बुक खोलकर राजेन्द्र सामने रखे रहते, और सामने टेबुलपर किसीका कैबिनेट साइज एक चित्र रक्खा रहता था। कभी तो राजेन्द्र वह चित्र स्नेह-पूर्ण नेत्रोंसे देखने लगते थे और कभी उसे एक रंगीन कागजमें लपेटकर रख देते थे। इस प्रकार सैकड़ों बार वे चित्रको खोलकर देखते और फिर लपेट कर रख दिया करते थे। लाल कागजपर कुछ पंक्तियाँ लिखी हुई थीं। पंक्तियाँ टेढ़ी-मेढ़ी और अक्षर भी नव-सिखुआके लिखे जैसे थे। फर्स्ट डिवीजनमें बी० ए० पास करके 'लॉ' पढ़नेवाले छात्रके लिए भला यह चिट्ठी क्या कभी हर्षकी सामग्री हो सकती है? पर कालिदासके विश्वविख्यात काव्य मेघदूतमें यक्ष और यक्ष-पत्नीका हाल राजेन्द्रका पढ़ा हुआ था। यह पत्र राजेन्द्रकी रूपसी-तरुणी प्रिया—वही यक्ष-वनिता—'तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्व बिम्बाधरोष्ठी'का था। यहाँ भी तो यक्ष-पत्नीकी भाँति मनोरमा 'क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा'की भाँति, पालेसे सतायी हुई कमलिनी एवं मेघावरणके कारण मलिन-कान्ति चन्द्रमाके सदृश पतिविरहमें बैठी थी! इसीसे बहुत-सी चिन्ताएँ इस नवीन-विरहीके तरुणचित्तको रामगिरिपर बसे हुए हत-भागी यक्षके समान समय-असमयमें विक्षिप्त कर दिया करती थीं। राजेन्द्रके लिए सुखका विषय केवल यही था कि यह स्थान रमणीय रामगिरिका निर्जन प्रदेश नहीं था; जनाकीर्ण प्रयागके लॉ कालेजका होस्टल सैकड़ों चांचल्य-पूर्ण तरुण छात्रोंसे भरा हुआ था। निरभिभावक निष्कर्मा यक्षकी भाँति राजेन्द्रकी निर्भय और कर्महीन अवस्था नहीं थी। राजेन्द्रके सिरपर दुर्दान्त पिताकी तीव्र भर्त्सनाकी आतंक लज्जा और कानूनकी पुस्तकें पढ़नेका दायित्व है। इस

साल जिस तरह भी हो, परीक्षामें उत्तीर्ण होकर प्रिया-विरहरूप अभिशापको दूर करना ही होगा। पास करनेपर तो इस तरह प्रवासके लिए राजेन्द्रको न आना पड़ता न। ऊँची साँस लेकर अनुतापी मनमें कहता—'पापका प्रायश्चित्त है! यदि गत वर्षमें ही जरा दिल लगाकर पढ़ा होता, तो न तो उसे दस बातें सुननी पड़तीं और न मुझे ही। खैर जो कुछ भाग्यमें था, वह हो गया, अब इस साल मैं न ठगाऊँगा।' इसके अतिरिक्त समयके फेरसे आधुनिक विरहीको एक सुयोग और प्राप्त था; वह यह कि बिना दूतकी सहायताके आधुनिक विरही और विरहिणियाँ अपनी-अपनी विरह-वेदना एक दूसरेके पास अनायास ही पहुँचानेमें समर्थ हैं। यह विरह-लिपि डाक द्वारा भेजनेका सुयोग होनेपर निर्बोध यक्ष क्या एक बार चार पैसा खर्च करके दो-चार आनेका टिकट और दो-चार चिट्ठीका कागज लिफाफेमें भरकर अपनी प्रियाके पास न भेजकर मेघके पैरोंपर गिरता?

अचानक एक दिन सबेरेकी डाकसे ही राजेन्द्रको एक लिफाफा मिला। विस्मित होकर उन्होंने कहा कि अभी कल ही शामको एक चिट्ठी आयी है, फिर आज सबेरे दूसरी कैसे? मालूम होता है चिट्ठी छोड़नेमें गड़बड़ी हुई। उसने किसीको डाकमें छोड़नेके लिए चिट्ठी दी होगी और चिट्ठी छोड़नेवालेसे एकाध दिन देर हो गयी होगी। अच्छा, कैसी गलती कर गयी है! कैसी पगली औरत है! मुझे आश्चर्यमें डालनेके लिए उसने चिट्ठी लिखनेमें ऐसी दिल्लगी की है। देखें तो जरा क्या लिखती है। अपने कमरेमें पाँव धरते ही लिफाफेपर दृष्टि पड़ते-न-पड़ते कह बैठे—"यह तो मिर्जापुर पोस्ट आफिसकी छाप है! वह मिर्जापुर कब आयी?"

जो सोचा था, वह न होनेके कारण राजेन्द्रका मन क्षोभानुभव करने लगा। सहसा यह बात ध्यानमें आयी कि मिर्जापुर जाना अचानक ही हुआ है। इसीसे मालूम होता है कि बनारसकी लिखी चिट्ठी छोड़ी जा चुकी थी, पर जब मिर्जापुर उसी दिन हठात् आना हुआ तो दूसरी चिट्ठी-

से मिर्जापुर आनेकी सूचना देना आवश्यक समझ उसने फिर पत्र लिखकर भेज दिया। ऐसा क्या, कोई प्रसन्नताकी खबर भी हो सकती है। चलो इस समय अच्छा मौका है। आज कालेजसे वापस आकर मिर्जापुरसे लौट आऊँ। कल रविवार होगा, कलके दिन वहाँ रहकर परसों सोमवारको भोरकी किसी गाड़ीसे कालेजके समयसे यहाँ चला आऊँगा। चिन्ताके साथ-ही-साथ कृत-संकल्प राजेन्द्रने लिफाफा खोलकर पत्र पढ़ना शुरू किया। पत्रमें विशेष बातें कुछ भी नहीं थीं; बहुत ही संक्षेपमें सिर्फ इतना ही लिखा था—

"प्राणनाथ,

दासीका प्रणाम चरणकमलोंमें स्वीकृत हो। आज मैं पिताजीके साथ सकुशल यहाँ पहुँच गयी। प्रयाग तो कोई दूर नहीं है—क्या एक बार मिर्जापुर आनेकी कृपा इस दासीपर न करोगे? माँ बहुत बीमार है, इसीसे मैं यहाँ आयी हूँ। तुम्हारी तबीयत कैसी है? मैं अच्छी हूँ। कब आओगे, लिखो। आनेसे जरा जी बहल जायगा।

भाद्र शुक्ल १०
मिर्जापुर

दासी—मानू"

इस छोटेसे पत्रको पढ़ते ही राजेन्द्रका दिल भर आया। वे आनन्द-विह्वल हो किसी गहरी चिन्तामें निमग्न हो गये। इससे पहले इसी चक्करमें पड़कर वह एक वर्षका पढ़ना चौपट कर चुके थे। लेखिकाको इन्हीं अपराधोंके दण्ड-स्वरूप अनेक तरहके अपमान भी सहने पड़े थे। पहले जब कभी पत्र आता था, तब राजेन्द्र उसके उत्तरमें पाँच-पाँच सात-सात पृष्ठ गद्य और पद्य लिखकर भर डालते थे; पर आज कुछ भी नहीं। निहायत सुबोध और शान्त पुरुषकी भाँति उन्होंने पत्रको नियमित स्थानपर जहाँ सब पत्र रखा करते थे, रख दिया और हाथमें अँगोछी लेकर नहानेके लिए चले गये। रोजकी तरह आज भी स्नान करनेके बाद माथेका बाल सँवारा और कुछ जलपान किया। अभी कालेज जानेका समय नहीं हुआ था। अतः उन्होंने चमड़ेके हैंडबेगमें कुछ कपड़े, साबुन, कंघी, शीशा,

एसेन्स और भी कई प्रयोजनीय सामाग्री रख दी। पत्र तथा कुछ रुपये और नोटोंको जेबमें रखकर कालेज जानेके लिए शीघ्रतासे कमरेके बाहर हुए।

राजेन्द्र जिस समय कालेजसे पुस्तकें हाथमें लिये हुए प्रसन्नमुख होस्टलमें वापस आये, उस समय दो बज चुके थे। दो बजकर बीस मिनटपर गाड़ी छूटती थी। आज राजेन्द्रको बनारसतक न जाकर बीचमें ही उतर जाना है। बाजारसे कुछ आवश्यक चीजें उन्होंने खरीदीं। ट्रेन मिलनेके लिए बिना जलपान किये ही कुछ चीजें जेबमें और कुछ हाथमें लिये हुए दो-दो सीढ़ियोंको एक साथ लाँघकर अपने कमरेमें पहुँचे। रास्तेमें दो-एक प्रश्न होनेपर भी उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। अच्छे काममें तो विघ्न उपस्थित होता ही है। टोकनेवालोंमें कई एक राजेन्द्रके हाथसे चीजें छोड़कर पूछने लगे कि, यह चीज किसके लिए है, इसे तुमने क्यों खरीदा है, अचानक तुम किसके लिए जा रहे हो आदि। पर राजेन्द्रने आततायी मित्रोंके हाथसे छुटकारा पानेके लिए नम्रता-पूर्वक कहा—"समय बहुत कम है भाई, बतलानेमें ट्रेन छूट जायगी। कल नहीं तो परसों भोरमें मैं आ जाऊँगा, तब सारी बातें बतला दूँगा; लम्बी कहानी है, ट्रेन छूट जायगी तो मेरा सारा काम चौपट हो जायगा। ऐसे समयमें दिल्लगी करना ठीक नहीं, इस वक्त छोड दो।"

"कल या परसोंतक तो तुम आ चुके राजेन्द्र। यह तो तुम्हारा चेहरा कह रहा है। अच्छा, इस वक्त सिर्फ इतना तो बतला दो कि अन्ततः आज जाओगे कहाँ, खैर यही सुन रखेंगे। बनारस तो अवश्य ही नहीं जाओगे, यह तो मैं तुम्हारा हाथ मारकर कहता हूँ। श्रीमतीजी तो कंसकारागारमें ही हैं न—या कहीं कुछ हुआ तो नहीं?"

किसी तरह इसका भी उत्तर देकर राजेन्द्रने मित्र-मण्डलीसे छुटकारा पाया। पश्चात् जल्दीसे सिरपर पानीका पुट देकर बालोंको ठीक किया और हैंडबेगमें नयी चीज रखकर उसे हाथमें लटकाकर रवाना हुए। अबकी बार सहपाठियोंने छेड़छाड़ नहीं की। राजेन्द्र निर्विघ्न नीचे

उतर आये।

बालमुकुन्द तिवारी नामक एक पोस्टमैन नीचेके कमरेमें चिट्ठियाँ बाँट रहा था। राजेन्द्रने उसे देखकर भी यह नहीं पूछा कि कोई पत्र है या नहीं। पिताका पत्र अभी कल आया ही था, किसीके पत्रकी प्रतीक्षा तो थी नहीं, आज भी सुबहकी डाकसे पत्र आया ही था। हो सकता है कि शीघ्रताके कारण ही उन्होंने न पूछा हो। किन्तु राजेन्द्रपर दृष्टि पड़ते ही बालमुकुन्दने कहा—"आपकी दो चिट्ठियाँ आयी हैं।"

"किसकी, मेरी?" यह बात चकित होकर कहते हुए पत्र लेनेके लिए राजेन्द्रने हाथ बढ़ाया।

"कल दो चिट्ठियाँ दी थीं। आज फिर दो। जरूर कुछ खुशीकी खबर आयी होगी। लेकिन हमें कुछ भी बक्सीस नहीं मिला बाबूजी।"

डाककी छापमें बनारसका नाम और लिफाफेपर पिताका हस्ताक्षर देखकर पहले उसी पत्रको गौरसे देखते हुए राजेन्द्रने जवाब दिया—"हाँ भाई, खबर तो खुशीकी ही है, पर अभी फुरसत कम है, लौटनेपर तुम्हें जरूर कुछ देंगे।"

"बहुत अच्छा, मैं तो हुजूरका तावेदार हूँ।"

पोस्टमैन बालमुकुन्द प्रसन्नचित्त चिट्ठी बाँटनेके लिए ऊपर चला गया। राजेन्द्र भी पत्र खोलकर पढ़ने लगे।

"शुभाशीर्वाद—

राजेन्द्र! नीति है कि "प्राप्तेतु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्" सो तुम्हारी अवस्था तो इससे कहीं अधिक हो चुकी; इसलिए जो कुछ स्पष्ट बातें हैं, उन्हें दूसरोंके द्वारा तुम्हारे पास न भेजकर मैं स्वयं ही लिख रहा हूँ। तुम्हारी स्त्रीके साथ मैंने अपना सब तरहका सम्बन्ध विच्छेद कर दिया है। यदि तुम मेरे पुत्र होगे तो तुम भी मेरी आज्ञा शिरोधार्य करके आजीवनके लिए उसके साथ अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लोगे और सम्पूर्ण रूपसे उसे विस्मृत कर दोगे। यदि पितृ-आदेशका उल्लंघन करोगे, तो एकमात्र सन्तान होनेपर भी मैं तुम्हें परित्याग कर दूँगा। मुझे विश्वास

है कि तुम मेरी आज्ञाका पालन करोगे। किमधिकम्। अपना कर्त्तव्य स्थिर कर लो।

शुभाकांक्षी—

सदानन्द त्रिपाठी"

राजेन्द्रके हाथसे पठित एवं अपठित दोनों पत्र एक साथ ही जमीनपर गिर पड़े। आँखोंके सामने अँधेरा छा गया। बगलकी दीवार पकड़कर किसी तरह गिरनेसे बच गये।

उस समय बाहर उत्साह और उद्यमसे भरे हुए संसार-पथके नवीन पथिक दल बाँधकर कालेजसे घर आ रहे थे और कुछ युवक क्रीड़ा-क्षेत्रकी ओर जा रहे थे। युवावस्थाका दीप्त सूर्य सबके मुँहपर पूर्ण तेजसे जल रहा था। भीतरी उत्साहके कारण बाहरसे भी सबके-सब प्रसन्न और विकसित थे। कोई गाता था, कोई हँसता था और कोई अपने मित्रको जज समझकर उसके सामने कानूनी जिरह करता था।

राजेन्द्रके शरीरमें इन सबसे कुछ भी चेतनाका प्रवेश नहीं हुआ। अनन्त शब्दोंसे परिपूर्ण आकाशकी शब्द-लहरीकी कोई भी ध्वनि उनके कानोंमें प्रवेश न कर सकी। अकस्मात् उनके दिलमें यह बात पैदा हुई कि कदाचित् यही पत्र बाबूजीके हाथका अन्तिम पत्र होगा।

११

संसारमें जिस समय जिसकी आवश्यकता होती है, उस समय उसकी उलटी वस्तु ही प्राप्त होती है। प्रायः देखा जाता है कि खेतीके लिए, जिस समय पानीकी आवश्यकता रहती है, उस समय तो सूखा पड़ता है और जिस समय सूखाकी आवश्यकता होती है, उस समय बूड़ा आता है। सुभद्राके लिए भी यही बात लागू होती है। हमारे देशकी स्त्रियाँ

स्वाभाविक ही अधिक दिनोंतक जीवित रहना पसन्द नहीं करतीं। तिसपर समधीके साथ विरोध होनेके कारण तो सुभद्रा और भी एक क्षण अपना शरीर नहीं रखना चाहती। पर अपनी सोची बात कभी नहीं होती। सुभद्राकी अभिलाषा पूरी नहीं हुई।

एक दिन वैद्यराज और डाक्टर दोनों एक साथ आकर रोगीकी देख-रेख करने लगे। दोनोंने आपसमें विचार करके कहा कि रोगीकी नाड़ी अब ठीक हो रही है। अब रोग बहुत जल्द हट जायगा।

यह सुनकर मनोरमाके विषण्ण मुखपर प्रसन्नताकी आभा झलकने लगी। श्रीनिवास महाशयने भी ऊँची साँस लेकर कहा, 'सब आप-लोगोंकी कृपा है।'

डाक्टर साहबको दूसरी जगह जाना था, इसलिए वह अपनी फीस लेकर तुरन्त ही वहाँसे चले गये। पर वैद्यराज बैठे ही रहे। कुछ वसूल करनेके लिए अब वैद्यराजको अच्छा मौका मिला। उन्होंने कहा कि, मुझे कलकी दवापर पूरा विश्वास था। इसीसे आज मैं उसके बाद जो दवा दी जाती है, उसे लेता आया। यह दवा है तो बहुत ज्यादा कीमती, पर दो ही खूराकमें रोगका नाश हो जायगा।

श्रीनिवासने कहा—"कोई चिन्ता नहीं वैद्यजी! जो दाम लगेगा, मैं दूँगा। किसी तरह रोगका नाश हो जाना चाहिये।"

वैद्यजी घरसे राखकी दो पुड़िया बनाकर लेते आये थे। उसे निकाल-कर उन्होंने श्रीनिवासके हाथपर रख दिया! कहा—"यह सोना-भस्म मोतीकी आँचसे बनाया गया है। इसकी कीमत २५) पचीस रुपया है। यह भस्म रामबाणकी तरह इस रोगपर काम करता है।"

श्रीनिवासने मनोरमाके ससुरको देनेके लिए कुछ रुपये कर्ज लिये थे। उसमेंसे कुछ रुपये बचे थे। उन्होंने तुरन्त ही २५) लाकर वैद्यजीके पैरोंपर रख दिया और नम्रताके साथ कृतज्ञता प्रकाश करते हुए कहा कि यदि रोग अच्छा हो जायगा तो मैं आपको प्रसन्न कर दूँगा। अभी मैं केवल दवाका मूल्य दे रहा हूँ।

वैद्य—"क्या मैं कुछ कहता हूँ ? रोग अच्छा हो जाय भाई, मुझे कुछ लेनेकी लालच नहीं है। यह संसार असार है। न कोई कुछ लेकर आया है और न लेकर जायगा ही। अरे, यही बातें कहनेके लिए रह जायँगी। यदि मुझमें शक्ति होती तो मैं दवाका दाम भी न लेता।" यह कहते हुए वैद्यजीने रुपयोंकी गुल्ली तो टेंटमें की और पुनः कहा—"अच्छा आज मैं जाता हूँ, कल सबेरे आऊँगा। एक पुड़िया पानमें अभी दे दीजिये, और एक पुड़िया दस बजे रातको शहदके साथ चटा दीजियेगा।"

श्रीनिवासने हाथ जोड़कर कहा—"बहुत अच्छा।" वैद्यजी उठकर चले। श्रीनिवास भी उनका सम्मान करनेके लिए मकानके फाटकतक पहुँचाने आये। वैद्यजीको बिदा करके वह ज्यों ही पीछे फिरे, त्यों ही एक वृद्ध किसान मैली-कुचैली धोती पहने, पुरानी मिरजई कन्धेपर रखे और डुपटा माथेपर बाँधे बोल उठा—"भैया, इहाँ थोरेक पानी पीयइके मिली?"

श्रीनिवासने कातर नेत्रोंसे उस वृद्धकी ओर देखकर कहा—"हाँ हाँ, मिलेगा क्यों नहीं। तुम कौन जात हो ?"

"हम तो ब्राह्मण हई।"

"अच्छी बात है। भीतर आओ।"

वृद्धको लिये हुए श्रीनिवास भीतर गये। मकानके चबूतरेपर उसे बैठा दिया और आप जल लानेके लिए नौकरको पुकारने लगे। इतनेमें जगन आ गया। कहा—"थोड़ा-सा साफ जल इन्हें पीनेके लिए ले आओ। और सुनो, घरसे एक कटोरीमें थोड़ा मीठा भी लेते आना।

"बहुत अच्छा" कहकर जगन जल लानेके लिए चला गया। वृद्धने कहा—"भैया, मीठा खायेके इच्छा नाहीं बा। खाली पानी पीयब।"

"नहीं नहीं, खाली पानी पीना टीक नहीं, महाराज।"

ब्राह्मणने कुछ नहीं कहा। श्रीनिवास चबूतरेपर टहलने लगे। थोड़ी देरमें जगन एक कटोरीमें बर्फी और एक लोटेमें पानी लेकर आया। ब्राह्मणने कहा—"मिठाई तो हम न खाब भैया। काहेसे कि मिठाईमें बिलायती चीनी परथै।"

ब्राह्मणकी इस बातपर श्रीनिवास बहुत प्रसन्न हुए। मन-ही-मन कहने लगे—"धन्य हैं भारत-भूमिके किसान! इतने दिनोंके विदेशी अत्याचारोंने एकदम भिक्षुक बना दिया, पर इनके हृदयोंपर विदेशी प्रभाव न पड़ा! शहरके रहनेवालोंमें वास्तवमें केवल ऊपरी चमक-दमक है, मानस एकदम पतित हो गया है।" इसके बाद उन्होंने कहा—"यह मिठाई घरकी बनी हुई है, आप इसे खा सकते हैं।"

"भैया, हमरे पास गुड़ बाटै, इहइ, खाइ लेथई। एके रहइ देई।"

"नहीं, आप इसे खा लें। यदि यह मिठाई अशुद्ध होती, तो मैं हर्गिज आपको न खाने देता।"

ब्राह्मणने फिर कुछ नहीं कहा। मिठाई खाकर पानी पी लिया और आशीर्वाद देता हुआ जानेके लिए पगड़ी बाँधने लगा। इतनेमें ही जगनने कहा—"भैया, दवा तो दी गयी; पर कै का होना बन्द नहीं हुआ।"

"क्या फिर कै हुई है?"

"जी हाँ।"

श्रीनिवास घरमें चले गये। ब्राह्मणने जगनसे पूछा, "का केहू दिक बा?"

"हाँ।"

"तनी भैयासे कहि आव हमहूँ देखा चाही थै।"

"क्या आप नाड़ी देखना जानते हैं?"

"हम देहाती मनई हई, अइसइ थोर-बहुत जानी थै।"

जगन घरमें जाकर मालिकसे पूछ आया और फिर ब्राह्मणको साथ लेकर रोगीके पास गया। ब्राह्मणने सुभद्राकी नाड़ी देखकर कहा, "कोठा-में गर्मी बहुत बा। अच्छा हम एक बिरई लेइ आई थै, आप ओके पियाइ देई।"

श्रीनिवासको वैद्यजीकी कीमती दवापर बहुत बड़ा विश्वास था। इसलिए उन्होंने कहा, "पर अभी तो एक बड़े अच्छे वैद्यकी दवा दी गयी है। शामके वक्त एक पुड़िया और दी जायगी। अगर वह दवा फायदा

न करेगी तो आपकी दवा मैं सबसे पहले करूँगा। क्योंकि बार-बार दवा-का बदलना भी ठीक नहीं है। क्या आजके दिन मुझपर दया करके यहाँ आप ठहर न सकेंगे ?"

श्रीनिवासके स्वभावसे वृद्ध ब्राह्मण पानी हो गया था। उसने रुक जाना स्वीकार कर लिया। रातमें रोगीको दूसरी पुड़िया शहदके साथ फिर दी गयी। पर रोग बराबर बढ़ता ही गया।

सबेरा हुआ। ब्राह्मणने नाड़ी देखी। कहा—"हम अबहीं दवा लेइकै आवथई।"

ब्राह्मण दवा लेनेके लिए चला गया। वैद्यराज फिर आ गये। नाड़ी देखकर कहने लगे, "ओफ! रोग बहुत कड़ा था। मैंने तो समझा था कि दो पुड़ियामें रोग जड़से निकल जायगा, पर अभी उसका कुछ अंश रही गया। अभी दो पुड़िया और देनेकी जरूरत है।"

ऐसी ही कुछ अण्डबण्ड बातें वैद्यराज कर रहे थे कि वृद्ध ब्राह्मण जड़ी लेकर आ गया। वृद्धके कथनानुसार पाँच दाने मिर्चके साथ पीसकर वह जड़ी रोगीको पिला दी गयी। पाँच मिनटमें ही रोगीकी आँखें खुल गयीं। उलटी भी बन्द हो गयी! इस अद्‌भुत चमत्कारको देखकर वैद्यराजका तो होश ठिकाने आ गया। श्रीनिवास भी दंग रह गये। वृद्धने कहा, "अच्छा भइया, ई बिरई लेइ लेईं, एहीके तीन दाईं दिनभरेमें एही तरहसे पियाइ देब। आजुभरेमें रोगी एकदम अच्छा होइ जाई। अब हम जाथई।"

श्रीनिवासने रहनेके लिए बहुत जोर दिया, पर ब्राह्मण नहीं रुका। श्रीनिवास ३०) ब्राह्मणको देने लगे। ब्राह्मणने कहा—"भैया हमलोग दवाई नाहीं बेचित। दवाई अउर गुनकै दाम लेवइके बराबर पाप संसारमें एकौ नाहीं हौ।"

अन्तमें ब्राह्मण चला गया। वैद्यजी भी अपना-सा मुँह लेकर उसे कोसते हुए चले गये। उस जड़ीसे सुभद्रा एक ही दिनमें रोगमुक्त हो गयी, सिर्फ कमजोरी रह गयी।

अभीतक सुभद्रा और मनोरमा दोनोंको बनारसकी बातें बिल्कुल नहीं मालूम थीं। अचानक एक दिन सुभद्राने स्वामीसे कहा—“मानूके जानेका सामान ठीक कर दो न। कहीं ऐसा न हो कि वहाँसे सुदेवस दो-ही एक दिनके बाद बिदा करानेके लिए आ जाय। इसके ससुरका स्वभाव तो जानते हो। फेरफार करना भी तो ठीक नहीं !”

श्रीनिवास सारी बातें स्त्री और कन्याको सुना न सके। पर सत्य बात अधिक दिनोंतक छिपी न रह सकी। मनोरमाके हृदयमें दुर्भाग्यकी काली छाया दिनपर-दिन गम्भीर होती जा रही थी। एक पत्र तो निश्चय ही, कभी-कभी दिनभरमें दो-दो पत्र लिफाफेमें बन्द करके राजेन्द्र मनोरमाके लिए भेजा करते थे; पर इधर इतने दिनोंमें मनोरमाके सन्तप्त हृदयको शान्त करनेके लिए उनका एक पत्र भी नहीं प्राप्त हुआ।

पत्रको कौन कहे इतने दिनोंके भीतर कभी उसे स्वामी अथवा घरका कुशल-समाचार भी नहीं मिला। जो भामा उसे रोजाना एक पत्र देनेके लिए वचन दे चुकी थी, वही एक पत्र भी न भेजकर उसे भूल कैसे गयी ? पहले तो कई दिनोंतक माँकी बीमारीमें मनोरमाका ध्यान इस ओर नहीं गया, पर जब माँको कुछ आराम हुआ तो उसे इस चिन्ताने घेर लिया। अचानक एक दिन वह आनन्द-विह्वल होकर सिरके अगले भागका बाल ठीक करने लगी। बढ़िया रेशमी साड़ी भी उस दिन उसके बदनपर दिखायी पड़ी। सिन्दूरके साथ टिकुली भी मस्तककी शोभा बढ़ानेके लिए आ विराजी। ऐसा क्यों हुआ ? इसलिए कि वह स्वामीको आनेके लिए लिख चुकी थी। उसे आशा थी कि अब आज-ही-कलमें प्राणनाथके दर्शन अवश्य होंगे। पर हायरे दुर्भाग्य ! दिनपर-दिन बीतता चला गया, किन्तु उसकी आशा सफल न हुई। होनहार बड़ा ही प्रबल है। मनुष्यका कोई दोष नहीं।

१२

दिनके बाद रात और रातके बाद दिन बीतने लगा। चिन्तारूपी जाल मनोरमाके शरीर और मनको लोहेकी सुदृढ़ शृंखलासे धीरे-धीरे कसने लगा। चिन्ता-ज्वरसे उसका अनुपम सुन्दर बदन काला हो गया। स्वास्थ्य एकदम खराब हो गया। यौवनावस्थामें ही वह प्रौढ़त्वकी अन्तिम सीमापर पहुँच गयी। निश्चय ही कुछ दालमें काला है—किन्तु वह कुछ क्या ? ससुरकी तबीयत तो अच्छी है, नहीं तो जरूर ही खबर मिलती ? सासके सम्बन्धमें भी यही बात है। तो फिर और क्या हो सकता है ? भामाने भी तो कई चिट्ठियोंका जवाब नहीं भेजा। तो क्या उनको ही कुछ—नहीं, नहीं; ऐसा होता तो इलाहाबादसे क्या एक पत्र भी न आता ? अच्छा तो फिर हुआ क्या ? हा भगवान् ! इस राक्षसीको तुमने जन्मते ही क्यों नहीं मार डाला ? सम्भव है, पढ़नेमें लगे रहनेके कारण पत्र न लिख पाते हों; किन्तु क्या इतनी व्याकुलतामें और इतना अनुनय-विनय-पूर्वक दो पत्र लिखनेपर भी एक पत्र देनेके कारण उनका परीक्षाफल मिट्टीमें मिल जाता ? आप न आ सकते, तो न सही—पर क्या मेरे लिए वह एक चिट्ठी लिखनेका समय भी खर्च नहीं कर सकते ?

सुभद्रा इस रोगसे मुक्त हो गयीं; किन्तु अब उनका जीवन उन्हींके लिए पहाड़ हो गया। धीरे-धीरे उनके शरीरकी कमजोरी भी दूर होने लगी। अब वह बिछौनेसे उतरकर जूस-पानी लेने लगीं। एक दिन उन्होंने पड़ोसिनसे कहा कि शायद मेरी बीमारीके कारण ही मानूके ससुरने सुदेवस नहीं भेजा है। इसलिए उन्हें अब लिखवा दें कि मेरी तबीयत अच्छी हो गयी। मेरी समझसे इतना इशारा कर देनेसे नाराज हैं तो क्या, सुदेवस जरूर भेजेंगे और मानूको ले जायँगे। इतना सुनकर मनोरमाके विमर्ष मुँहपर कुछ हँसीका आभास दिखाई पड़ा।

पड़ोसीके घरकी एक स्त्रीने कहा—"यह क्या मानूकी माँ, तुम्हें क्या

हो गया है ? इस महीनेमें भला मानू ससुराल कैसे जा सकती है ! यह मलमास है न ! भला सुदेवस वह कैसे भेजेंगे ? तुम्हारी इतनी उमर हो गयी, पर अभीतक यह मालूम नहीं ? मैं तो यह बात पहले ही समझती थी; पूछती हूँ कितने दिन हुए हैं तो यह ऐसी लड़की है कि हँसकर मुँह छिपा लेती है—कुछ बोलती ही नहीं।

सुभद्राने इस आनन्दकी बातमें भी जरा चिन्तित होकर कहा—"तब तो फिर उस महीनेमें भी इसका जाना नहीं होगा बहन। जेठके महीनेमें तो किसी हालतमें नहीं बन सकता।"

पड़ोसिनने कहा—"असाढ़में आठ महीनेका होगा, इससे असाढ़में भी नहीं बनेगा। बस इसका जाना सावनमें ही होगा। लेकिन वह भी अभी कुछ ठीक नहीं।"

सुभद्रा—"हाँ और क्या ! कौन जाने सोंठउरा यहींपर बँटवाकर, बच्चेको गोदमें लेकर हमारी मानू अपने ससुरके घर जाय। यही अच्छा होगा री मानू !"

मनोरमाने हास्य-भावसे झुँझलाकर कहा—"हट उधर। बूढ़ी हो गयी, मुझसे भी पदोरी करती है। ले तू यहाँ सीधे नहीं बैठने देगी तो मैं यहाँसे चली जाती हूँ।" यह कहकर मनोरमा उठकर जाने लगी; पर पड़ोसिनने मनोरमाकी धोती पकड़कर फिर अपने पास बिठा लिया और कहा—"अच्छा अब तुझे कोई कुछ न कहेगा मानू, बैठ चुपचाप।"

श्रीनिवास यह शुभ-समाचार सुनते ही पुलकित हो उठे; पर इस प्रसन्नताके समयमें ही उनके हाथका लिखा हुआ लिफाफा बनारससे वापस आकर उन्हें मिला। काली स्याहीसे लिखा हुआ था और उसे किसीने भी खोला नहीं था। केवल काली स्याहीके अक्षरोंको काटकर लिफाफेके ऊपर लाल स्याहीसे भेजनेवालेका ठिकाना छोटे अक्षरोंमें लिखा था। लिफाफेका हस्ताक्षर किसी दूसरेका नहीं था। वह था सदानन्द त्रिपाठीके हाथका लिखा हुआ। चिट्ठीको जिस समय वापस आना चाहिये था, उसी समय वह वापस आ गयी। उसपर लिखा

भी था "लेनेसे इनकार किया" (Refused)।

सावन-मास आ गया। त्रयोदशीके दिन एक मुहूर्त्त मनोरमाके जानेके लिए बहुत अच्छा था। महाशय श्रीनिवासको बहुत कुछ आशा थी कि पत्र वापस कर दिया तो क्या, इस तिथिपर कोई-न कोई मानूको लेनेके लिए अवश्य आवेगा। इसीसे वह मनोरमाकी तैयारी भी कर चुके थे। पर जब कोई झाँकनेतक न आया, तो उनका चित्त बहुत खिन्न हुआ। मनमें स्वभावानुसार तरह-तरहकी भावनाएँ उत्पन्न होने लगीं। क्या प्रयाग जाना ही ठीक है? पर वहाँ जानेसे काम न चलेगा। नहीं, लड़कीका दायित्व तो उन्हींपर है न! अच्छा जाकर क्या कहना चाहिये? यों जाना तो ठीक नहीं, किसी बहानेसे ही जाना चाहिये। यदि आज कोई लड़का होता तो इस मौकेपर जानेके लिए अच्छा मौका मिल जाता। और नहीं तो उसे पढ़नेके लिए कालेजमें जाँच करने या उनसे कुछ पूछनेका ही बहाना मिलता। हाय भगवान्! तुमने पहलेसे ही सब रास्तोंमें काँटे बिछा दिये हैं। यही सब सोचते-विचारते फिर महीनों बीत गया।

भाद्रपद कृष्णाष्टमीके दिन दुःख-निवारणार्थ सान्त्वना-स्वरूप मनोरमाके एक चन्द्रमाके समान सुन्दर प्रतिभावान् बालक उत्पन्न हुआ। उसका जो शरीर पहले मृत्युकी ओर झुक रहा था, जीवनकी सारी घटनाएँ उसे विषकी तरह मालूम होती थीं, वही शरीर एक मनोहर बालक पैदा हो जानेके कारण हरा-भरा होकर अमर-सा हो गया। मानो ऐश्वर्य-भण्डार ही उसे प्राप्त हुआ हो। इस तरह रह-रहकर अब वह बच्चेके मुँहकी ओर निहारने और आनन्दित होने लगी। स्त्रियोंकी चोरीसे किसी समय मौका पाकर वह बच्चेका मुँह चूमने और ठोंक-ठोंककर उसे सुलानेमें समय बिताने लगी। आनन्दके मारे अब उसके रक्त-हीन अधरोंपर साधारण लालिमाके साथ हास्याभास दिखाई पड़ने लग गया।

लड़का पैदा होनेका शुभ-संवाद पत्र द्वारा भेजना उचित न समझकर देशकी प्राचीन प्रथाके अनुसार आदमी द्वारा ही भेजा गया। बिहारी नाई ही इस घरका यह सब काम करता था। मनोरमाके विवाहके समय

भी यही था। मनोरमाके ससुरकी क्षुद्रतासे वह अच्छी तरह परिचित था; किन्तु घरमें जो काम आता, वह तो उसे करना ही पड़ता। इसीसे बिहारी बिना चूँ किये समाचार लेकर बनारस चला गया।

सदानन्द महाशयके घर जाकर बिहारीने सुसंवाद सुनाया। आधे घंटेके भीतर ही यह समाचार कुटुम्बभरमें फैल गया। अड़ोस-पड़ोसके दस-बीस आदमी भी सदानन्दके यहाँ जुट गये। सबलोगोंके सामने ही सदानन्दने बिहारीसे कहा—"श्रीनिवासने हमारे यहाँ लड़कीका व्याह करके अच्छा नहीं किया। हमलोग ब्राह्मण तो हैं नहीं। हमलोग तो चमार हैं, व्यवहार कसाईकी तरह करते हैं, काम हमलोगोंका डोमड़ोंसे भी अधम है। इसलिए उनसे जो गलती हो गयी, वह हो गयी, पर अब वह क्यों यहाँसे आना-जाना रखकर स्वयं भी हमलोगोंके साथ पतित होते हैं? खानदानीकी कन्या भला हमारे घरमें कैसे रहेगी?"

बिहारी—"ये बातें आपसे कहता कौन था, हुजूर?"

सदा०—"क्या असली बात भी छिपी रहती है? वह भले ही समझते रहें कि मेरी बातें कोई नहीं सुन रहा है; पर सुननेवाले तो सुन ही लेते हैं। खैर, इन बातोंमें क्या रखा है, मैं यों ही बक रहा हूँ, वह यही समझें। पर हमारे यहाँसे अब वह किसी बातकी आशा न करें, क्योंकि मैंने उनकी लड़कीको त्याग दिया है।"

बिहारी—"सरकार ऐसा करनेसे भला कैसे काम चलेगा? चार आदमी आपपर भी हँसेंगे और उनकी तो जिन्दगी ही खराब हो जायगी।"

सदा०—"क्या तू हमें सिखानेके लिए आया है? छिः! क्या मुझे इतनी बुद्धि ईश्वरने नहीं दी है कि मैं अपनी इज्जत बचा सकूँ? उनके कहनेसे मैं थोड़े ही छोटा हो जाऊँगा! उन्हें लज्जा आनी चाहिये अपनी कन्याके चरित्रपर। पहले वह अपनी इज्जत तो देखें, पीछे दूसरोंको कहें। भला उस भ्रष्ट औरतको अपने घरमें कौन बुलावेगा? क्या मुझे भी वह अपनी तरह नीच बनाना चाहते हैं? क्या तू उस पैदा हुए लड़केको और उसकी माँको पवित्र समझ रहा है? एक हफ्तेमें भेजनेके लिए कहा था,

क्यों नहीं भेज दिया ? मैं सब जानता हूँ ।"

मनोरमाके ससुरने जो-जो बातें कहीं, बिहारीने उनको अच्छी तरहसे निःसंकोच होकर श्रीनिवासको सुना दिया। श्रीनिवास नीचे सिर करके आँसूकी धारासे रूमाल तर करने लगे। बिहारी रसूम लेकर घर चला गया। मनोरमा भी अपने ससुरका उक्त कथन सुननेसे वंचित न रही। उसके शरीरसे ज्वाला निकलने लगी। बहुत देरतक चुप बैठी हुई वह अपना कर्त्तव्य स्थिर करती रही। ऐसे समयमें क्या लज्जा करनेसे काम चल सकता है ? साधारणसे-साधारण सच्चरित्राके लिए यह बात असह्य हो सकती है, मनोरमा-जैसी पंडिताके लिए तो कुछ कहना ही व्यर्थ है।

अगहनका महीना था। मनोरमाने लोक-लज्जा छोड़कर माँसे कहा—"माँ, मुझे जितनी जल्दी हो सके, आज या कल, एक बार प्रयाग पहुँचवा दो।"

सुभद्रा अपने स्वामीसे कई दिनोंतक मनोरमाकी बातपर बहस करती रही। स्वामी तो कन्याके पहुँचवानेके पक्षमें थे, और स्त्री उसके विपक्षमें। स्वामीका कहना था कि, अब तो इज्जत उतर चुकी, लज्जा करना व्यर्थ है और स्त्रीका कहना था, "साँचको आँच क्या ?"

सुभद्राने लड़कीसे पूछा—"भला तू कैसे उनके सामने जाकर खड़ी होगी री मानू ? तेरी हिम्मत कैसे पड़ेगी ?"

मनो०—"न जानेसे कैसे काम चलेगा माँ ? अब मैं लोगोंके सामने कौन-सा मुँह दिखलाऊँगी ? ऐसे जीनेसे तो मर जाना ही अच्छा है।" कहते-कहते मनोरमाकी आँखोंसे आँसूकी बूँदें छलछलाकर बच्चेके शरीरपर जा गिरीं। बालक जाग उठा और दोनों हाथ-पैर उछालने लगा। माताने आँसू भरे नेत्रोंसे देखा और मुँह फेर लिया।

समधीकी बातोंसे श्रीनिवासका कलेजा एकदम सूख गया। मन-ही-मन अपने भाग्यको कोसने लगे। कहने लगे—"भगवान् ! तुम्हारी लीला कैसी विचित्र है, समझमें नहीं आती। मैंने मनुष्यत्वपर ध्यान न देकर

धन देखा, उसीका यह फल मिला। लड़कीका जीवन सचमुच मैंने ही नष्ट किया है। मेरा उद्धार कैसे होगा? किन्तु धनके बिना मनुष्यत्व कहाँ! यदि होता तो मुझे अपमानित ही क्यों होना पड़ता! नाथ! क्या इस निरपराधिनी कन्याको ऐसा भयंकर दुःख देना तुम्हें भी स्वीकार है! यदि नहीं, तो उस घरको तुमने बुद्धि-शून्य क्यों कर दिया!—तुम धनी हो, विद्वान् हो, सब कुछ हो, पर तुम्हारे इस तुच्छ विचारसे एक प्रतिष्ठित दरिद्र-घरका सर्वनाश हो रहा है। इसका फल भोगनेके लिए संसारमें क्या कोई वस्तु है? नहीं, नहीं! यह प्रायश्चित्त है! अदूरदर्शिता है! किसी कविने ठीक कहा है—"लायक ही सन कीजिये, ब्याह बैर अरु प्रीति।" मैंने इस कथनपर जरा भी ध्यान नहीं दिया, उसीका यह फल है। गरीब क्यों नहीं गरीबके समान रहता? वह अपनी शानमें आकर क्यों बड़ोंकी नकल उतारनेमें अपना सर्वनाश करता है? सच है, उच्चाकांक्षा रखनेसे ही कुछ नहीं होता, कर्त्तव्य-कर्म करनेकी भी आवश्यकता होती है।"

फागुनमें राजेन्द्रप्रसादके साथ नगवा-निवासी पं० गंगाधर मिश्रकी कन्या चन्द्रकलाके शुभ पाणि-ग्रहण संस्कार होनेका समाचार जिस समय लोक-प्रथाके अनुसार एक-एक करके श्रीनिवासके घर पहुँचा, उस समय श्रीनिवास रोग-शय्यापर पड़े हुए थे। यह संवाद सुननेपर उनके परलोक-गमनका समय अधिक दूर नहीं था। मृत्युके पहले उन्होंने दो बार कन्याके समीप कातर-नेत्रोंसे क्षमाकी भिक्षा माँगी। मनोरमाने रोकर कहा—"मैं अभागिनी हूँ बाबूजी, आपका क्या दोष है? आपकी तरह ससारमें कितनी लड़कियोंके जन्मदाता हैं?—पर बाबूजी! अब क्या सचमुच ही आप हमलोगोंसे अलग हो जायँगे?"

मनोरमाका अन्तिम वाक्य सुने बिना ही श्रीनिवासका प्राण-पखेरू सान्त्वना-पूर्ण बातें सुनकर उड़ गया। इस दुःख-सागरमें निमग्न होनेके कारण पहले तो मनोरमाने आत्म-हत्या कर लेनेका निश्चय किया, पर कुछ तो बालकके मोहसे और कुछ आत्म-हत्याके पापसे डरकर उसने

अपना विचार स्थगित किया और वीरताके साथ दुःखोंका सामना करना अपना कर्त्तव्य समझा।—यह तो सब पुरानी बातें हैं, अब आगेकी बातें देखनी हैं।

१३

मिर्जापुरके आधुनिक प्रतिष्ठित, धनी, विद्वान्‌के विवाहोत्सवके उपलक्ष्यमें समूचा शहर प्रमोद-सागरमें निमग्न था। इस सयय विवाह-सम्बन्धी आलोचनाके अतिरिक्त मिर्जापुर शहरमें दूसरी किसी भी बातकी कोई भी चर्चा नहीं कर रहा है। दूल्हेके कपड़े कैसे हैं, खिचड़ीके लिए कौन-सी व्यवस्था अच्छी की गयी है और कौन-सी बुरी, नाच-तमाशेके बन्दोबस्तमें क्या-क्या त्रुटियाँ हैं, आदि बातें ही क्या विन्ध्यवासिनी देवीके मन्दिरमें, क्या पतितोद्धारिनी भगवती जह्नु-सुताके तटपर और क्या कचहरी और स्कूलमें सब जगह हो रही थीं।

चार बज गये हैं। स्कूलकी छुट्टी हो जानेके बाद लड़कोंका समूह घर वापस आ रहा था। आजसे कई दिनोंके लिए लड़कोंको स्कूलसे छुट्टी मिली है। दल-बद्ध होकर रुचिके अनुसार कितने लड़के तो बारातकी ओर, कितने स्टेशनकी ओर और कितने हाथी-घोड़ोंके समूहकी ओर जा रहे हैं। एक लड़का और छात्रोंकी चोरीसे कुछ साहित्यिक आलोचना करनेके लिए एक जगह अपने दो-तीन मित्रोंको लेकर बैठा हुआ था। इस बारातमें भारतवर्षके प्रायः सभी प्रतिष्ठित साहित्यिक विद्वान् आमन्त्रित किये गये हैं। छः बजकर कई मिनटकी ट्रेनसे वे स्टेशनपर उतरेंगे। ध्वजा-पताका हाथमें लेकर विद्वानोंका सम्मान और अभ्यर्थनापूर्ण स्वागत करनेकी इच्छा थी। थोड़ी दूरपर एक हट्टा-कट्टा और सुन्दर बालक—अवस्थामें उसे अबोध बच्चा कहा जा सकता है—

और लड़कोंसे हटकर एक किनारे बैठा अपनी पाठ्य-पुस्तकका चित्र उलट-पलटकर देख रहा था। उसकी उपेक्षा करके उसीका एक सहपाठी पीछेसे बोल उठा, "हत्तेरेकी! यह लड़का एकदम बह गया है! अबे ओ उल्लू! तेरी किताब हवामें उड़ थोड़े ही जायगी! आजके दिन तो इसे बन्द रख, घर जाकर देखना। सब जानते हैं तू बड़ा मिहनती है।"

'उल्लू' सम्बोधित बालकमें कोई भी बात उल्लू कहलाने योग्य नहीं थी। वह आठवें दर्जेका सबसे तेज छात्र है। इसके पहले भी पिछली सब कक्षाओंमें वह क्लासके सब लड़कोंमें 'फर्स्ट' हुआ था। यहाँतक कि एक बार उसे डबल प्रमोशन भी मिला था। अपनी पाठ्य-पुस्तकोंको छोड़कर उसका और किसी तरफ जरा भी झुकाव नहीं था। सहपाठीके तानेपर बालकने अपनी पुस्तक बन्द कर ली और कहा,—"नहीं, भाई मैं तो घर जा रहा हूँ; एक बात भूल गया था, उसीको रास्तेमें याद करनेके लिए देखने लग गया।"

सहपाठीने उसके गलेपर हाथ रखकर कहा,—"अभी कोई घर जा रहा है कि तुम्हीं घर जाओगे? सबलोग घर चलेंगे, जल्दी क्यों मँचाते हो?"

एक दूसरे लड़केने आकर रोकनेवालेका हाथ पकड़कर खींचते हुए कहा,—"हमलोगोंका और इनका क्या साथ जी? यह जो तेज लड़के हैं! जाओ जी जाओ तुम! अभी हमलोग नहीं जायँगे। चल यार, जरा उधर चलकर तमाशा देखें।"

तीसरेने बालकका हाथ पकड़कर कहा,—"उठकर साथ चलो, नहीं तो मैं तुम्हारी किताबें उठाकर फेंक दूँगा।"

बालकने हाथ छुड़ाकर पुस्तकें समेट लीं। फिर नम्र भावसे कहा,—"घर न जानेसे माँ नाराज होगी! इस वक्त मैं कहीं नहीं जा सकता। कल सबेरे देखा जायगा।"

"अच्छा—भूल हुई! तुम्हारी ही तो नयेनोखेकी माँ हैं,—हम-

लोगोंकी माँ तो हैं नहीं ! हमलोगोंको घरमें कोई कहनेवाला थोड़े ही है !"

"हमलोग तो घरसे निकाले हुए बेहूदे लड़के हैं,—यह जो माँके अच्छे और प्यारे लड़के हैं ! जाओ भाई जाओ तुम ! तुम्हारा गला सूख गया होगा, जाकर माँका दूध पियो ।"

बालक सिर नीचे कर, चुप रह गया। क्योंकि इस समय सब लड़के एक हो गये थे। अकेला बालक चुप रहनेके सिवा और करता ही क्या ?

ऊँची श्रेणीमें पढ़नेवाले और सयाने कई लड़के दल बाँधकर बगलसे जा रहे थे। किसीने पीछेसे पुकारकर पूछा,—"तुमलोग कहाँ जा रहे हो ?" उत्तर मिला, "स्टेशन जा रहे हैं, तुम नहीं जाओगे क्या ?"

"मुझे तो कुछ मालूम नहीं हुआ यार। क्या आज कोई आ रहा है ?"

"सुना तो है कि बहुत-से साहित्यिक विद्वान् आवेंगे।"

"तब तो मालूम होता है कि राजेन्द्रप्रसाद भी आवेंगे ?" यह सुनते ही अधोमुखी बालक चौंक उठा !

"कौन राजेन्द्रप्रसादजी ! बिहारके बाबू राजेन्द्रप्रसाद, जो नेता हैं ?"

"नहीं नहीं, वे नहीं। राजेन्द्रप्रसाद त्रिपाठी बनारसवाले—अंग्रेजी तथा हिन्दीकी मासिक पत्रिकाओंमें बहुधा उनकी कविताएँ और लेख निकला करते हैं, तुमने उनकी रचनाएँ कभी पढ़ी नहीं क्या ? वह तो बड़े प्रसिद्ध कवि हैं।"

"अच्छा—वही राजेन्द्र त्रिपाठी ? हुँः ! वह एक मामूली लेखक हैं न कवि ! भला वह कबसे कवि हुए हैं ? जाओ तुमलोग, मैं जा चुका !"

"क्यों जी, त्रिपाठीजी तो साधारण लेखक नहीं हैं। उनके पद्योंमें विचित्र आकर्षणशक्ति रहती है ! हमें तो उनकी कविताएँ बहुत पसन्द हैं। क्या तुम्हें उनकी रचना पसन्द नहीं ?"

"अजी कुछ हो तब तो पसन्द आवे, या यों ही ! भाव नहीं, चमत्कार नहीं, पसन्द कैसे होगी ? सब उनकी कविताओंकी निन्दा करते हैं, तुम्हें

न-जानें कैसे पसन्द हैं।"

"तुममें यार यही तो दोष है। तुम अपनी बुद्धिसे तो कुछ विचारते नहीं, दूसरोंको आलोचनाएँ सुनकर याद करके उन्हें ही कहा करते हो।"

एक दूसरे विद्यार्थीने कहा—"यह कोई इन्हींकी बात थोड़ी ही है। आजकल हिन्दी-साहित्यमें प्रायः यही अन्धेर मचा हुआ है। परिश्रम करके लोग स्वयं तो किसीकी रचनापर ध्यान देते नहीं, किसी विद्वेषीके मुँहसे दो-चार बातें सुनकर बस आलोचक बन जाते हैं। यदि उसके विषयमें उनसे पूछा जाय कि क्या त्रुटि है, तो वे सुनी हुई बातोंको छोड़कर और कुछ भी नहीं कह सकते। यही कारण है कि हिन्दी साहित्यमें सिफारिशी आलोचक बढ़ रहे हैं। इस समय तो अच्छा लेखक और कवि वही है, जो आलोचकोंकी खूब सेवा-सुश्रूषा करता है।"

"अच्छा, तुम तो अपनी बुद्धिसे पढ़ते हो न! जाओ, मैं नहीं जाऊँगा। इसमें झगड़ा काहेका? मैं तो सीधी बात जानता हूँ।"

पुस्तकें बगलमें दबाकर तृतीय श्रेणीका वही बालक दौड़कर बड़े लड़कोंके दलमें मिल गया। जिस लड़केने राजेन्द्रकी कविताओंकी तारीफ की थी, उसके मुँहकी ओर उज्ज्वल, आशा-भरे नेत्रोंसे देखकर बालकने पूछा—"आप उन्हें पहचानते हैं?" बच्चेकी बात ठीक न समझ सकनेके कारण विस्मित होकर बड़े विद्यार्थीने पूछा—"किसे पहचाननेके लिए पूछते हो भाई?"

बालकने कहा—"श्रीयुत राजेन्द्रप्रसाद त्रिपाठीको?"

"राजेन्द्रजीको? नहीं, मैंने तो अभीतक उन्हें कभी देखा नहीं है, सिर्फ उनकी रचनाओंका अवलोकन किया है। क्यों? मालूम होता है तुम उनकी कविताओंको बहुत पसन्द करते हो?"

बालक—"मैं—मैंने तो उनकी एक भी कविता या लेख अभीतक नहीं देखा है। क्या आपके पास उनकी कविताएँ हैं, मुझे पढ़नेके लिए देंगे?"

"मेरे पास? नहीं, मेरे पास तो शायद न होंगी। मैं मासिक पत्र वगैरह मँगाता नहीं और न फाइल ही रखता हूँ। इधर-उधर किसी

लाइब्रेरीमें पढ़ लेता हूँ।"

बालकने एक ठंडी साँस ली। मुँह देखनेसे मालूम होता था मानो कोई बहुत बड़ी आशा भंग हो जानेके कारण वह कुछ क्षुब्ध हो गया है। इसी समय एक दूसरा लड़का उसी जगह आकर बोल उठा—"क्यों सुशील, तू साहित्यिक कबसे हो गया रे? बापरे बाप, आजकलके लड़कोंको न-जानें क्या होता जा रहा है! गला दबा देनेसे जिनके मुँहसे आज भी दूध निकल पड़ता है, वे भी साहित्यिक बन रहे हैं!"

सुशीलके दलके लड़के उस समय चले जा रहे थे। वह उन्हें रोक न सका। कारण यह था कि उसके सब साथी तो पहले ही व्यंग बोल चुके थे।

ट्रेनके फर्स्ट और सेकेण्ड क्लासके डब्बोंसे कई प्रतिष्ठित सज्जन उतरे। बारातकी ओरसे आये हुए आदमी उन्हें गाड़ी और मोटरपर बिठाकर पहुँचाने लगे। साहित्य-सेवियोंका समूह बारातकी ओरसे सम्मान करनेके लिए आये हुए आदमियोंसे अधिक था। एक लक्षपति साहित्यिक महाशय ड्योढ़े दर्जेमें बैठे हुए थे। उन्हें फर्स्ट या सेकेण्डमें न देखकर लोग चकित हो गये।

एकने पूछा—"आप इसमें कैसे?"

"क्या करूँ तीसरे दर्जेमें जगह न मिलनेके कारण लाचार होकर इसी डब्बेमें बैठना पड़ा। यदि बारातमें सम्मिलित न होना होता और कोई साधारण काम होता तो जगह न मिलनेपर मैं हर्गिज इस ट्रेनसे न आता।"

"तीसरे दर्जेके मुसाफिर बड़े ही मूर्ख होते हैं। जब डब्बेमें बैठ जाते हैं तो बस उसे वे अपने घरकी सम्पत्ति समझने लगते हैं। आपको फर्स्ट सेकेण्डमें आना चाहिये था। ड्योढ़ेमें तो बड़ी तकलीफ हुई होगी। अच्छा हुआ कि आपको तीसरे दर्जेमें जगह नहीं मिली, नहीं तो और भी अधिक कष्ट हुआ होता। इन पशुओंसे तो दूर ही रहना अच्छा है।"

"मैं तो ऐसा नहीं समझता। यदि शिक्षितोंका सहवास उन्हें न होगा और शिक्षित लोग उनसे अलग रहना चाहेंगे, तो क्या कभी देशका उद्धार

हो सकता है ? मैं तो फर्स्ट और सेकेण्ड क्लासमें सफर करना बिलकुल ही अनुचित समझता हूँ। मितव्ययिताकी ओर ध्यान रखना मेरा प्रधान सिद्धान्त है। बचे हुए रुपयोंको दुखियोंमें बाँट देना कहीं अच्छा है। शारीरिक सुखपर उतना ही ध्यान देना चाहिये, जितनेसे शरीरकी स्वस्थता बनी रहे। तीसरे दर्जेके सफरसे देशका अनुभव होता है और धनकी भी बचत होती है।"

प्रश्न-कर्त्ता महाशय इन बातोंसे बड़े ही लज्जित हुए और निरुत्तर हो उन्हें लेकर सबलोगोंके साथ ही बारातमें चले गये। उनलोगोंके बारातमें चले जानेके बाद लड़के भी लौट आये। लाचार होकर सुशीलको भी सबके साथ लौटना पड़ा। किन्तु लौटनेमें उन्हें सन्तोष नहीं था। राजेन्द्र कौन थे ? यही प्रश्न लड़के आपसमें एक दूसरेसे करते; पर किसीको भी मालूम नहीं था। बालक सुशील भी राजेद्रको देखनेके लिए लालायित था; किन्तु संकोचके मारे किसीसे पूछता न था। अपनी इस छोटी अवस्थामें ही वह पढ़ी हुई कविताओंकी आलोचना बड़े-बड़े लोगोंके सामने कर जाता था। कोर्सकी पुस्तकोंके अतिरिक्त भी वह माँकी दी हुई बालकोपयोगी बहुत-सी पुस्तकें पढ़ चुका था। इसीसे अध्यापकलोग उसपर और लड़कोंकी अपेक्षा बहुत स्नेह रखते थे। पर आज उसके मुँहसे एक शब्द भी न निकला।

शाम हो जानेके बाद जब सब लड़के अपने घर आये, तब उत्तेजना और व्यथासे परिपूर्ण वह भी उन्हींके साथ घर लौट आया। सुशीलके आनेमें जब कभी देर हो जाती थी, तब मनोरमा व्याकुल हो क्षण-क्षणपर राह देखा करती थी। आज भी वह सुशीलकी प्रतीक्षामें दरवाजेपर खड़ी थी। बालकके आते ही वह रुक्ष कण्ठसे बोली—"इतनी रात क्यों हुई रे सुशील?" माँके बोलते-न-बोलते ही बालक चुपचाप उसके हाथकी अँगुली पकड़कर माँके सहारे खड़ा हो गया। यह बिलकुल ही नयी बात थी। माँको कुपित देखनेपर वह हमेशा भय और कुछ अभिमानके कारण पत्थरकी मूर्तिकी तरह माँसे कुछ दूरीपर ही खड़ा रह जाता था,

कभी पास नहीं आता था और अन्तमें माँके शान्त होनेपर खूब आदर कराकर ही वह पास आता था। पर आज वह बात नहीं। मनोरमा इस व्यतिक्रमको देखकर आश्चर्यमें पड़ गयी। देखा, तो बालककी आँखें आँसूसे भरी हुई थीं। मनोरमाने फिर एक शब्द भी नहीं कहा। कई बार रोनेका कारण जरूर पूछा, किन्तु उत्तर न मिलनेपर उसने यही उचित समझा कि अभी इसे शान्त करूँ पीछे फुसलाकर ही पूछना ठीक होगा। बिना अधिक दुःख हुए यह इस तरह न रोता। बार-बार रोनेका कारण जाननेके लिए प्रबल इच्छा होते हुए भी बुद्धिमती मनोरमाने कुछ न पूछा और बालकको लेकर घरमें चली गयी। प्यारसे चुम्बन करती हुई बालको बहलानेकी बातें करने लगी।

थोड़ी देरमें मनोरमाने लक्ष्य किया तो मालूम हुआ कि अब बालकका रोना बन्द हो गया है। किन्तु चेहरेपर अब भी उदासी है। मनोरमा बालकके दुःखका कारण सोचने लगी। बालक किसी गम्भीर पुरुषकी तरह गहरी चिन्तामें डूबा हुआ था। इसीसे रह-रहकर उसकी दोनों आँखें वेदनाश्रुसे भर जाती थीं। वह ऐसी चिन्तामें क्यों? इस संसारमें दुःख और चिन्ताका विषय तो इस बालकके लिए जरूर है, पर अभी तो इसकी अवस्था उसका उपभोग करने लायक है नहीं! जो कुछ भाग्यमें है, वह तो अवश्यम्भावी है ही, फिर इस छोटी अवस्थामें ही इसे उसका बोध क्यों और कैसे हुआ?

छुट्टीका दिन था। सुशील माँके पास बैठा भोजन कर रहा था। अचानक संकोच छोड़कर उसने माँके अंचलसे बँधा हुआ कुञ्जीका गुच्छा पकड़कर कहा—"माँ, मैं एक बार इसे ले जाता हूँ।"

मनोरमा—"कुञ्जी लेकर क्या करेगा रे पागल?"

"जरूरत है"—कहते हुए सुशीलने रिंग पकड़कर खींचा।

"ना—ना चाभी देकर सब चीजोंसे हाथ धोना नहीं है।" कहकर मनोरमाने हँसते हुए अपना अंचल खींच लिया।

"एक बार दे माँ, मैं तेरी कोई चीज नहीं लूँगा—" कहते-कहते

सुशीलाने माँका अंचल जोरसे पकड़कर रोनी सूरत करके मुँह फेर लिया। दूसरे दिन तो माँके इनकार करनेपर सुशील अभिमानके मारे छोड़ भी देता, पर आज उसने वैसा नहीं किया; बल्कि मुँह फेरे हुए ही वह बोला—"मुझे जरूरत है।"

बच्चेकी उदासीनता देखकर थोड़ी देरतक विस्मय-स्तम्भित नेत्रोंसे देखती रहनेके बाद मनोरमाने चाभियोंका गुच्छा खोलकर सुशीलको दे दिया। बालकको चाभी क्या मिली मानो कोई बहुत बड़ी धन-राशि मिल गयी। तुरन्त ही वह उसे लेकर भागा। अब उसका चेहरा फिर विकसित हो उठा था।

मनोरमाके बाक्समें उसके स्वामी राजेन्द्रप्रसादका एक मामूली चित्र था। यह चित्र उस समयका था, जब राजेन्द्रप्रसाद बी० ए० में फर्स्ट हुए थे। यह चित्र राजेन्द्रने मनोरमाको सस्नेह प्रदान किया था। अवश्य ही एक अच्छा चित्र अंग्रेजी लिबासमें उतरवाकर देनेके लिए राजेन्द्रने कहा था—क्योंकि यह चित्र दो वर्ष पहलेका उतारा हुआ था; किन्तु जिस समय वह चित्र मिलनेवाला था, उसके पूर्व ही मनोरमापर वज्र-प्रहार-स्वरूप ससुरने स्वामी-विछोह करा दिया। ऐसी अवस्थामें यह मामूली चित्र ही मनोरमाके जीवनका आधार था। वह उसे बड़े यत्नसे छिपाकर अपने बाक्समें रखती है और समय-समयपर इसीके द्वारा स्वामीका दर्शन कर अपने सन्तप्त नेत्रोंको शीतल किया करती है। सुशीलने भी हजारों बार इस चित्रको देखा था। आज जब कि वह अपनी आँखोंसे देखकर भी पिताको न पहचान सका, तब उसने उन्हें पहचाननेके लिए चित्रका आधार लेना उचित समझा। पिताको न पहचान सकनेके कारण सुशील बहुत लज्जित हुआ था। इसीसे उसने माँसे भी अपने दुःखका कारण नहीं बतलाया। वह समझता था कि माँ कहेगी, चित्र देखनेपर भी यह उन्हें नहीं पहचान सका। अपनी अनभिज्ञताको माँके सामने भी प्रकट करना सुशीलके स्वभाव-विरुद्ध था। यदि अपने पिताको पहचानता तो कम-से-कम एक बार उनके पैरोंपर तो गिरता! उसे बड़ा

विश्वास था कि बाबूजी, माँकी तरह मेरे गाल चूमेंगे, आदरसे गोदमें लेंगे। पर न पहचान सकनेके कारण उसकी सारी आशाओंपर पानी फिर गया! हा दुर्दैव!

माँके बाक्सकी चाभी पाते ही उसे अपनी अभिलाषा पूर्ण होनेकी दृढ़ आशा हो गयी। पर यह बालककी कैसी विडम्बना है! उस नवो-द्गत गुम्फ-युक्त सरस-मधुर हास्य-विमंडित तरुण मुखकी प्रतिकृतिके साथ मिलाकर भला घात-प्रतिघातहत तारुण्य-विहीन वास्तविक मूर्तिको बालक कैसे पहचान सकता है! अभी बालक सुशीलकी दृष्टिमें चित्रकला परखनेकी शक्ति ही कहाँ! चित्र हाथमें लेकर सुशील गौरसे देखने लगा। बड़ी आशा थी कि चित्र देखनेपर बाबूजीको पहचाननेमें सहायता मिल जायगी। पर हायरे दुर्भाग्य! तेरे प्रभावसे बालककी यह आशा भी पूरी न हो पायी!

मनोरमाने चुपचाप घरमें जाकर देखा, बालक ध्यानस्थ बैठा है। उससे न रहा गया और हँस पड़ी। माँकी हँसी सुनते ही सुशीलने चित्रको कपड़ेमें लपेटकर छिपा दिया। उसने जब माँकी ओर देखा तो मनोरमाको बालकके चेहरेपर फिर पहलेकी भाँति ही उदासीनता दिखाई पड़ी। मनोरमाने खिसककर बालककी छिपाई हुई वस्तुको प्रकट करके नाटकका दृश्य वहीं समाप्त कर दिया। मन-ही-मन सोचने लगी, जो मैं सोचती थी वही बात हुई। सम्भवतः किसीके मुँहसे इसने कोई बात सुनी है और यह भी सम्भव है कि न सुनी हो, पिताको देखनेके लिए इसके मनमें उत्कट लालसा ही पैदा हुई हो; सुशील और लड़कोंकी तरह भोंदू तो नहीं। उम्रमें छोटा है तो क्या, बुद्धि इसकी बड़ी तीक्ष्ण है। इसने समझा होगा कि कुछ पूछनेसे माँको क्लेश होगा, चुपचाप देखकर सन्तोष कर लेना ही ठीक है। किन्तु मुझे देखते ही इसने चित्रको छिपा क्यों लिया? बहुत देरतक सोचनेके बाद भी इस प्रश्नका उत्तर जब मनोरमाको न मिला, तब उसने लड़केको गोदमें ले उसके मुँह और माथेपर हाथ रखकर बड़े आदरसे पूछा—"मुझे देखकर तुमने छिपा क्यों लिया सुशील?"

माँसे बात छिपानेका सुशीलके लिए यह पहला ही अवसर था। इसके पहले उसने कभी कोई बात नहीं छिपायी थी। यह प्रश्न सुनते ही वह लज्जित हो गया। पर बाल-स्वभावानुसार उसने फिर चित्रको हाथमें लेकर कहा—"इसी तसवीरकी तरह बाबूजीका मुँह है माँ? देख न, ऐसा बाबूजीका मुँह कहाँ है?"

माँने चकित होकर पूछा—"तू कैसे जानता है रे कि उनका मुँह ऐसा नहीं है?"

सुशीलने कहा—"हूँ—मैं जानता हूँ। कल मैं साहित्यिकोंकी अभ्यर्थना करनेके लिए स्टेशन नहीं गया था? इसीसे तो घर आनेमें मुझे इतनी देर हो गयी थी। अच्छा क्यों देर हुई थी, बताओ तो देखें?"

मनोरमा—"किसे लानेके लिए, कहाँ गया था?"

सुशील—"साहित्यिकोंको लानेके लिए स्टेशन गया था।"

मनोरमा—"तो उससे इस चित्रका क्या सम्बन्ध है?"

सुशील—"वाह, चित्र देखे बिना मैं बाबूजीको कैसे पहचान सकूँगा? मेरे विचारसे मैंने उन्हें कहीं देखा है। तुझे कुछ याद नहीं है माँ? पर मैं कल स्टेशनपर तो उन्हें पहचान ही न सका।"

मनोरमा—"किसको स्टेशनपर नहीं पहचान सका रे? कल कौन आया था?"

सुशील—"बाबूजी कल बारातमें आये हैं। जिसकी बारात आयी है, उसकी तो बाबूजीके साथ खूब गहरी दोस्ती है। क्या तू यह नहीं जानती?"

मनोरमा इतना सुनते ही जड़वत् हो गयी। उसका हाथ बालकके शरीरपर जहाँ था, वहीं रह गया। मुँहसे एक शब्द भी न निकला। बालकसे अब और वह पूछती ही क्या?

सुशील बिलकुल अबोध बालक था। माँके भावोंको वह अधिक नहीं समझ सका, फिर कहने लगा—"बाबूजीकी अमृत-बाजार-पत्रिका, माडर्नरिव्यू, सरस्वती, प्रभा, माधुरी और भी बहुत-सी पत्र-पत्रिकाओंमें

खूब अच्छी-अच्छी कविताएँ निकलती हैं। पर मैंने तो एक भी नहीं पढ़ी, तुमने पढ़ी हैं क्या माँ ?"

माँके चुप रहनेपर बालकने स्वयं ही अपनी शंकाका समाधान कर लिया—"किस तरह पढ़ेगी, वह सब पत्र-पत्रिकाएँ तो यहाँ एक भी नहीं आतीं। माँ, मुझे पढ़नेके लिए पत्र-पत्रिकाएँ मँगा दे ना। बाबूजीकी कविताएँ पढ़नेकी मेरी बड़ी इच्छा हो रही है। अगर मैं बाबूजीको चीन्ह लेता तो उनकी लिखी हुई सब कविताएँ मैं उनसे माँग लेता। क्यों माँ ? बाबूजी जरूर देंगे—हाँ माँ, देंगे न ?"

मनोरमाने इतनी देरके बाद ध्यान छोड़कर कहा—"क्या ?" वह केवल "देंगे न" इतना ही सुन सकी थी।

सुशील—"पुरानी कविताएँ।"

मनो०—"कौन ? किसको देगा ?"

सुशील—"वाह, जान पड़ता है कि तुम सो रही हो, क्यों ? बाबूजी-की लिखी हुई कविताएँ उनसे जब मैं मागूँगा, तब वह मुझे देंगे न ?"

मनो०—"हूँ, हूँ, देंगे क्यों नहीं !"

माँके इस अन्यमनस्कपूर्ण उत्तरसे बालकको ऐसा ज्ञात हुआ कि शायद माँ मुझे भुलानेके लिए ऊपरी भावसे 'हूँ' कर रही है। उसने माँके मुँहकी ओर देखकर मृदु-कण्ठसे जिज्ञासा की—"ऊँ ?"

मनो०—"क्या सचमुच वह यहाँ आये हैं ? तू ठीक जानता है ?"

सुशील—"कौन ? कौन माँ ?"

मनोरमाने जरा रूठकर तिरछी नजरोंसे बालककी ओर देखते हुए कहा—"तू कैसा पागल लड़का है ? अभी किसकी चर्चा कर रहा था, किसका चित्र छिपाकर देख रहा था—चोर कहींका ?"

सुशील—"बाबूजीके लिए पूछ रही हो ? हाँ—हाँ, वह तो आये हैं। उनके साथ और भी बहुत-से आदमी आये हैं। मालूम होता है इसीसे वह हमारे घर नहीं आ सके। वह यदि अकेले होते, तो मैं उनको चीन्ह लेता। माँ, देखना तू भी उन्हें कभी न चीन्ह सकेगी—कभी न

चीन्ह सकेगी। यह तेरे पास जो उनका चित्र है, इससे उनकी सूरत बिलकुल नहीं मिलती। इस चित्रसे उन्हें चीन्हनेका भरोसा तुम भी मत करो। तुम्हें मेरी बातोंपर विश्वास न हो तो आनेपर देख लेना कि मेरी बात सच होती है या नहीं।"

मनोरमाका असीम धैर्य आकस्मिक प्रचुर वर्षा-वारि-प्राप्त क्षुद्रा तटिनीकी भाँति विपर्यस्त हो गया था। उसी आवेगमें विभोर हो व्यग्रता-पूर्वक सुशीलको उसने अपने हृदयसे चिपकाकर व्याकुल कण्ठसे कहा—"क्या तू मुझे एक बार उन्हें दिखा नहीं सकेगा रे सुशील ?"

सुशील—"तुम ? किस तरह देख सकोगी माँ ? वहाँ तो बहुत-से लोग हैं। तुम सबके सामने किस तरह जाओगी ?"

मनोरमाके मुखपर मृत्युके समीप आये हुए रोगीकी अन्तिम पिपासाके सदृश अनिवार्य तृष्णा-कातरता मानो साकार हो गयी। उसने फिर कहा—"किसी तरह अपनी बुद्धिमानीसे तू उन्हें एक बार यहीं बुला ला। मैंने बहुत दिनोंसे उन्हें नहीं देखा है। एक बार तेरे जरिये उन्हें देख तो लूँ।"

सुशीलने माँको कभी इस तरह उत्तेजनाके साथ बातें करते, या इस तरहसे हृदय खोलकर दुःख प्रकट करते अथवा देखनेके लिए ही उत्कट अभिलाषा प्रकट करते नहीं देखा था। इसीसे वह माँकी बातें सुनकर थोड़ी देरके लिए स्तब्ध भावसे किसी गम्भीर गवेषणापूर्ण प्रश्नपर विचार करनेमें तन्मय हो गया। पश्चात् स्नेह-पूर्वक दोनों हाथोंसे माँकी गर्दन पकड़कर बड़े उत्साहसे हँसते हुए बोला—"अच्छा माँ, मैं बाबूजीको तुझे दिखला दूँगा।"

मनोरमा आनन्दित होकर बोल उठी—"दिखला देगा ? अच्छा कैसे दिखलावेगा सुशील, सुनें तो जरा ?"

बालक—"सो मैं अभी नहीं बतलाऊँगा। देखनेसे मतलब, चाहे मैं जैसे दिखलाऊँ। नानीजीसे भी न कह देना माँ—देखना वह भी न चीन्ह सकेंगी।"

बालककी स्नेह-भरी आश्वासनपूर्ण बातोंसे मनोरमा गद्गद हृदयसे उसे बार-बार चूमने लगी। इसके बाद वह स्वामीके मिलनकी आशासे आनन्दमें इस प्रकार डूब गयी कि सुशीलके उठकर चले जानेपर भी वह कुछ न जान सकी। जिसके दर्शनकी आशा भी वारि-प्रयासी चातककी अपेक्षा अधिक सुदृढ़ थी, अब वह उसीका दर्शन करेगी; भला इससे बढ़कर आनन्दका विषय मनोरमाके लिए और क्या हो सकता है ? सो भी किसके द्वारा ! और लोगोंके द्वारा नहीं बल्कि अपने ही औरस पुत्र द्वारा !

१४

सुशीलने इस कामको जितना आसान समझकर माँको आश्वासन दिया था, कार्य-क्षेत्रमें प्रवेश करनेपर उसे ज्ञात हुआ कि वास्तवमें यह उतना आसान नहीं। साहित्यिकोंमें बालकने जिसे सबसे सुन्दर देखा, अवस्था भी जिसकी बाईस-तेईस वर्षसे अधिक नहीं थी, अनुमानसे जो बहुत ही सुबोध और गम्भीर प्रतीत होता था, उसीपर अपना विचार स्थिर किया। सुशीलकी अवस्था यदि ग्यारह-बारह वर्षकी न होकर कमसे-कम सोलह वर्षकी भी होती, तो जो सन्देह उसके दिलमें उत्पन्न हुआ था, कदाचित् न होता। शैशवावस्थाने उसके कोमल चित्तको अन्धा बना दिया। माँके मुँहसे पिताकी आकृतिका जो कुछ वर्णन उसने सुना था एवं अपने मनकी भक्ति और कल्पनासे उसके हृदय-पटलपर पिताका जो स्वरूप अंकित हुआ था, वह कवि-समूहमें उक्त व्यक्तिसे बहुत कुछ मिलता-जुलता उसे प्रतीत हुआ। और किसीका भी स्वरूप राजेन्द्र महाशयके योग्य विवेचित नहीं हुआ, अतएव इन्हींके साथ परिचित होनेसे सुशीलको अपने कार्यकी सिद्धि होनेकी सम्भावना

दिखायी पड़ी।

सुशील इन्हीं महाशयके इर्द-गिर्द बराबर चक्कर लगानेके बाद इच्छा पूर्ण न होनेपर ज्यों ही अपने मनमें हतोत्साह हो खिसका, त्यों ही उक्त सज्जनकी दृष्टि उसपर पड़ी। सुशीलकी मृगके समान विशाल आँखोंने न-जानें किस तरह उस साहित्यिक युवकका मन अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। उन्होंने बालकसे पूछा—"क्यों बचे? तुम्हारा नाम क्या है? नजदीक आओ न! तुम्हें आज दिनभर मैं यहीं देख रहा हूँ! मालूम होता है तुम्हारा घर यहाँसे पास ही कहीं है? तुम किस क्लासमें पढ़ते हो, बतलाओ तो सही?"

सुशीलकी छाती बाल-स्वभावानुसार कुछ धकधका उठी। प्रश्न-कर्त्ताके निकट संकोचके साथ जाकर खड़ा हो गया। एक बार "बाबूजी!" कहकर पुकारनेकी उत्कट अभिलाषा दिलमें उत्पन्न हो रही थी, पर इतने आदमियोंके सामने कहनेकी हिम्मत नहीं पड़ती थी। हर्षोच्छ्वास-विकम्पित मधुर स्वरमें सारे प्रश्नोंका उत्तर देते हुए अन्तमें सुशीलने कहा—"श्री सुशीलकुमार त्रिपाठी।"

उत्तर देनेके बाद उसने विस्मयान्वित होकर देखा कि नाम सुनकर श्रोताके भावमें किसी प्रकारका भी वैलक्षण्य नहीं प्रकट हुआ। प्रश्न-कर्त्ता महाशय पूर्ववत् ही आरामकुर्सीपर लेटे हुए पानदानसे पान निकालकर शान्ति-पूर्वक मुँहमें डालते हुए बोल उठे—"तुम इतने छोटे लड़के हो और आठवें क्लासमें पढ़ते हो? तुम कै बर्षके हो भाई?"

सुशीलने सजल नत-चक्षु करके गम्भीर स्वरमें कहा—"ग्यारह।"

"ऐं, क्या कहा? सिर्फ ग्यारह वर्ष? तब तो तुम बहादुर लड़के हो। अपने दर्जेमें सबसे अच्छे तुम्हीं होगे भी?"

इसके बाद वह निराश होकर जाने लगा। इतनेमें प्रश्न-कर्त्ताने कहा—"जाते क्यों हो, आओ जरा तुमसे बातें करें। अच्छा यहाँपर कौन-कौन-सी चीजें देखनेके लायक हैं, बता सकते हो?"

सुशील अबकी बार जाते-जाते फिर लौट आया और बगलकी एक

खाली कुर्सीपर बैठकर अभिज्ञता-पूर्वक कहने लगा,—"यहाँपर कोई ऐसी विशेष बढ़िया चीज देखने लायक तो नहीं है हाँ; पहाड़का प्राकृतिक दृश्य अवश्य ही रमणीय है। विन्ध्याचलकी पहाड़ीमें बहुत-सी ऐसी गुफाएँ हैं जिनमें दो-दो, तीन-तीन सौ वर्षके योगी समाधिस्थ हैं; पर यह मैंने अपनी आँखों नहीं देखा है, अच्छे-अच्छे आदमियोंसे सुना है। शहरमें घंटाघरकी कारीगरी, पक्काघाट भी देखने लायक है। वर्षा-ऋतुमें पहाड़की हरियाली बड़ी ही सुहावनी मालूम होती है।"

प्रश्नके अतिरिक्त भी बहुत-सी बातें सुशील कह गया। पश्चात् जब वह अपने घर लौटा, तब उसके दिलमें एक बात पैदा हुई। इस नव-परिचितने और सब बातें तो पूछीं, पर पिताका नाम नहीं पूछा। बड़ी गलती हुई, पिताका नाम न पूछनेपर भी बतलाना चाहिये था। सम्भव है कि वे भूल गये हों और फिर कौन जाने शायद जानते हों; पर सुशीलका नाम सुनकर पहचान क्यों न सके? क्या कवि लोग सांसारिक बातोंको अधिक भूल जाया करते हैं? बड़ी भूल हुई। अपने मनमें उन्होंने समझा होगा कि बड़ा निर्बुद्धि बालक है।

घर आकर वह लज्जाके मारे माँसे कोई भी बात न कह सका। कहता किस तरह, वह जो अपने पिताको नहीं ला सका था। माँके सामने होनेपर वह चोरकी भाँति संकुचित हो गया। पर माँने इस सम्बन्धमें उससे कुछ भी नहीं पूछा। सुशील सोचने लगा कि कल सबेरे उठते ही सबसे पहले वहाँ जाकर उनसे पिताका नाम बता आना ठीक है।

दूसरे दिन सबेरे हमीद आकर उसे पकड़ ले गया। उसे डाक्टरको बुलानेके लिए जाना था। क्योंकि उसके घरमें कोई बीमार था। डाक्टरके यहाँसे दवा लेकर लौटनेमें दो बज गया। सुशील लौटकर घर नहीं आया। सीधे बारातकी ओर चला गया।

जाकर देखा तो, डेरे-डण्डे सब बैलगाड़ीपर लद रहे थे, बक्स वगैरह तथा अन्यान्य वस्तुएँ गाड़ीपर रखी जा चुकी थीं। कई साहित्यिक सज्जन मोटरोंपर सवार हो चुके थे। दो-चार स्वभाव-शिथिल सज्जन उस

समयतक मोटरपर सवार नहीं हो सके थे। यह दृश्य देखकर सुशीलका हृदय बहुत दुखी हुआ। हैं, यह क्या हुआ ? वह किंकर्तव्यविमूढ़ भावसे थोड़ी देरतक बीच रास्तेमें खड़ा चारों तरफ देखता रहा। अभीप्सित सज्जन कहाँ हैं ! क्या वे उसके आनेके पहले ही चले तो नहीं गये ? क्या अब उनसे भेंट न होगी ? कौन जाने शायद वह अभी यहींपर हों।

सुशील यह सोच ही रहा था कि इतनेमें एक आदमीने चिल्लाकर कहा—"क्यों जी ! मालूम होता है, यहाँकी जमीन तुमलोगोंको नहीं छोड़ना चाहती है। तुमलोग बाहर निकलोगे भी या नहीं।

"अभी आया, महाशय" कहते हुए दो साहित्यिक सज्जन बाहर आये। बालक सुशीलने दौड़कर एकका हाथ पकड़ लिया। ऐसा करनेमें उस समय उसमें जरा भी लज्जा या द्विधाका भाव वर्तमान नहीं था।

हाथ पकड़ते ही उसने एक ऊँची साँस लेकर कहा—"मैं सुशीलकुमार त्रिपाठी हूँ। मेरे बाबूजीका नाम श्रीयुत पं० राजेन्द्रप्रसाद त्रिपाठी है।"

"क्या, तुम राजेन्द्रके लड़के हो ? कौन, राजेन्द्र त्रिपाठी ? वही जो यहाँ आये थे ?"

आश्चर्य भावसे देखता हुआ सुशील बोल उठा—"बाबूजी प्रयागमें रहते हैं, वे कवि हैं।"

"तुम राजेन्द्रके लड़के हो ? तुमने यह पहले क्यों नहीं बतलाया ? राजेन्द्रको मैं अच्छी तरह जानता हूँ। कई बार उनसे मेरी मुलाकात भी हुई है। अच्छा, अबकी बार उनसे भेंट होनेपर मैं तुम्हारी चर्चा जरूर करूँगा। तुम—"

"अजी ओ महात्मा ! अपने वात्सल्य रसको इस समय रहने दो, ट्रेनका समय हो गया है, क्या तुम सचमुच ट्रेन मिस करनेपर उतारू हुए हो ?"

साहित्यिक महाशयने प्यारसे सुशीलकी पीठ ठोंककर हँसते हुए एक बार उसकी ओर देखा और व्यस्त भावसे गाड़ीका दरवाजा खोलकर मोटरपर बैठे। ड्राइवरने पेच घुमा दी, मोटर हवा हो गयी। थोड़ी

देरतक सुशील उस मोटरकी ओर देखता रहा, पर जब वह नजरोंसे ओझल हो गयी, तब उसने भी घरकी राह ली।

१५

सदानन्द त्रिपाठीकी मृत्युके बाद राजेन्द्रकी माता संसारसे निस्पृह होकर घरमें एक किनारे रहने लगीं। प्रचण्ड शोकके आघातने उनके एकमात्र पुत्रके ममता-बन्धनको भी शिथिल कर दिया। इसके अतिरिक्त संसारसे उदासीन रहनेका और भी एक निगूढ़ कारण विद्यमान था। वह यह कि यद्यपि घरमें सबलोग थे तथापि उनकी प्रिय बहू उनकी आँखोंके सामनेसे अलग होकर एकान्त वास कर रही थी। यद्यपि ऊपरसे वे अपना यह भाव बिलकुल ही प्रकट नहीं करना चाहती थीं, पर उनका हृदय भीतर-ही-भीतर इस ज्वालासे भस्म हो रहा था। चन्द्रकलाके और उनके व्यवहारमें दुर्व्यवहारका समावेश तो नहीं किया जा सकता, पर समुचित व्यवहार भी किसी प्रकार कहना उचित नहीं। चन्द्रकलाका स्वभाव बचपनसे ही बिलकुल स्वाधीन था। ससुरके स्वर्गवास होते ही उसे और एक बातकी स्वच्छन्दता मिल गयी; इच्छा होनेपर अब गाड़ी जुता-कर बिना किसीसे पूछ-ताछ किये इधर-उधर घूमने-फिरने चली जाया करती है, सासकी अवस्थावाली पड़ोसिनोंसे निर्भीकतापूर्वक बातें करती है; घरके नौकरों-चाकरोंसे बातें करना तो उसके लिए बिलकुल मामूली बात है। पास-पड़ोसके सबलोग बहू चन्द्रकलाका यह निर्लज्जतापूर्ण व्यवहार देखकर दंग रह जाते थे। सास भी भीतरसे तो बहुत असन्तुष्ट रहती थी, पर मुँहसे यही कहती थी—"क्या किया जाय भाई, मेमोंके स्कूलमें अंगरेजी पुस्तकें पढ़नेसे लाज-सरम नहीं रह गयी है।"

सासकी सेवा करनेकी भी कोई विशेष आवश्यकता चन्द्रकला नहीं

समझती थी; क्योंकि यह काम तो उनकी पुरानी दाइयाँ ही आसानीसे कर लेती थीं। जल-पान, कपड़ा वगैरह जो कुछ भी उन्हें जरूरत होती थी—शामके वक्त पैर दबाना आदि— सब वे ही कर देती थीं। भोजन बनानेके लिए भी इस घरमें गरीब कुटुम्बियोंका अभाव नहीं था। इससे वधू चन्द्रकला करने योग्य कामोंको भी न कर पानेके कारण स्वभावतः अभिमानिनी-सी प्रतीत होती थी। पर इन बातोंके होते हुए भी एक प्रकारसे निर्वाह होता जाता था। विपत्ति थी केवल भामाको लेकर। ननँदकी गाड़ी यदि कहींसे आकर घरके सामने लग जाती और गाड़ीसे उतरकर भामा घरमें आ जाती, तो बस उसी समय भावज साहिबा गाड़ीमें बैठकर बाहर निकल जातीं। ननँदके साथ यही व्यवहार था। जब कभी दैवयोगसे भामाके आनेपर चन्द्रकला घरमें रह जाती, तो अपने कमरेमें कोई पुस्तक लेकर या कोई सिलाईका काम लेकर उसमें व्यस्त हो जाया करती थी। दोनोंका सामना हो जानेपर दोनोंका ही मुँह भारी हो जाया करता था। मुँहा-टोंठी भी दो-एक बार जरूर ही हो जाती थी।

आनेके एक वर्ष बाद चन्द्रकला अपने नौकर द्वारा साड़ीवालेको बुलाकर अपने लिए चुन-चुनकर साड़ियाँ खरीद करने लग गयी थी। पहले राजेन्द्रकी माँ नव-वधूकी पसन्दके अनुसार साड़ियाँ खरीदा करती थीं। एक बार सावनमें चन्द्रकलाने अस्सी साड़ियाँ चुनकर रख लीं। उनमें कई तो बहुत कीमती थीं। उस दिन राजेन्द्र घरमें आकर साड़ियोंका ढेर देखते ही चकित हो गये। कह बैठे—"यह क्या? बनारसकी सारी दुकानें तुमने खरीद लीं। इतनी साड़ियाँ कितने दिनोंमें पहनोगी?"

चन्द्रकलाने मुँह फुलाकर जवाब दिया— "मालूम होता है सब मैं ही पहनूँगी!— कजलीके मौकेपर किसीको कपड़े दिये नहीं जायँगे क्या?"

राजेन्द्र—"पर यह सब तो माँका काम है न! क्या उनके रहते तुम्हारा खरीदना उचित है?"

चन्द्र०—"माँ सो रही थीं। दूकानदारका आदमी कई बार आया

और कहने लगा जो कुछ रखना हो, रख लीजिये, बाकी फिरता कर दीजिये; बिक्रीका बाजार है, साड़ियाँ यहाँ रखी रहनेसे नुकसान हो रहा है।—इसमें मैंने बुरा ही क्या किया?"

राजेन्द्रके शब्दोंसे विस्मय और उनकी पत्नी चन्द्रकलाके शब्दोंसे असन्तोष व्यक्त हुआ।

"नहीं, इसमें बुराई ही क्या है" कहकर राजेन्द्र चले गये।

दूसरे दिन एक दूकानदारका आदमी साड़ियाँ लेकर आया। ड्योढ़ीदारने ऊपर आकर खबर दी। उस समय प्रभा भी वहीं बैठी थी। चन्द्रकलाने मानो ड्योढ़ीदारकी बातें सुनी ही नहीं। प्रभाने पूछा—"साड़ियाँ नहीं देखोगी क्या भाभी?"

चन्द्र०—"मैं क्यों देखूँ?" यह कहकर चन्द्रकला आलस्य छोड़कर उठ बैठी। माथेका कपड़ा सँभालकर बोली—"जाकर माँसे कहो न!"

ड्योढ़ीदार चुप होकर चला गया। थोड़ी देरमें फिर लौटकर कहा—"बहूजी! माँजीने कहा है कि मैं इसका हाल कुछ नहीं जानती—जाकर उन्हींसे कहो, वही अपना देख-सुनकर ले लेंगी।"

"मैं कुछ नहीं जानती जी" कहकर चन्द्रकलाने मुँह लटका लिया और फिर लेटकर किताब पढ़ने लगी: प्रभाने भाभीको उठा दिया और ड्योढ़ीदारसे कहा—"तुम, साड़ियाँ यहाँ लाओ। माँ नहीं देखेंगी, यह भी नहीं देखेंगी, तो घरका काम-काज कैसे चलेगा? क्या बुढ़ाईमें भी सब काम माँको ही करना पड़ेगा? इस समय अगर माँ कुछ न कर सकें तो?—भाभी! तुम कैसी पगली हुई जाती हो?"

चन्द्र०—"भाई इस वक्त मुझे दिक न करो, तबीयत ठीक नहीं है।" ड्योढ़ीदार कपड़े लेकर आया, पर चन्द्रकलाने उसे लौटा देनेके लिए कह दिया।

कजलीके समय हर साल जितना कपड़ा खरीदा जाता था, उससे कहीं अधिक कपड़ा इस साल खरीदा जा चुका था। गृहस्थीमें यह होता है कि प्रत्येक गृहस्थ अपनी आमदनीके अनुसार खर्च करता है। इस

साल राजेन्द्रके यहाँ पिताजीका स्वर्गवास हो जानेके कारण आमदनी कम हुई थी। मुनासिब था कि खर्च भी कम किया जाता; पर कमके बदले खर्च ज्यादा किया गया। इस साल घरमें कोई प्रसन्नता भी नहीं थी।

रतजग्गेका दिन था। इस दिन लोक-प्रथाके अनुसार सब स्त्रियोंने नये-नये कपड़े पहनकर रातभर जागरण किया, गाना-बजाना किया; किन्तु भामाने नये कपड़ोंको छुआतक नहीं। किसीने यदि नये कपड़े पहननेके लिए उससे कहा भी तो उसने यही जवाब दिया, "माँ तो पहनंगी नहीं; मेरे लिए क्या यह सुखका दिन है कि मैं सज-धजकर बैठूँ? जिसका सुख बढ़ा होगा, वह सजकर बैठेगी।" इस बातको सुनकर भी चन्द्रकला चुप रह गयी। ननँदसे कोई सम्पर्क न रहनेपर भी चन्द्रकला बहुत डरा करती थी; भामाके कटु शब्दोंका जवाब जल्द नहीं देती थी।

भाईके हानि-लाभपर भामा बहुत ध्यान रखती थी। हर समय उसकी दृष्टि इस बातपर रहा करती थी कि घरमें किस कामसे नुकसान होनेकी सम्भावना है और किससे नहीं। आज ही भामा मकानके आँगनमें घोड़ोंका दाना देखनेके लिए आयी थी दाना ठीक भिगोया जाता है या चोरी की जाती है। नौकरोंकी चोरी उससे छिपी नहीं थी। इतनेमें जमादार एक गट्ठर कपड़ा लेकर आ गया। पूछनेपर मालूम हुआ कि ये कपड़े बहूजीकी फरमाइशसे आये हैं। भामा बोल उठी, "कपड़े तो वह देखेंगी, और पसन्द करके चुन-चुनकर खरीद भी लेंगी, पर रुपये कहाँसे आवेंगे? जरा सोच-समझकर काम करो, घरफूँक सौदा न करो। मैंने तुमसे कहा था कि भतीजेके लिए एक सिल्कका टुकड़ा ला दो, सो तो तुमसे न लाते बना, और ये कपड़े भले ही लाये।"

जमादारने भययुक्त होकर कहा—"बाजारमें बढ़िया सिल्क नहीं मिला, इसीसे मैंने नहीं लिया। बनानेके लिए आर्डर दे आया हूँ।"

भामाने झुँझलाकर कहा—"बनारस शहरमें क्या बढ़िया सिल्क है ही नहीं? कैसी बातें तुम करते हो जी? छिः!"

जमादारने धीरेसे कहा—"होगा क्यों नहीं। अच्छा मैं आज

ढूँढूँगा।"

भामाने फिर कहा—"अगर वैसा न मिले, किसी दूसरे रंगका ही अच्छा मिले, तो उसे ले आना। इतना घबरानेकी तुम्हें जरूरत नहीं है, मैं कहती हूँ न; इसके लिए तुम्हें कोई फाँसीपर नहीं चढ़ा देगा। यदि कोई कुछ कहेगा, तो तुम मेरा नाम लेकर कह देना कि उन्होंने ही जोर देकर मँगाया है। लोग तो तरह-तरहके कपड़े पहन रहे हैं और भाईके लड़केके लिए दो गज सिल्क भी न जाय?"

जमादार और कुछ बोलनेका साहस नहीं कर सका। वह चुपचाप वहाँसे चला गया। घरके नौकर-मालिक सब भामाका भय मानते थे और उसकी सहृदयताके कायल थे।

जमादारके बिना कहे ही भामाकी बात चन्द्रकला सुन चुकी थी। कपड़ा पसन्द नहीं है, यह कहकर उसने लौटा दिया एवं अपने कमरेमें जाकर लेट गयी। दिनभर नहीं उठी। प्रभाको छोड़कर किसीने उसे उठनेके लिए कहा भी नहीं। घरके प्राणियोंके इस व्यवहारसे चन्द्रकलाका दिल और भी जल रहा था, पर भीतर-ही-भीतर जलनेके सिवा और वह कर ही क्या सकती थी? इतनेमें राजेन्द्र कमरेमें आ गये। पूछा—"कैसी तबीयत है।" कुछ जवाब नहीं मिला। माथेपर हाथ धरकर देखा तो शरीरमें कोई अस्वस्थताका लक्षण नहीं दिखाई पड़ा। राजेन्द्रने फिर पूछा, तो माथा सिकोड़कर चन्द्रकलाने जवाब दिया—"इस समय मुझे दिक न करो, मेरी तबीयत ठीक नहीं है, चक्कर आ रहा है। स्वामीसे चन्द्रकला सच्चा कारण न बता सकी। बताती ही कैसे! कपड़ोंके लिए ही तो राजेन्द्र भी रुष्ट हो गये थे! राजेन्द्रने कहा—"जरा-सा कपूरका अर्क ले लो; तबीयत ठीक हो जायगी।" चन्द्रकलाने कहा—"ले लिया है, अभी मुझे सोने दो।"

यह उत्तर सुनकर राजेन्द्र भी फिर कुछ नहीं बोले। अधिक छेड़ना उचित न समझकर बाहर चले गये।

तीजका दिन आ गया। इस मौकेपर चन्द्रकलाके दोनों भाई तीज

लेकर उसके यहाँ आये। चन्द्रकला पहलेसे ही बीमार पड़ी थी। किसीने उनको खाने-पीनेके लिए नहीं पूछा। छोटे बच्चे थे, भूखसे दोनोंकी आँखें लाल हो आयीं। दाईने आकर भामासे यह समाचार कहा। भामाने उन्हें भीतर बुलाया। दोनोंको खिला-पिलाकर चन्द्रकलाके कमरेमें भेज दिया। उनके चले जानेपर थोड़ी देरतक वह अपने-आप ही चन्द्रकला और प्रभापर बकती रही। जो अपने भाइयोंको खानेके लिए नहीं पूछती, वह दूसरोंको क्या पूछेगी? इज्जतका कुछ खयाल हो तब तो! उन्हें क्या, स्याही तो लगेगी राजेन्द्रके मुँह। भला वे दोनों लड़के अपने घर जाकर क्या कहेंगे? कहेंगे बहनके यहाँ किसीने खानेको भी नहीं पूछा। छिः! बहनका कर्त्तव्य तो वहाँ कोई न सोचेगा। प्रभाको कौन कहे।

प्रभा खड़ी-खड़ी भामाकी बातें सुन रही थी। जाकर उसने चन्द्रकलासे सारी बातें कह दीं। चन्द्रकला उस समय कुछ न बोली। उसका दिल भाइयोंसे बातें करनेमें लगा था। थोड़ी देरतक तो भाई-बहनमें बातें हुईं, इसके बाद प्रभाको लेकर चारोंमें तास होने लगा। राजेन्द्र कमरेके बाहर दीवारपर टँगी हुई तसवीर अपने हाथसे ठीक कर रहे थे।

भामाने आकर कहा—"राजो, अभीतक तुमने जलपान नहीं किया, माँ बुला रही हैं।"

"यहींपर भेज दे, अभी जरा मैं काम कर रहा हूँ। नौकरोंसे यह ठीक न हो सकेगा।"

भामाने जलपान ला दिया। राजेन्द्र कुर्सीपर बैठकर जलपान करने लगे। भामाके हाथमें कपड़ेमें सिला हुआ पार्सल देखकर प्रभाने घरके भीतरसे पूछा—"यह क्या है बहन?"

"जरा भीतरसे सील-मुहर ला, इसे भेजना है। मुनीमजीके पास जो मुहर है, उसकी छाप साफ नहीं उठती, पोस्ट-आफिसवाले नहीं लेंगे। दे तो, इसे ठीक करके भेज दूँ।"

प्रभा पूर्ववत् भाभीके पास जाकर बैठ गयी। भामा भी जरा खिसक-

कर मुहर लेनेके लिए दरवाजेके सामने चली गयी। भामाके हाथमें पार्सल देखते ही चन्द्रकलाका मुँह लाल हो गया। वह जमादारको भामाका कपड़ा लानेके लिए पहले मना कर चुकी थी, पर जमादारने उसकी आज्ञा टाल दी।

राजेन्द्रने कहा—"दे, मैं सब ठीक करा देता हूँ।"

पार्सलपर लिखा हुआ नाम-पता देखते ही उनका हाथ सुन्न हो गया। पार्सलपर लिखे हुए काले अक्षरोंने मानो करैत सर्प होकर उनके हाथमें डँस लिया। शक्तिशून्य होकर उसी काले साँपके अंग-प्रत्यंगको टकटकी लगाकर देखने लगे। देखा कि उस साँपका शरीर इन्हीं अक्षरोंसे बना हुआ था—"परम स्नेहास्पद चिरं० सुशीलकुमार त्रिपाठी, मिर्जापुर।"

चन्द्रकला और प्रभाने पार्सलपर लिखे हुए उक्त अक्षरोंको पढ़ लिया था। उसे पढ़ते ही चन्द्रकलाने ननँदपर ऐसी वक्र-दृष्टि फेंकी कि भामाके मर्मस्थलपर चोट नहीं लगी, यह कहना बहुत ही कठिन है।

प्रभाने भौंहें चढ़ाकर हाथका तास वहीं फेंक दिया और उठ खड़ी हुई। असमयमें ही खेलमें विघ्न पड़ते देखकर चन्द्रकलाका छोटा भाई बोल उठा—"क्यों जी, कहाँ जा रही हो? अब नहीं खेलोगी क्या?"

"नहीं, सिर जोरोंसे दर्द करने लग गया।" कहकर प्रभा तेजीसे कमरेके बाहर चली गयी।

घरवालोंके, विशेषकर भाईके इस व्यवहारसे भामा बहुत दुःखी हुई। कहा—"राजो, बस हो चुका, तुम्हारे घरका पैसा भी इसमें नहीं लगा है, फिर तुम इतने चिन्तित क्यों हो रहे हो? क्या मेरे भेजनेमें भी तुम्हारी पितृ-भक्ति नष्ट होगी? ऐसा है, तो मैं और कहींसे सील करके भेजूँगी, दुःखी होनेकी जरूरत नहीं।"

यह कहकर भामा वहाँसे चली गयी। घरके और लोग बहुत देरतक निस्तब्ध बैठे रहे। थोड़ी देरके बाद चंचल बालकने उकताकर भाईसे कहा—"आओ हमलोग डोमिनो खेलें। बहन तू भी खेलेगी न?"

"नहीं, मैं अभी न खेलूँगी, तुमलोग बैठकर खेलो।" यह कहकर चन्द्रकलाने एक बार तीक्ष्ण दृष्टिसे स्वामीकी ओर देखा।

"खेलेंगे जीजाजी ?"

राजेन्द्रने मुँह फेरकर कहा—"क्या चीज भाई ?"

"डोमिनो।"

"नहीं।"

"अच्छा, यह न सही, जो आपकी इच्छा हो—ड्राफ्ट, गुलामचोर या और कोई चीज खेलें।"

राजेन्द्रने हँसकर कहा, "तुमलोग अभी आपसमें खेलो। मैं तो इतने तरहका खेल जानता भी नहीं। अपनी बहनको पकड़ो, वह जानती हैं।"

स्वामीको गमनोन्मुख देखकर चन्द्रकला न जानें क्या सोचकर झटसे उठकर बाहर आ गयी। कर्कश स्वरमें बोली,—"अच्छा, तुम्हारी बहन हर समय मेरा अपमान करनेके लिए क्यों आया करती हैं ?"

राजेन्द्रने जाते-जाते सीढ़ीके पास रुककर जवाब दिया,—"वह मुझसे तो कुछ कहती नहीं, मैं इसका जवाब कैसे दे सकता हूँ ! उसीसे पूछो !"

"मैं उनसे पूछकर झगड़ा बढ़ाना नहीं चाहती। मैं तुम्हींसे पूछती हूँ—भाइयोंके सामने अगर मेरा अपमान न करतीं तो क्या कुछ नुकसान होता ? क्या इतनी भद्रता करनेकी आशा भी मैं इस घरमें न करूँ ? बस मैं इसीका जवाब तुमसे चाहती हूँ और कुछ नहीं।"

"तुम मेरे गले क्यों पड़ती हो बाबा।"

"यहाँ मैं क्या किसी दूसरेकी छायामें हूँ ?"

राजेन्द्र इस बातका उत्तर दिये बिना ही जाने लगे।

"क्यों, जवाब देकर जाओ न ? मैं भी किसी जंगलीके घरसे नहीं आयी हूँ—मेरे पिताके पास भी दस-बीस लाखकी पूँजी है। पर ऐसी उलटी चाल मैंने कहीं नहीं देखी। तीजके मौकेपर यहाँसे कपड़ा भेजा जा रहा है ? इसमें जरूर तुम्हारी भी राय है—न होनेसे ऐसा करनेकी हिम्मत किसीकी न पड़ती।"

राजेन्द्रने थोड़ी दूर जाकर कहा,—"मैं तुम-जैसी पगलीकी बातोंका कुछ भी उत्तर देना नहीं चाहता।"

"सुनो, सुनो—चले मत जाओ। अगर मैं तुम्हारे लिए गलग्रह हूँ तो बतला दो, मैं भाइयोंके साथ ही नगवा चली जाऊँ। मैं रोज-रोजका झगड़ा पालना नहीं चाहती।"

राजेन्द्र हँसते हुए लौट आये और बोले—"अभी तुममें निहायत लड़कपन भरा हुआ है। भला भामाको तू अभीतक नहीं पहचान सकी? देखती हो वह मुझे ही न-जानें कितनी बातें सुना देती है। उसे कुछ कहनेसे लोग हँसेंगे नहीं?"

"पहचाना क्यों नहीं है। अच्छी बात है, मुझे नगवा चली जाने दो, तुम उनकी बातें सहो; मैं तो नहीं सह सकती।"

इतनी बात कहते ही चन्द्रकलाके दिलमें मनोरमाके साथ स्वामीके बर्तावका स्मरण हो गया। छाती धक्‌धक् करने लगी। उसने फिर एक शब्द भी नहीं कहा। इतनेमें भामाके आनेकी आवाज आयी। चन्द्रकला घरमें चली गयी। राजेन्द्र भी नीचे जाने लगे। भामाने कहा,—"क्यों राजो! सुनो तो सही!"

राजेन्द्र खड़े हो गये। भामाने कहा,—"तुम तो हमेशा कहा करते थे कि मैं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त माननेवाला हूँ। पर क्या यही वसुधैव कटुम्बकम्‌का भाव तुममें भरा हुआ है? क्यों न हो!"

राजेन्द्र बिना कुछ जवाब दिये ही नीचे चले गये।

१६

प्रभाकी अपेक्षा चन्द्रकला दो वर्ष बड़ी है। फिर भी प्रभाके सत्रहवें वर्षमें पदार्पण करते ही उसकी सास सन्तान होनेके लिए झाड़-फूँक कराने लगी। देवी-देवताओंकी मनौती करने लगी। एक वर्ष बीत गया। जब इससे कोई आशा न दिखाई पड़ी, तो रुष्ट होकर बहूको गालियाँ बकनेपर उतारू हो गयी। पड़ोसिनोंसे कहने लगी, "अगर इस सालमें कुछ आसरा न होगा तो मैं अगले वैशाखमें लड़केकी दूसरी शादी कर डालूँगी। इस बाँझ पेड़को लेकर मैं कबतक आशा लगाये बैठी रहूँगी ? इतना खिलाया-पिलाया, इतनी सेवा की, क्या पहलवान होनेके लिए ?"

इसी बातसे प्रभा साससे बहुत डरती थी। सन्तानके लिए वह भी हमेशा लालायित रहती थी। पर क्या यह भी किसीके वशकी बात है ? निदान वह फिर पिताके घर आयी। हमेशा इसी चिन्तामें उसका मुँह सूखा रहने लगा। एक दिन भाभीसे जाकर कहा—"मेरी सास कहती हैं कि अगर इस साल भी कोई आशा न हुई तो अगले साल उनका दूसरा ब्याह करूँगी।"

भाभीने हँसकर कहा—"ठीक ही कहती हैं। इसमें बुरी बात कौन-सी है ?"

प्रभा—"दुत् ! तुम तो मुझसे दो वर्ष बड़ी हो, फिर ऐसे ही क्यों बैठी हो ? बुरी बात तो नहीं है। जाओ अब मैं तुमसे कोई बात न कहूँगी। यह कहकर प्रभा जाने लगी।"

चन्द्रकलाने हाथ पकड़कर बिठा लिया और विरक्त भावसे कहा—"न जानें संसारके लोग कैसे हुए जाते हैं। भला अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है ?"

प्रभा—"क्या जानें भाभी मुझसे कुछ नहीं कहा जाता। मैंने सुना था दुर्गाकुण्डपर एक बड़े अच्छे बाबाजी रहते हैं। वह इसके लिए कुछ दवा भी देते हैं। यही सुनकर मैं उनके पास गयी थी। पहले तो

दो-तीन दिन बराबर जानेपर भी वह कुछ बोले ही नहीं। अन्तमें एक दिन बोले। दाईने सारा हाल कह सुनाया। बाबाजी बोले, अभी दवा नहीं दी जा सकती। जब दाईने फिर विनय-पूर्वक अनुरोध किया, तब बाबाजीने कहा, 'देखो, तुमलोग शोरगुल मचा देती हो, इससे हमारे पास बहुत-से आदमी आने लगते हैं। हम भजन-भाव नहीं करने पाते। अगर तुम प्रतिज्ञा करो कि इस बातका जिक्र किसीसे न होने पावेगा, तो हम दवा दें।' मेरी दाईने हाथ जोड़कर कहा कि किसीके भी कानमें यह खबर न जाने पावेगी महाराज! तब बाबाजीने कहा—'अच्छा जाओ, आज शामके वक्त अकेले आना, हम इसके लिए देवताकी आराधना करते हैं।' संयोगसे घरमें कुछ ऐसा काम पड़ा कि उस दिन मैं शामको बाबाजीके पास न जा सकी।"

बाबाजी तीन दिन जानेपर बोले ही नहीं, यह सुनकर चन्द्रकलाको भी बाबाजीपर बहुत विश्वास हुआ। क्योंकि यदि वह ऐसे-वैसे होते तो पहले दिन जाते ही काम साधने लगते। अवश्य ही वह महात्मा हैं, दया आनेसे ही उन्होंने स्वीकार किया है। यही सोचकर चन्द्रकला बोली—"तो क्या हर्ज है, उस दिन न गयी न सही। अब एक दिन जाओ।"

प्रभा—"योगीका चित्त है, कहीं रूठ न गये हों।"

चन्द्र०—"हाँ यह तो हो सकता है। पर साधुओंका चित्त बड़ा कोमल होता है, दीनता दिखानेसे फिर प्रसन्न हो जायँगे।"

प्रभा—"तो मैं अकेली न जाऊँगी भाभी!"

चन्द्र०—"कहोगी तो मैं भी चली चलूँगी। मैं बाहर खड़ी रहूँगी, तुम बाबाजीके पास हो आना।"

प्रभा—"मगर घरवालोंसे क्या कहना होगा? मुझे तो माँसे कहनेमें संकोच मालूम होता है।"

चन्द्र०—"कहनेकी क्या जरूरत है? हवा खानेके बहाने बन्द गाड़ीमें चली चलूँगी।"

प्रभा—"तो कब ?"

चन्द्र०—"आज ही शामको चलो।"

प्रभा०—"अच्छी बात है। पर तुम्हारे लिए कैसे चर्चा की जायगी भाभी ?"

चन्द्र०—"पीछे देखा जायगा। जब मालूम हो गया है, तो मैं भी उनकी सेवा करूँगी, कभी-न-कभी तो खुश होंगे ही।"

सन्ध्या हो गयी। चन्द्रकला और प्रभा दोनों गाड़ीमें बैठ गयीं। बहुधा शामके वक्त चन्द्रकला हवा खानेके लिए बाहर जाया करती थी। इससे उसके जाते समय किसीने कुछ पूछा नहीं। भटकते-भटकते गाड़ी आठ बजे रातको दुर्गाकुण्ड पहुँची। बाबाजीके मकानके सामने गाड़ी रोकनेके लिए कोचवानको आज्ञा दी। फाटकके सामने गाड़ी रुक गयी। प्रभा गाड़ीसे उतरनेमें हिचकिचाने लगी। चन्द्रकलाने कहा—"इस तरह हिचकिचानेसे कैसे काम चलेगा ?"

प्रभा—"तो मैं अकेले न जाऊँगी।"

चन्द्र०—"मेरे चलनेसे बाबाजी नाराज हो जायँगे। तुम जाओ।"

थोड़ी देरतक दोनोंमें वाद-विवाद होता रहा। अन्तमें प्रभा साहस करके गाड़ीसे उतरी। फाटकके भीतर जाकर फिर लौट आयी। चन्द्रकलाने कहा—"अगर ऐसी ही दिल्लगी करनी थी, तो आनेकी क्या जरूरत थी ? यदि मैं ऐसा जानती तो तुम्हारे साथ कभी न आती। आओ बैठो, घर चलें।"

चन्द्रकलाकी रुष्टतापूर्ण बातें सुनकर प्रभाने कहा—"अच्छा नाराज न हो, मैं जाती हूँ। यह कहकर प्रभा मकानमें चली गयी। मकानमें बिलकुल सन्नाटा था। चारों तरफ अँधेरेका शासन था। दीवारोंकी ऊँचाईके कारण चन्द्रमाका प्रकाश भी अच्छी तरह नहीं पहुँचता था। हाँ, इतना जरूर था कि रास्ता ढूँढ़नेमें कोई कठिनाई नहीं थी। रास्ता मालूम था, इससे बिना भटके वह चन्द्रमाके अल्प प्रकाशके सहारे ऊपर चली गयी। कड़ाकेकी सर्दी पड़ रही थी। देखा, बाबाजी बरामदेमें धूनी लगाकर बैठे

हुए हैं। साँवला रंग, हट्टा-कट्टा बदन। उम्र भी अट्ठाईस-उन्तीस वर्षसे अधिक नहीं। सारे बदनमें खाकसे सफेदी छायी है। प्रभा आधा घूँघट काढ़े धीरे-धीरे दबे-पाँव बाबाजीके पास गयी और दण्डवत् करके एक किनारे बैठ गयी। उसकी छाती धड़कने लगी। सारा बदन इतनी कड़ी सर्दी पड़नेपर भी पसीनेसे तर हो गया। बाबाजीने पूछा—"क्या है ?"

प्रभाने भर्राती आवाजसे कहा—"उस दिन मैं कई झंझटोंसे न आ सकी, इसीसे आज आपकी सेवामें आयी हूँ।"

बाबाजी—"अच्छा, सन्तानके लिए आयी हो ?"

प्रभा—"हाँ महाराज !"

बाबा—"तुम्हारी उम्र क्या है ?"

प्रभा—"अठारह वर्ष।"

बाबा—"हूँ। पतिके घर गये तुम्हें कितने दिन हुए ?"

प्रभा—"तीन वर्ष।"

बाबा—"अपना हाथ दिखाओ तो।"

प्रभाने बायाँ हाथ बाबजीके सामने कर दिया। बाबाने हाथ देखकर कहा—"ओफ्। तुमने पूर्व-जन्ममें एक ऐसा पाप किया है, जिससे अभी-तक कोई बच्चा न हुआ। अगर तुम यहाँ न आतीं तो होनेकी आशा भी नहीं थी। अच्छा, तुम्हारे कण्ठके नीचे कोई तिल है ?"

प्रभाने कहा—"मैंने तिलपर कभी ध्यान नहीं दिया है महाराज; क्या जानें ?"

बाबाजी—"देखकर बताओ।"

प्रभा आड़में जाकर तिल देखनेके लिए उठ खड़ी हुई। बाबाजीने कहा—"यहाँ शर्मानेकी कोई जरूरत नहीं है। इधर आओ मैं खुद देख लेता हूँ।"

प्रभा हिचकती हुई बाबाजीके पास आयी। बाबाजीने कहा—"यहाँ प्रकाश नहीं है, दिखाई न पड़ेगा। सामने बत्ती जल रही है, वहाँ जाकर देख आओ।"

बरामदेमें ही दस-बारह हाथ लम्बा एक कमरा था। कमरेमें एक तरफ तख्तेके ऊपर खूब मोटा गद्दा बिछा हुआ था। ऊपरसे सफेद चद्दर बिछाकर तीन-चार तकिये भी रखे हुए थे। तख्तेके पास दीपक जल रहा था। उस कमरेके पीछे एक दरवाजा नीचे जानेके लिए तथा एक दरवाजा दूसरी तरफ जानेके लिए था। ये दोनों दरवाजे बन्द थे। प्रभा हिचकती हुई कमरेमें गयी। बाबाजी भी प्रभाके पीछे-पीछे कमरेमें गये। "तुम दीपकके पास जाकर देखो, मैं दरवाजा बन्द कर देता हूँ; क्योंकि शायद कोई आ जायगा तो तुम्हें संकोच मालूम होगा।" यह कहते हुए बाबाजीने दरवाजा बन्द कर दिया।

प्रभा अच्छी पढ़ी-लिखी सुबोध स्त्री थी। उपन्यासोंमें बहुत तरहके चालबाजोंके किस्से भी उसकी आँखोंके सामनेसे गुजर चुके थे। पर वह भी इस धोखेमें आ गयी। पुत्र-लालसाके फन्देमें पड़नेसे ही आज उसके सतीत्व-चन्द्रको राहु ग्रसना चाहता है। नहीं-नहीं, बाबाजी क्या कभी धोखा दे सकते हैं। दरवाजेको बन्द करते ही प्रभा चौंक पड़ी। उसका शरीर थर-थर काँपने लगा। बाबाजी आकर गद्देपर बैठ गये। प्रभा काँपती हुई खड़ी रही। बाबाजीने प्रभाका हाथ पकड़कर उसको गद्देपर बैठनेके लिए कहा। प्रभा हिचकिचाती हुई जरा-सा खिसककर तख्तेके पास जाकर खड़ी हो गयी। बाबाजीने ज्यों ही प्रेमका भाव दिखाया, त्यों ही प्रभा घबराकर जोरसे चिल्ला पड़ी। बाबाने उसके चिल्लानेपर बिलकुल ध्यान न दिया। उस नीच बाबाने प्रभाकी छातीपर अपना हाथ रख ही दिया। बस तुरत ही प्रभामें एकाएक दैवी शक्तिका संचार हुआ। उसका चेहरा तमतमा उठा। शरीरका कम्पन भी कोसों दूर भाग गया। बिजली-की तरह कड़ककर बोली—"सावधान! नीच! मदान्ध—! खबरदार!"

चोरोंका जी आधा होता है। बाबामें चूँ करनेकी भी ताकत नहीं रह गयी। प्रतिमाकी तरह गद्देपर ही बैठे रह गये। प्रभाने झटपट दरवाजा खोल दिया। सन्नाटा समझकर बाबा बलात्कार करनेके लिए फिर प्रभापर झपट पड़ा। उसने जोरसे आवाज दी, "जमादार! रघुबीर—! जल्दी

ऊपर आओ ! नीचेसे आवाज आयी, "अभी आया !"—"नीच तू समझता है कि मैं यहाँ अकेली आयी हूँ ? मैं तेरे-जैसे साधुओंकी नीचता पहलेसे जानती थी। अभी तुझे मजा चखाती हूँ।

"अभी आया" आवाज सुनते ही बाबा दूसरे रास्तेसे चम्पत हो गया। इधर चन्द्रकला पिस्तौल लेकर प्रभाके पास आ गयी। चन्द्रकला, राजेन्द्र बाबूकी एक पिस्तौल हमेशा अपने साथ रखती थी। दोनों उस नीच बाबाको ढूँढ़नेका प्रयत्न न करके गाड़ीमें बैठकर घर चली आयीं। रास्तेमें प्रभाने सारा किस्सा कह सुनाया। चन्द्रकला अपनी इस मूर्खतापर पश्चात्ताप करती हुई कहने लगी—"मैं तो इन दुष्टोंका हाल जानती थी, परन्तु मेरी बुद्धि आज न-जाने क्यों विक्षिप्त हो गयी थी कि मैंने तुम्हें यहाँ आनेकी सलाह दी। खैर आनेमें भी कोई आपत्ति नहीं, भारी भूल तो यह हुई कि मैंने तुम्हें अकेले उसके पास जाने दिया।"

प्रभाने कहा—"होनहार प्रबल है भाभी। आज मेरी लाज भगवान्ने ही रखी। चूल्हेमें पड़ें लड़का और लड़की। प्रारब्धको क्या कोई मेट सकता है ?"

चन्द्र०—"नहीं यह न कहो। उद्योग भी तो कोई चीज है।"

प्रभा०—"ऐसा उद्योग भाड़में जाय। किया है न एक उद्योग।"

चन्द्र०—"तो क्या इससे तुम उद्योगको दूषित करना चाहती हो ?"

प्रभा०—"नहीं, सो कैसे हो सकता है ?"

गाड़ी साढ़े नौ बजे घर पहुँची। दोनों ननँद-भौजाई राक्षसके चंगुलसे छूटकर मकानमें चली गयीं।

१७

ग्यारह बज चुके थे। चन्द्रकला और प्रभामें यह तय हो चुका था, कि यह समाचार किसी तीसरेके कानोंतक न पहुँचने पावेगा। यह भी तय हो चुका था कि किसी तरह उस नीच बाबाको वहाँसे भगानेका यत्न भी किया जायगा। कमरेमें सोनेके लिए जाते वक्त भी भावजको प्रभा सिखा-रती गयी कि देखना यह बात भैयासे न कह देना। चन्द्रकलाके दिलमें भी यह बात बैठ गयी थी। थोड़ी देरमें बाहरसे राजेन्द्रप्रसाद घरमें आये। चन्द्रकला पलँगपर लेटी हुई कुछ सोच रही थी। राजेन्द्रने कहा—"आज तो घूमने जाकर बड़ी देर लगायी?"

चन्द्र०—"हूँ।"

राजेन्द्र—"कहाँ-कहाँ गयी थीं?"

बाबाके यहाँ जाते समय चन्द्रकला और प्रभाको राजेन्द्रकी तरह ही एक आदमी मोटरमें बैठकर जाता हुआ दिखाई पड़ा था। चन्द्रकलाको सन्देह हुआ कि कहीं झुठाई पकड़ी न जाय। युक्तिसे कहा—"कुछ न पूछो; इधर-उधर फिरते देर हो गयी। मोटरमें बैठे हुए तुम विश्व-विद्यालयकी ओर कहाँ जा रहे थे?

राजेन्द्र—"तुमने कहाँ देखा था?"

चन्द्र०—"दुर्गाकुण्डपर।"

"तुम्हारी गाड़ी क्या दुर्गाकुण्ड गयी थी?"

"हाँ।"

"दुर्गाकुण्ड भी क्या हवा खानेकी जगह है?"

"एक बात बड़ी अजीब देखनेमें आयी है।"

"क्या?"

राजेन्द्रके भावोंसे चन्द्रकलाको मालूम हुआ कि इन्हें सारी बातें कोचवान या साईसके जरिये मालूम हो गयी हैं। इसलिए उसने असली बातोंको छिपाना उचित न समझकर बाबाके यहाँका सारा किस्सा कह

सुनाया। सुनते ही राजेन्द्रका मुँह लाल हो गया। मनमें तरह-तरहके भाव चक्कर लगाने लगे। पर चन्द्रकलाकी सत्य-वादितापर उन्हें बहुत प्रसन्नता हुई। कुछ देर चुप रहनेके बाद उन्होंने कहा—"इस बातको सुनकर मैं अपने वशमें नहीं रह गया हूँ। यही साध्य हुआ कि मैंने तुम्हारे मुँहसे सुना। यदि तुमने यह बात मुझसे छिपायी होती और मैं अन्यत्र कहींसे इसे सुन पाता तो न-जानें क्या हाल होता। यह काम तुमलोगोंने अच्छा नहीं किया।"

कहकर चन्द्रकला पछताने लगी। समझा कि इन्होंने हमलोगोंको देखा नहीं था। यदि न कहती तो इन्हें पता ही क्या चलता? इन बातोंको जानता ही कौन था? नहीं, नहीं! यह भूल है। किसीका कोई भी गुप्त-से-गुप्त काम छिपा नहीं रहता। पापका घड़ा जरूर एक-न-एक दिन फूट ही जाता है। अच्छा हुआ कि यह बात कह दी गयी। स्वामीसे छिपाव कैसा? दूसरोंके मुँहसे यही बात न-जानें किस रूपमें इनके कानोंमें पहुँचती। फिर क्या किसी यत्नसे अपनी सच्चरित्रताका विश्वास इन्हें दिलाया जा सकता था? यही सब सोचकर चन्द्रकलाने कहा—"उस बाबाको किसी तरह दण्ड दिलानेकी कोशिश करो।"

राजेन्द्र—"ऐसे लोग बनारसमें एक-दो तो हैं नहीं कि उन्हें मैं दण्ड दिलाऊँ!"

चन्द्र०—"तो?"

राजेन्द्र—"ऐसे पतित हृदयके हजारों आदमी हैं। शहरकी अधिकांश औरतें कुटनियोंके द्वारा इनके चंगुलमें फँसकर अपना जीवन नष्ट कर डालती हैं। तुम्हें मालूम नहीं कि यह पगली औरत जो रोज सड़कपर भीख माँगती और बकती फिरती है, वह कौन है?"

चन्द्र०—"कौन है?"

राजेन्द्र—"यहाँके प्रतिष्ठित रईस बा० जुहारमलजीकी पतोहू है।"

चन्द्र०—"इसकी यह दशा क्योंकर हुई?"

राजेन्द्र—"यह भी यहाँकी कुटनियोंके चंगुलमें फँस गयी थी। इसका

पति विलायत पढ़ने गया था। उसकी अनुपस्थितिमें ही इसको बच्चा पैदा हो गया। इसपर पुलिसका इतना कड़ा पहारा था कि यह भ्रूण-हत्या करके अपने पापको न छिपा सकी। जुहारमलजीने कुटुम्बवालोंकी सलाहसे इसे निकाल दिया। बहुत दिनोंतक तो इसके दिन खूब चैनसे बीते, पर जब उम्र ढलने लगी, तब यह एक पैसेके सत्तूके लिए तरसने लगी। पेटकी ज्वालाके कारण थोड़े ही दिनोंमें यह पागल हो गयी। इधर कई वर्षोंसे यहाँपर नहीं थी, पर आठ-नौ महीने हुए फिर न-जानें कहाँसे आ गयी।"

चन्द्रकलाकी छाती धकधकाने लगी। धीरज धरकर उसने पूछा—"क्या इस एक नीचकी संख्या भी कम नहीं की जा सकती?"

राजेन्द्र—"क्यों नहीं की जा सकती है। क्या तुम समझती हो कि मैं इस बातको सुनकर भी यों ही चुप बैठा रह जाऊँगा? जरा सबेरा तो होने दो, फिर मैं उसे मजा चखाऊँगा। क्या बतलाऊँ, बड़ा बे-मौका है।"

चन्द्र०—"कैसा?"

राजेन्द्र—"किसीको मालूम न हो जाय।"

चन्द्र०—"हाँ,—यह तो ठीक कहते हो। बल्कि जाने दो।"

राजेन्द्र—"नहीं जी, यह कैसे हो सकता है। या तो मैं नहीं और या वह नीच नहीं।"

सबेरा हुआ। राजेन्द्र कोतवालके पास पहुँचे। सारा हाल सुनते ही कोतवालने बाबाको पकड़नेके लिए दस सिपाहियोंको साथ कर दिया। पर सिपाहियोंके जानेके पहले ही बाबा वहाँसे भागकर कहीं अन्यत्र ठगहारी करनेके लिए चला गया था। लाचार होकर राजेन्द्र घर लौट आये।

ओफ्! प्रभा और चन्द्रकला-जैसी शिक्षित स्त्रियाँ भी जब नीच बाबाके चंगुलमें फँस गयी थीं, तो अशिक्षित स्त्रियोंकी तो बात ही क्या। किन्तु ऐसा हुआ क्यों? और कुछ नहीं, केवल स्त्रियोंकी अशिक्षा ही इसका कारण है। यदि स्त्री-समाज शिक्षित होता, तो चन्द्रकला और प्रभा जैसी शिक्षिता

स्त्रियोंको कभी धोखा न खाना पड़ता। मूर्खा स्त्रियोंमें बैठनेके कारण पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ भी भूल कर जाया करती हैं। उनकी संगतिका असर उनपर भी पड़ जाता है। प्रभाकी सासका ताना ऐसा था कि बेचारी प्रभा अपना सतीत्व नष्ट करते-करते बची।

१८

इधर देखते-ही-देखते नदीके प्रवाहकी तरह समयका स्रोत प्रवाहित होते-होते चन्द्रकलाकी अवस्था भी बाईससे ऊपर हो गयी। उसकी माँ लड़कीकी इस दशापर निराशाकी प्रचण्ड आगमें जलने लगी। पुत्र-विहीना चन्द्रकलाके स्वामीके अतुल ऐश्वर्यका उत्तराधिकारी कौन है, यह बात इस जमींदार परिवारसे छिपी नहीं थी। क्योंकि इस तरहके मुक-दमोंके सैकड़ों फैसले हर एकके कानोंमें जा चुके थे। पुत्र उत्पन्न किये बिना चन्द्रकला सौतके लड़केका हक और किस तरह छीन सकती थी! ईश्वरकी लीला इसीको कहते हैं। जब चन्द्रकलाका जीवन ही ईश्वरीय विडम्बनाके काँटोंसे घिरा हुआ है, तब उसके भाग्यमें इतनी स्वच्छन्दता ही विधाता कैसे लिखते! विवाहका प्रारम्भ होते ही भावी सुख और सौभाग्यकी कच्ची दीवारको पुष्ट करनेके लिए न-जानें कितने तरहके अशास्त्रीय विचित्र मन्त्र-तन्त्र तथा अद्भुत अनाचार-पूर्ण अनुष्ठान कराये गये थे! पर विवाह होनेके बाद दिन-पर-दिन उसका माथा नीचे ही होता गया—कभी भी वह गौरवान्वित स्थान प्राप्त नहीं कर सकी। सौत मनोरमाके साथ अपनी तुलना करके, चन्द्रकला यह स्थिर नहीं कर सकती थी कि दोनोंमें किसकी अवस्था अच्छी है। उसके आश्रित लोगोंको तथा उससे अधिक प्रेम रखनेवाले दो-चार व्यक्तियोंको छोड़कर संसार-भरके लोगोंका स्नेह परित्यक्ताके ही ऊपर था। मुँहसे चाहे कोई यह बात

कहे या न कहे, पर चन्द्रकलासे यह बात छिपी हुई नहीं थी। वह स्वयम् भी अपनी सहेलियोंसे चर्चा चलनेपर छिपे तौरसे कहा करती थी। स्पष्ट कहती ही कैसे! यह बात यदि किसी पास-पड़ोसकी स्त्रीकी होती तो वह खुलासा कही जा सकती थी; पर अपनी कुत्सित भावनाओंका विचार करनेमें स्वभावतः मनुष्यकी बुद्धि ऐसी होती है कि वह उसे विवेक-शून्य बनाकर अन्धेकी भाँति कुपथकी ओर ही ले जाती है—स्पष्ट निर्णय नहीं करने देती।

वस्तुतः विचार करनेसे मालूम होता है कि इसमें चन्द्रकलाका कोई दोष नहीं है। ब्याहसे पहले ही वह अपने माँ-बापके कानों-तक कुटुम्बकी स्त्रियोंद्वारा यह बात पहुँचा चुकी थी कि सौतिया डाह सहन करानेकी अपेक्षा तो लड़कीको पानीमें बहा देना लाख दर्जे अच्छा है। इसी बातपर चन्द्रकलाके माँ-बापमें बहुत झगड़ा भी हुआ था। उन्होंने चन्द्रकलाको रोते भी देख लिया था। किन्तु गंगाधर महाशय चन्द्रकलाके ब्याहके लिए वरकी खोज करनेमें बहुत परेशान हो चुके थे। राजेन्द्रकी भाँति विद्वान्, सुन्दर, धनी, कुलीन और सर्वगुण-सम्पन्न वर पाकर वह कभी छोड़ना नहीं चाहते थे।

होनहार बड़ा प्रबल होता है। उन्होंने किसीकी एक न सुनी और राजेन्द्रके साथ चन्द्रकलाको ब्याह दिया। ब्याह होनेके समय स्वामीकी सराहना सुनकर चन्द्रकला प्रसन्न तो हुई, पर सौतका स्मरण होते ही उसका कलेजा सूख गया। वैवाहिक शुभ गीत वगैरह उसे श्मशानके रुदनकी तरह प्रतीत हुए थे। राजेन्द्र एक स्त्रीका जीवन अकारण ही नष्ट करके महान् स्त्री-हत्याके पापका भार अपने सिरपर लाद चुके हैं। उसी हत्याके प्रभावसे अभी न जानें कितनी हत्याएँ और करेंगे। स्त्री-हत्या ही राजेन्द्रका पेशा प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त राजेन्द्रके घर आनेपर जब चन्द्रकला सासके चरणोंको आँचलसे छूकर माथे चढ़ाने लगी थी, तब सासको आशीर्वाद देनेके बदले आँखोंसे आँसू गिराते उसने देखा था। एक बात और थी—सदानन्द महाशयकी कठोरताकी चारों ओर सुस्पष्ट और अस्पष्ट गुञ्जरित

ध्वनिको भी वह सुननेसे वंचित नहीं थी। भामाके जिस व्यवहारका उल्लेख पहले किया जा चुका है, वह भी किसी नव-वधूके लिए—खासकर ऐसी बहूके लिए जो रूपवती है, जो विद्या-बुद्धिमें प्रशंसनीय है एवं अपने मनमें भी जो अपने गौरवका ध्यान रखती है और इन बातोंके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह है कि जिसके बाप बहुत बड़े धनी हैं—विशेष करके वह धन उसके बापकी सन्दूकमें बन्द नहीं था बल्कि समय-समयपर बहुत अधिक परिमाणमें लड़कीके ससुरके घर आया है और बराबर आनेकी सम्भावना है—सह्य नहीं हो सकता था। स्वामी राजेन्द्रके सम्बन्धमें अवश्य ही इस प्रकारकी कोई स्पष्ट बात नहीं थी जिससे उनका दुर्व्यवहार समझा जा सके। उनके व्यवहारोंकी समालोचना करते हुए भद्र समाजका कोई भी मनुष्य, स्त्री-पुरुषमात्र सुन्दर व्यवहार छोड़कर और कुछ नहीं कह सकता; किन्तु स्वामी-स्त्रीका सम्बन्ध ईश्वरने कुछ ऐसा बना दिया है कि इस दुर्भाग्य-क्रमको 'सुन्दर व्यवहार' में भी समाबद्ध नहीं किया जा सकता।

पलँगपर लेटी हुई मर्माहत अभिमानिनी चन्द्रकला जिस समय अश्रुधारासे बिछौनेको तर कर रही थी, उसी समय राजेन्द्र अचानक स्वप्नसे जागकर स्त्रीका रोना ताड़ गये एवं उसी क्षण समीप आकर स्निग्ध कण्ठसे बोले—"इस वक्त भी तुम जागती हुई रो रही हो? चुप रहो।"

चन्द्रकला बेवकूफ स्त्री नहीं थी; इसके अतिरिक्त उसका भाग्य भी उसे बेवकूफ बनानेके लिए सहायता नहीं कर रहा था। इस अवस्थामें लड़कियोंको किस प्रकार ससुरालमें रहना चाहिये, इस तरहके संकट-पूर्ण संकीर्ण मार्गमें किस तरह सँभलकर पैर रखना चाहिये, आदि बातें चन्द्रकलाको उसकी माँ तथा अन्यान्य अभिभाविकाएँ, उठते, बैठते, खाते, सोते, बार-बार सुना चुकी थीं। इस तरहकी शिक्षासे वनके पक्षी भी सीख लेते हैं, फिर भला चन्द्रकला जैसी चतुर स्त्री उन शिक्षाओंको कैसे न ग्रहण करती? यद्यपि चन्द्रकला उस रुदनमें स्वामीकी बातें नहीं सुन सकी थी, किन्तु उसने बिना कुछ सोच-विचार किये स्वामीको स्पर्श करके

कहा—"मुझे इस घरमें कोई भी अच्छी नजरोंसे नहीं देखता !" चन्द्रकलाके इस स्पर्शसे राजेन्द्रके शरीरमें एक प्रकारका भयानक कम्प-सा पैदा हो गया। चन्द्रकला इस कम्पका कारण जानती हुई भी अनजान बनी रही। क्योंकि इस समय तो वह अपने ही दुःखसे पीड़ित थी। स्वामीके हृदयमें बहुत दुःख हुआ या कुछ भी नहीं हुआ, इसपर भला वह इस समय ध्यान ही कैसे दे सकती है ! थोड़ी देरतक चुप रहनेके बाद राजेन्द्रने स्नेहसे स्त्रीका हाथ धीरेसे खींचकर अपने शरीरपर रखते हुए कहा—"तुम्हें अच्छी नजरोंसे कोई क्यों नहीं देखेगा ? जरूर देखेगा। जब कि इस घरमें तुम्हें बाबूजी लाये हैं, तब तुम्हारा अनादर कौन कर सकता है ! किसकी इतनी बड़ी हिम्मत है ?"

चन्द्रकला—"बड़ी दीदी तो मेरा मुँह भी नहीं देखना चाहतीं"

राजेन्द्र फिर थोड़ी देरके लिए चुप हो गये। जरा गला साफ करके बोले—"उसे इस समय बहुत दुःख हो रहा है न। देखती हो कि वह तो बिछौनेसे भी नहीं उठ सकती।"

चन्द्रकला—"उनके शरीरमें तो कुछ हुआ नहीं है, चित्त दुःखी है। उनका सारा हाल छोटी बबुई मुझसे कह चुकी हैं। वह इस ब्याहकी चर्चा होनेके समयसे ही रूठी हुई हैं। ससुराल चली गयी होतीं, पर बाबूजीके भयसे नहीं गयीं। यह भी सुना है कि वे कभी भी मेरा मुँह न देखनेके लिए कहती थीं। और लोग चाहे जो कहें, पर वह मेरा मुँह इस जन्ममें नहीं देखेंगी। तो फिर मेरे—"

दुःखकी अधिकतासे चन्द्रकलाका गला कहते-ही-कहते रुँध गया। इससे आगे वह एक शब्द भी न कह सकी।

राजेन्द्रने कहा—"छिः पगली कहींकी। भला ये बातें भी क्या विश्वास करनेके लायक हैं ! अच्छा मैं उसे समझा दूँगा। यह सब लड़कपनके सिवा और कुछ नहीं है।"

चन्द्र०—"और तुम ! तुम मेरे साथ क्या करोगे—सो भी बतला दो ना !"

अबकी बार फिर राजेन्द्रके शरीरके रोंगटे खड़े हो गये। पर उन्होंने नयी आशाके सन्देहसे आन्दोलिता, व्याकुला, आश्रय-प्रार्थिनीके मुँहकी ओर देखकर उसका मस्तक अपनी छातीसे लगा लिया और सीधे-सादे शब्दोंमें स्नेह-पूर्वक मधुर स्वरमें कहा—"मैं तुम्हारा किसी तरहसे भी अपमान न करूँगा प्रिये !"

राजेन्द्रने अपनी इस बातको आजीवन निबाहा भी। चन्द्रकलाका निरादर उन्होंने एक दिन भी किया था, यह बात और कोई तो कह नहीं सकता, चन्द्रकलाके मुँहसे भी कभी सुननेमें नहीं आयी। वे चन्द्रकलाका जितना सम्मान करते थे, उसकी चोटसे न-जानें कितने आदमी उनके मुँहपर तो नहीं, पर आड़में उन्हें 'मेहरा' शब्दसे सम्बोधित करते थे। रही स्वाधीनताकी बात, सो भी राजेन्द्रने चन्द्रकलाको सोलहो आने स्वतंत्र ही रखा। जिस दिन उसकी इच्छा नौकर और दाईको साथ लेकर थियेटर जानेकी होती थी, चली जाती थी—स्वामीकी कुछ भी मनाही नहीं थी। जिस दिन इस बातके लिए अनुरोध करती थी कि "आज तुम स्वयं मुझे अपने साथ ले चलकर बायस्कोप दिखलाओ—आज मैं और किसीके भी साथ न जाऊँगी; तुम्हारे साथ बायस्कोप देखनेकी आज मेरी बड़ी प्रबल इच्छा है"—उस दिन कहीं जाने-आनेके लिए अपने घनिष्ठसे-घनिष्ठ मित्रको भी रंज करके राजेन्द्र अपनी स्त्रीकी इच्छा पूर्ण करते थे। उस दिन राजेन्द्रको रोक लेनेकी शक्ति किसीमें भी नहीं रहती थी। जबतक सदानन्द जीवित थे, तबतक इन सब बातोंकी पूर्ण स्वतंत्रता तो नहीं थी, पर उस समय भी जो सम्भव था, उसे करनेसे मुँह नहीं मोड़ते थे। किसी जौहरीके यहाँसे नया सूचीपत्र आनेपर चन्द्रकलाके मनमें एकाध गहना खरीदनेकी जरूर इच्छा उत्पन्न हो जाती थी; पर राजेन्द्र कभी उसे ला देनेमें आनाकानी नहीं करते थे। एक बार एक नये तरहकी हीरा-जड़ाऊ चूड़ियाँ खरीदनेके लिए राजेन्द्रने अपनी चेन-सहित घड़ी बन्धक रख दी। उस समय उनके पास रुपये नहीं थे। उनके एक अन्तरंग मित्रको यह बात किसी तरहसे मालूम हो गयी। मित्रने भर्त्सना

करके कहा—"वह, क्या दो दिन सब्र नहीं कर सकती थी कि तुमने घड़ी बन्धक रखी ? इस तरहकी पत्नी-भक्ति तो मैंने कहीं नहीं देखी राजेन्द्र ?"

राजेन्द्रने हँसकर जवाब दिया—"वाह, गहना पहननेकी साध होनेपर मैं उसे कैसे न पहना दूँ ! दो दिनके बाद यदि उस तरहकी चीज बाजारमें न मिले तो ?"

"न मिले तो नहीं सही—गहनोंका तो घाटा है नहीं; मेरी स्त्री कहती है कि जो गहने रानियोंके पास नहीं हैं, वे भी राजेन्द्र बाबूके घरमें हैं।"

राजेन्द्रने हँसते हुए ही कहा—"इसीलिए तो उसके पिताने मेरे साथ उसका ब्याह किया। जो चीज उसके पास न रहेगी, वह भला किसके पास रहेगी ?"

मित्र राजेन्द्रकी बातें सुनकर चुप हो गया। इसके बाद उसने स्त्रीके बारेमें राजेन्द्रसे कभी कोई बात नहीं कही।

एक बार और एक मित्रको राजेन्द्रकी कोई बात असह्य हो गयी थी। उसने भी राजेन्द्रसे कहा—"स्त्रीकी तुम इतनी सुश्रूषा क्यों करते हो ?"

राजेन्द्र—"तो क्या तुम्हारी राय है कि न करूँ ?"

उसने कहा—"मैं यह नहीं कहता। पर सब काम सीमाके भीतर ही अच्छा मालूम होता है। तुम हृदयसे उसकी चाहना करो—दूसरोंकी नजरोंपर चढ़नेसे लाभ ?"

राजेन्द्र—"पहली स्त्रीकी बात छोड़ दो। दूसरे ब्याहकी स्त्रीको तो हमारा धर्म-शास्त्र सहधर्मिणीका पद ही नहीं देता। भला बताओ कि इस लोकमें भी यदि दूसरी स्त्रीके साथ व्यवहार अच्छा न करके पदच्युत कर दिया जाय, तो कैसे काम चले ? तिसपर इसकी जो अवस्था है वह तो—"

"क्या ?"

"कुछ नहीं—मेरी एक दूरके नातेकी बुआ थीं, वह अपने स्वामीकी तीसरी स्त्री थीं। कभी-कभी वह कहा करती थीं कि पहले

ब्याहकी स्त्री स्वामीका जूठन खानेमें अपना अहोभाग्य समझती है; दूसरे ब्याहकी स्त्री स्वामीके साथ बैठकर खाती है और तीसरे ब्याहकी स्त्री स्वामीके सिरपर चढ़ जाती है।"

इस बातपर दोनों ही हँस पड़े। बाद मित्र वकील बनकर राजेन्द्रसे जिरह करता हुआ बोला—"पर भाई तुम्हारी स्त्री तो तीसरे ब्याहकी नहीं है, फिर तुम व्यर्थ ही उसे सिरपर बिठाकर अपने ऊपर बोझ क्यों लाद रहे हो! क्यों, क्या इस स्त्रीको तुम 'डबल प्रमोशन' तो नहीं दे चुके हो! किन्तु यह नया नियम बनाना तो ठीक नहीं यार।"

राजेन्द्रने हँसकर कहा—"तीसरे ब्याहकी नहीं, इसे तुम सातवें ब्याहकी समझो। अफसोस है कि सिरसे ऊँचा तो शरीरमें कोई स्थान ही नहीं, जहाँ इसे बिठाऊँ।"

मित्रने समझ लिया कि पत्नी-भक्तिके समुद्रमें डूब जानेके कारण राजेन्द्रके उद्धारका कोई मार्ग नहीं है। अनजानको कितना समझाया जा सकता है। यही समझकर मित्र चुप होकर चला गया।

वास्तवमें राजेन्द्र मनोरमाके स्वामी थे, इसके बाद चन्द्रकलाके; इसीसे राजेन्द्रके इतने अच्छे बर्तावसे भी चन्द्रकलाको अपने प्रति स्वामीके प्यारका अभाव ही दीखता था। आकर्षणकी हीनताका अनुभव करके हिंसाके विषसे चन्द्रकला व्याकुल थी; पर इसका दायित्व किसपर था?

दायित्व? किसीपर भी नहीं। उसका भीतरी पत्नीत्व इस ईर्षा-दग्ध चित्तकी झूठी कल्पनामें व्यर्थ ही जल रहा था। स्वामी तो उसके बाहर थे ही नहीं। उन्होंने तो अपने मनमें उसे सर्वेश्वरी ही समझ रखा था। दो दिनोंके उस पुराने प्रेमकी स्मृति इतने दिनोंमें पुराने चित्रके रंगकी लकीरकी भाँति मलिन होते-होते निश्चय ही कभीकी समाप्त हो गयी है। उसके स्थानपर आज इस नवीना सुदर्शना-सुन्दरी चन्द्रकलाका चित्र-मात्र षोडश कला-युक्त चन्द्रमाकी भाँति अपनी शोभाके गौरवसे आलोकित हो रहा है! चन्द्रकलाकी तरह सर्वगुण-सम्पन्न स्त्री पाकर भी क्या राजेन्द्र दो दिन साथ रही हुई दरिद्र-कन्याको नहीं भुला सकते? चन्द्र-

कलाके इतने दिनोंके साहचर्यमें क्या इतनी भी शक्ति नहीं? इन सारी बातोंको चन्द्रकला बार-बार सोचती रहती है—पर किसी तरह भी उक्त बातोंपर उसका विश्वास नहीं टिकता। इस चिन्ताका वह जितना अधिक आश्रय लेती है उतनी ही इसकी असंगतता स्पष्ट होकर बोल देती है—यह असम्भव! अपनी मनोनीता—प्रथम प्रणय-पात्री—बिना दोषके दूसरे द्वारा त्यागी हुई स्त्रीको जो भूल सकता है, वह संसारमें किसको नहीं भूल सकता? उसके हृदयमें स्थान प्राप्त करनेकी इच्छा न करना ही श्रेयस्कर है। और फिर ऐसे आदमीके हृदय ही कहाँ? सो नहीं हो सका—जो नहीं हो सकता, वह प्राप्त नहीं हो सकता। राजेन्द्रका हृदय तो इससे पहले ही मनोरमाके हाथ बिक चुका है। इस समय यदि इस शुष्क काठसे चन्द्रकलाका कुछ काम चले तो भले ही चले, पर है इसमें कुछ भी नहीं। जो नहीं है, वह रूठनेसे, अन्न छोड़नेसे या और किसी तरहकी हठ-धर्मी करनेसे नहीं मिल सकता।—क्यों नहीं है, यह जाननेके लिए भी तो कोई सामग्री नहीं।

स्त्री-पुरुषके यौवन-कालमें अनेक तरहकी बातें होती ही रहती हैं। बात-बातमें ही नाराजगी पैदा हो जाया करती है, क्षणभरमें ही वह रंज दूर होकर फिर स्नेह-पूर्वक बातें भी होने लगती हैं। पर चन्द्रकलाके साथ बातें करनेमें राजेन्द्रको बहुत ही सावधानीसे काम लेना पड़ता था। क्योंकि साधारण बातको वह अपने मानसिक सन्देहसे बहुत बड़ा रूप धारण करा दिया करती थी। उसीको लेकर वह स्वामीसे झगड़ा भी कर बैठती थी। ब्याह होनेके पहले एक भीख माँगनेवाली औरतने चन्द्रकला-की हस्त-रेखा देखकर कहा था कि, "चन्द्रकलासे और इसके स्वामीसे मेल न रहेगा।" इससे जरासी बात होते ही चन्द्रकला झट स्वामीसे कह बैठती—"तुम्हारा दोष नहीं, यह सब मेरे भाग्यका दोष है। इसे तो उस औरतने ही हाथ देखकर बतला दिया था।"

एक दिन बातें करते-करते राजेन्द्रको नींद आने लगी, इसलिए वे चन्द्रकलाकी ओरसे मुँह फेरकर जरा आँखकी कड़वाहट दूर करनेके लिए

नींद लेने लगे। चन्द्रकलाने इस प्रकार स्वामीके मुँह फेरनेका भाव कुछ और ही समझ लिया। रोने लगी। रोनेकी हिचकसे राजेन्द्रकी नींद दूर हो गयी। उन्होंने चौंककर रोनेका कारण पूछा। स्त्रीने कहा—"कुछ नहीं!"

राजेन्द्र—"तो फिर रोती क्यों हो?"

चन्द्र०—"यों ही।"

राजेन्द्र—"बिना सबब?"

चन्द्रकलाने कुछ भी जवाब न दिया। अन्तमें राजेन्द्रके बार-बार अनुरोध करनेपर वह रोती हुई कहने लगी—"मैं तुम्हें भी अप्रिय हो गयी हूँ। तभी तो तुम मेरी ओरसे मुँह फेरकर सो रहे हो।"

"नहीं जी, तुम ऐसा खयाल न किया करो। मुझे नींद आ रही थी; इससे मैंने समझा कि तुम्हारी तरफ मुँह रखनेसे नींद न आवेगी।"

चन्द्र०—"यहाँ आनेपर तो तुम्हें नींद आवेगी ही।"

किसी तरह राजेन्द्रने समझा-बुझाकर उसे शान्त किया।

१९

भामाका ब्याह कछवा-निवासी पं० हरिदत्तके साथ हुआ था। आजकल भामा ससुरालमें है। वेदव्रत महाशय भी कछवामें ही रहने लगे हैं। यहाँ उन्होंने एक बहुत बड़ी दूकान भी कर ली है। अब एक प्रकारसे इनका रहना बनारस बहुत ही कम होता है। वेदव्रतको पाठक भूले न होंगे। यह वही राजेन्द्रके चचेरे भाई हैं। सावित्री भी स्वामीके पास ही रहती थी। भानुमतीके ब्याहके कई दिन पहले, एक दिन सावित्री और वेदव्रतमें एक बातपर परामर्श हो रहा था। वेदव्रत बड़े ही सीधे-सादे आदमी थे। इस वक्त भामाकी सलाहसे सावित्री किसी बातके

लिए स्वामीसे अनुरोध कर रही थी। आज स्त्रीके विशेष अनुरोधसे वेदव्रतने कहा—"यदि ऐसा ही है, तो किसी आदमीके साथ जीवाको भेज दो और तुम्हारी इच्छा हो तुम भी मामाको साथ लेकर चली जाओ।"

इस घटनाके कई घण्टे पहले पति-परित्यक्ता और पितृ-विहीना कन्या मनोरमा घरमें बैठी हुई अपनी फटी धोती सी रही थी। इतनेमें सखी जहाँनारा एक ऊनी गलाबन्द बुनती हुई आकर बैठ गयी और कहने लगी—"सुशीलके लिए यह बुन रही हूँ। देखो तो मानू, यह और कितना लम्बा करनेसे ठीक होगा। हाथसे नापकर मैंने देखा है, तीन हाथ तो हो गया है।"

मनोरमा सलज्ज कृतज्ञतासे सखीके दिये हुए वस्त्रकी ओर देखकर प्रशंसा-सूचक शब्दोंमें कहने लगी—"बस इतना बड़ा तो काफी है; अब और बड़ा करनेकी क्या जरूरत है। तू तो बहुत जल्द बुनने लगी नूरी—इसे तो अभी उसी दिन शुरू किया था न? इतने ही दिनोंमें इतना हो गया! बीचमें घरका काम-काज भी तो करना पड़ता है! यही काम तो है नहीं।"

नूरा—"चल चल, झूठी तारीफ न कर। भला इसके बुननेमें और कितना समय लगता है?—अच्छा, मैं जाऊँ, आज मैं अधिक देरतक न बैठ सकूँगी—हमीदने आज दो-तीन लड़कोंको आमन्त्रित किया है।"—उक्त बात कहती हुई वह उठ खड़ी हुई।

मनोरमाने कहा—"हर वक्त घरमें घीका घड़ा लुढ़काकर ही आती हो। ऐसा ही रहता है तो आती ही क्यों हो?"

नूरा—"क्या करूँ, जी नहीं मानता, चली आती हूँ। जानती तो हो कि घरमें माँके मरते ही मेरा सारा सुख चला गया। अगर मैं इधर-उधर करूँ, तो अब्बा और भाईका खाना कौन पकावे। सभी तो देखना पड़ता है न! दुनियाका काम ही ऐसा है।"

मनोरमाने लज्जित मुखसे "सो तो ठीक है" कहकर सिर नीचे कर लिया और कहा—"इतनी उम्र तो इसी तरह बीत गयी! अच्छा, इतनी

बड़ी सृष्टि जो ईश्वरने रची, सो क्या इस तरह व्यर्थ होनेके ही लिए, री नूरी ?"

नूरा—"अल्लाहकी जो मर्जी !"

मनोरमा—"ठीक ही है, किस तरहकी उनकी मर्जी है, सो तो वही जानें ! अच्छा हाँ री नूरा, बहुत दिनोंसे मैं एक बात तुझसे कहना चाहती थी, पर अब कहूँ, तब कहूँ, करते-करते ही आजतक न कह सकी।"

नूरा—"सो क्या ?"

मनो०—"देखना तुम्हें मैं अपनी समझकर कहती हूँ, अपने दिलमें किसी तरहका खयाल न करना।"

नूरा—"कहो ?"

मनो०—"तू क्यों हिन्दूके घरकी बाल-विधवाकी तरह इतने दिनोंसे सन्यासिनी बनकर बैठी है ? इस तरह कबतक रहेगी ? तेरे चचेरे भाई तसीर तेरा ब्याह करनेके लिए चिन्तित हैं; और भी पास-पड़ोसके सब लोगोंकी राय है कि तेरा ब्याह हो जाय; फिर तू क्यों ऐसा करती है !—"

जहाँनाराका कमलकी भाँति खिला हुआ मुँह एकदम सिकुड़ गया। फिर भी हँसकर उत्तर दिया—"तो फिर तू क्यों चुपचाप बैठी है ? अपने मनके मुआफिक किसीको पसन्द क्यों नहीं कर लेती।"

मनो०—"दुत् ! मेरी और तेरी बात एक कैसे होगी ? तुम्हारी जातिमें तो ऐसा होता है।"

नूरा०—"तो क्या तुम्हारे समाजमें अगर यह बात चलती होती तो तुम ऐसा कर लेतीं।"

मनोरमाका मुँह लज्जा-सागरमें डूब गया। उसने आँचलसे मुँहको ढाँककर कहा—"छिः—छिः ! नहीं भाई, तू मुझे माफ कर—बुरा न मान।"

जहाँनारा हँसती हुई मनोरमाके पास आ गयी। लज्जा-निपीड़िताका गला पकड़कर प्रेम-पूर्वक कहने लगी—"क्यों मानू, तेरी बातें क्या कभी दिलमें बुरी मालूम हो सकती हैं ? मैं बुरा मानूँगी ही कैसे ! देख मानू,

समाजमें बहुत तरहकी बातें हैं; पर उनके रहनेसे सबलोग उन्हें करते नहीं। हर कौममें ऊँचे और नीचे लोगोंके दो दर्जे होते हैं। भला सोचो तो सही, जिसे सोचकर नफरत मालूम होती है, वह कैसे किया जा सकता है? यह रिवाज हमारे-तुम्हारे लिए कभी अच्छा नहीं है। यह उन औरतोंके लिए है जो ब्याहका मूल्य बिलकुल समझती ही नहीं। मैं इस रिवाजको बुरा नहीं कहती; क्योंकि दुनियामें सब तरहके लोग होते हैं! सब औरतें तो अपनी जिन्दगी इस तरह रहकर बिता नहीं सकतीं। इसलिए उन औरतोंके लिए तो बुरे रास्तेपर न जाकर यही करना ठीक है; मगर मैं अपने लिए तो इसे हैवानका काम समझती हूँ। हकीकतमें देखा जाय तो हैवानका काम इसके अलावा और हो ही क्या सकता है! मैंने तो जबसे संस्कृतमें सती स्त्रियोंका जीवन-चरित्र पढ़ा, तबसे मुझे इस पुनर्विवाहसे नफरत हो गयी। तेरे मुँहसे यह बात शोभा नहीं पाती मानू! क्या मैं तुच्छ मोहके स्वप्नमें भूलकर अपनेको एकदम गिरा दूँ—यही तेरी राय है?"

मनो०—"बहन, तू उम्रमें तो मुझसे दो वर्ष छोटी है, पर ज्ञानमें मुझसे बहुत बड़ी है।"

नूरा—"नहीं मानू! ऐसा न कहो? हम दोनों ही तकदीरकी मारी हुई हैं। मगर हमलोग अपने आदर्शको नष्ट नहीं होने देंगी। क्यों, क्या राय है मानू?"

ठंढी सास लेकर मनोरमाने कहा—"हाँ भाई।"

सखीको बिदा कर देनेपर भी मनोरमाका दिल मानो बादलोंसे घिरा ही रहा! जहाँनाराका वह हास्य-युक्त तिरस्कार उसके हृदयमें चुभ रहा था। सचमुच ही उस सर्वत्यागिनी, वंश-मर्यादाभिमानिनी, प्रतिव्रताके समीप इस तरहकी छोटी बात कहना ठीक नहीं हुआ। ईश्वरने हर जातिमें छोटे-बड़े लोगोंको पैदा किया है—सब कामोंको क्या सबलोग कर सकते हैं?

इतनेमें सुशीलने आकर कहा—"देखो माँ, मेरी यह चिट्ठी! सुबह तू भोजन बना रही थी, इससे मैं नहीं दिखा सका। ले इसे पढ़ ले।"

मनोरमाने पूछा—" चिट्ठी ! तुझे किसने लिखी है !"

सुशील—"बुआने लिखी है। बहू माँकी ओरसे उन्होंने निमंत्रण भेजा है। अच्छा, मुझे खानेको दो, तबतक मैं चिट्ठी पढ़कर तुम्हें सुनाता हूँ।" "चिरंजीवेषु बेटा सुशील,"—"माँ ! बुआने किस ढंगसे लिखा है—पर मुझे तो शर्म मालूम होती है।"

मनो०—"शर्म काहेकी रे ? वह तेरी बुआ हैं न ! तुझे वह प्यार करती हैं कि नहीं।"

सुशील—"अच्छा; बुआ मुझे इतना प्यार क्यों करती हैं माँ, उन्होंने मुझे तो कभी देखा नहीं !"

मनो०—"देखा नहीं है तो क्या; यह मैं अच्छी तरह जानती हूँ, वह तुझे बहुत प्यार करती हैं। हाँ, क्या लिख रही हैं, सुनाओ तो जरा !,,

सुशील—"अच्छा सुनो—बेटा, तुम्हारी चिट्ठी बहुत दिनोंसे नहीं मिली, चित्त बहुत चिन्तित है। चिट्ठी न भेजनेका कारण क्या है बेटा ! मेरे मुन्ने ! तुम्हारी चचेरी बहन भानुमतीका ब्याह होगा। उस समय तुम अपनी माँको साथ लेकर अपने बहनोईको देखनेके लिए आओगे न !" —'यह क्या माँ, तू इस तरह क्यों हो गयी ! क्या तुम बुआके पैर लगी हो ? यह लो, खानेको भी नीचे गिरा दिया ! जाओ, मुझे भूख भी नहीं है; गिर गया, अच्छा ही हुआ।"

मनोरमा नीचे मुँह करके हाथसे गिरी हुई कटोरीकी ओर देखती हुई बैठ गयी। भूखे लड़केका खाना चारों तरफ जमीनपर छिटक गया। मनोरमा थोड़ी देरके लिए आत्म-विस्मृत हो गयी। परन्तु उसके सिवा इस बातको दूसरा और कौन जान सकता था ? घरमें और तो कुछ है नहीं, वह अब दिनभरके भूखे लड़केको खानेके लिए और क्या देगी ! हँसमुख लड़का चाहे जितने जोरसे अपनी अक्षुधा जाहिर क्यों न करे, किन्तु माँके हृदयकी आत्मग्लानि क्या यों ही मिट सकती है !

बाहरसे जूता पहने हुए किसी आदमीके आनेकी आवाज सुनायी पड़ी। कौन आ रहा है, बात क्या है—यही सन्देह-पूर्ण प्रश्न मनमें पैदा

होते ही एक सोलह वर्षका तरुणोन्मुख बालक एक लड़केका हाथ पकड़े आता हुआ दिखाई पड़ा। पीछे दो औरतें घूँघट काढ़े आ रही थीं। लड़का पीछेकी औरतोंको जोहनेके लिए राहमें ठमक गया। देखते-ही-देखते चारों मूर्तियाँ घरमें आ गयीं। ये मूर्तियाँ इस घरकी बिल्कुल अपरिचिता थीं। मनोरमाकी हृदय-संगिनी दोनों स्त्रियोंने उसे देखते ही मुँह खोल दिये। मनोरमा आँचलसे दोनोंके पैर लगी। तीनोंकी आँखोंसे आँसूकी धारा बहने लगी। अश्रु-प्रवाहको रोककर बातें करके एक दूसरेकी कुशल जाननेके लिए तीनों ही व्याकुल हो रही थीं; किन्तु अश्रु-प्रवाहका रोकना क्या उनके वशकी बात थी? ग्यारह वर्षके बाद आज तीनों सहेलियोंका मिलन हुआ है। घण्टों निस्तब्धता छायी रही। हृदयकी ग्लानि गलकर आँसूके रूपमें तीनोंके ही नेत्रोंसे गिर रही थी। अन्तमें वह भार कुछ हलका हुआ; कण्ठ खुला, बोलनेकी शक्ति आयी। भामाकी दृष्टि सुशीलपर पड़ी। दृष्टि पड़ते ही सुशील सहमकर माँकी गोदमें आकर बैठ गया। भामाने कहा—"बेटा सुशील! मैं कौन हूँ, बोलो तो देखें?"

सुशीलने सन्देह-पूर्वक अपरिचिताके मुँहकी ओर अपनी विकसित दृष्टि स्थिर करके हँसते हुए कहा—"आप मेरी बुआ हैं।"

यही कहता हुआ सुशील प्रणाम करनेके लिए भामाके पैरोंपर गिर पड़ा। अब फिर भामाकी आँखोंसे अश्रु-वर्षा होने लगी। थोड़ी देरमें धैर्य धारण करके भामाने कहा—"हाय! भगवान्! यह तुमने क्या किया!" कहते-कहते भतीजेको अपनी गोदमें बिठाकर उसका चुम्बन करने लगी। कहा—"और इनको प्रणाम नहीं किया सुशील! यह तुम्हारी कौन हैं, बताओ तो?"

सुशीलने सावित्रीके भी पैरोंपर गिरकर प्रणाम किया। कहा, अभी मैंने नहीं पहचाना—"ओ—शायद बहू-माँ हैं। क्यों—हैं न?"

भामा—"हाँ, हाँ। अच्छा और ये दोनों तुम्हारे भाई हैं। इन्हें भी चीन्ह लो। अच्छा बेटे, मुझे तो तुमने कभी देखा नहीं था, पहचाना कैसे?"

सुशील एट्थ क्लासमें पढ़नेवाला लड़का था। बुआकी गोदमें बैठा हुआ वह मनमें संकुचित हो रहा था! दस वर्षका कोई लड़का भला इस तरह क्या माँको छोड़कर दूसरेकी गोदमें बैठ सकता है? साथका कोई लड़का यहाँ नहीं है, यही कुशल है। नहीं तो स्कूलमें सहपाठियोंकी दिल्लगीके मारे क्या सुशील चुपचाप बैठने पाता? यही सोचकर वह धीरे-धीरे बुआकी गोदसे खिसककर माँके पास चला गया। हँसते-हँसते बुआकी बातोंका जवाब देने लगा—"बिना देखे ही मैं समझ गया।"

भामा—"किस तरह तुम समझ गये बताओ तो सही?"

सुशील—"आपकी चिट्ठीसे आपकी बातें बिल्कुल मिलती थीं, इसीसे मैं समझ गया।"

भामा—"अच्छा, और बहू-माँको?"

सुशील—"मैंने समझा कि बुआके साथ बहू-माँको छोड़कर और कौन आवेगा।"

भामा और सावित्री दोनों ही भतीजेकी अद्भुत तीक्ष्ण बुद्धिको देखकर अवाक् हो गयीं। मनोरमासे बातें करनेका थोड़ा-थोड़ा साहस भामा और सावित्रीके दिलमें उत्पन्न हो ही रहा था कि इतनेमें बाहरसे सुभद्रा आ गयीं।

सावित्रीने सुभद्राको प्रणाम किया। इसके बाद भामाने कहा—"लड़केकी कैसी बुद्धि है! ऐसी बुद्धि तो सयानोंकी भी नहीं हो सकती माँजी।"

मनोरमाने माँसे दोनोंका परिचय कराया। सुभद्राने ऊँची साँस लेकर आशीर्वाद दिया। थोड़ी देरतक चुप रहनेके बाद पूछा—"घरमें तो सबलोग अच्छे हैं न?"

प्रश्न करनेमें सुभद्राका हार्दिक भाव उनके गलेके स्वरसे ही स्पष्ट हो गया। यद्यपि भामाके संकुचित होनेका कोई विशेष कारण नहीं था, तथापि वह लज्जाके मारे मनमें गड़ गयी। कुण्ठित और मधुर स्वरमें बोली—"हाँ।"

इसके बाद और कुछ कहनेके लिए किसीको कोई शब्द ही न मिला। थोड़ी देरतक निस्तब्धता छायी रही। पश्चात् सुभद्राने कहा—"मानू, मुझे जरा काम है, जाती हूँ। इन लोगोंको कुछ जलपान अभी कराया कि नहीं; न कराया हो तो पहले जलपान करा दो।" यह कहकर सुभद्रा चली गयी।

घरमें इस समय कुछ भी नहीं था। मनोरमा तो पहले ही संकटमें पड़ चुकी थी। माँके कहनेसे उसका संकट अब और भी बढ़ गया। मनोरमाका हृदय तो यों ही आकस्मिक घटनाके आघातसे चूर-चूर हो रहा था, अब खानेकी चिन्ताने उसे और भी सोचमें डाल दिया। इतनेमें सुशीलने कहा—"माँ, मैं अभी कुछ न खाऊँगा; बुआ और जीवा भाई-को अभी ले जाकर अपना बाग दिखाऊँगा। हाँ, बहू माँ उठो, चलो तुम्हें अपना बाग दिखाऊँ। सूर्यमुखीके पेड़में आज दस फूल खूब बड़े-बड़े फूले हुए हैं। अब वे दिनभर सूरजको देखनेके लिए ऊँचा सिर किये रहेंगे और सन्ध्या होते ही सबके-सब एक साथ ही लटक जायँगे। 'लजाधुर बिरई' बड़े मजेकी है। छूते ही उसकी पत्तियाँ सिकुड़ जाती हैं।"

सावित्रीने कहा—"अच्छा बेटा, अभी ठहरो, पीछे चलकर तुम्हारा बाग देखूँगी।"

भामाने एक हँड़ियामेंसे थोड़ी बर्फी निकालकर कहा—"आओ बेटे सुशील, लो! इसे खा लो।" सुशील बिना मनोरमाको खिलाये आप नहीं खाता था। यदि किसी दिन इसमें व्यतिक्रम होता था, तो वह आधा पेट खाकर ही उठ जाता था। किन्तु आज बुआके कहनेपर वह बड़े संकटमें पड़ गया। घण्टे आध-घण्टेके परिचितोंके सामने न तो वह माँसे खानेके लिए ही कह सकता था और न बिना माँको साथ लिये उससे अकेले खाते ही बनता था। बुआकी बात टालना भी इस समय उसके लिए कठिन था। धीरतासे उसने जवाब दिया—"नहीं बुआ, इस समय मेरी कुछ भी खानेकी इच्छा नहीं है।" यह कहकर सुशीलने

जीवाका हाथ पकड़ लिया और कहा—"चलो भैया, तुम्हें अपने पढ़नेकी जगह दिखा लाऊँ।"

भामाके हाथसे बर्फीका टुकड़ा लेकर सावित्रीने सुशीलके मुँहमें डाल दिया। हँसकर दुखी भावसे कहा—"तुम अपनी बुआको और मुझे देखकर शर्माते क्यों हो बेटा?"

सुशीलने बहू-माँसे हँसकर कहा—"तो फिर जीवा भाई और शम्भूको भी खिलाओ, ये तो बहुत देरसे कुछ न खाये होंगे।"

भामा—"उन दोनोंको भी निकालकर दे दो बहू।"

मनोरमा इतनी देरतक सिकुड़कर चुपचाप बैठी थी। ज्यों ही वह मिठाई निकालनेके लिए हँड़ियामें हाथ डालने लगी, त्यों ही उसका हाथ थरथर काँपने लगा। देखा गया तो उसके दोनों पैर भी काँप रहे थे। उसके मनमें कौन-सी बात उत्पन्न हुई थी, इसे तो वही जान सकती है। ग्यारह वर्षके बाद! ओफ! इतने दिनोंकी बिछुड़ी हुई संगिनीसे—उस संगीनीसे जिससे मिलनेकी आशा ही छूट चुकी थी—अचानक मिलाप हुआ है। इस मिलापमें मनोरमाके हृदयकी क्या गति हो रही है, इसे जानना क्या साधारण बात है?

मनोरमा बार-बार इस बातका प्रयत्न करती थी कि इस क्षणिक मिलनेमें सहेलियोंको जी भरकर देख तो लूँ; पर ज्यों ही वह भामा और सावित्रीकी ओर देखती थी, त्यों ही उसकी दोनों आँखें अश्रु-परिपूर्ण हो जानेके कारण अन्धी हो जाती थीं। लज्जा उसका गला धर दबोचती थी, सिर झुक जाता था।

विधि-विडम्बना जानी नहीं जाती। जिस मनोरमाके शरीरपर रेशमी साड़ी और रत्न-जटित आभूषण दिखाई पड़ते थे, उसके शरीरपर आज बीसों प्यौने लगे हुए सूती वस्त्र भी मुश्किलसे हैं। आभूषणोंका नाम-निशान भी नहीं। पर इससे क्या दरिद्र-कन्या मनोरमाके चेहरेसे कभी उसकी दरिद्रता-सूचित हो सकती है? कौन जाने पति-बिछोहके दुःखसे ही मनोरमाने यह वेश धारण कर रखा हो।

२०

मनोरमासे बिदा होकर घर आते समय रास्तेभर भामा और सावित्री दोनों आँसू गिराती आयीं। भामा अपने चचेरे भाई वेदव्रतके पास बैठकर बिलखने लगी। कुछ देरके बाद अपनेको सँभालकर उनसे कहा—"हमलोग मिर्जापुरसे हो आये। देवीका दर्शन हो गया—हमलोगोंकी तीर्थ-यात्रा सार्थक हो गयी। विन्ध्यवासिनी देवी तो एक जगहपर स्थित हैं, उनकी कृपा हमलोगों-जैसे पतित हृदयोंमें प्रवेश करनेकी भला क्यों होगी; पर यह देवी मेरे खूनमें, मांसमें और हड्डियोंमें सशरीर बैठी हुई है। सचमुच ही देवी, पतिव्रता और सती है।"—इतना कहते-कहते फिर रोकर कहने लगी—"भैया, अभागिनी हूँ! राजो भी अभागे हैं! तभी इस तरहसे घरकी लक्ष्मी समुद्रमें डूब गयी। हा, ईश्वर! मैं व्यर्थ ही दुःख बढ़ानेके लिए उसे देखने गयी! हृदयकी सुलगती हुई आग फिर जल उठी! अब न-जानें कब यह हृदयकी ज्वाला मुझे जलाकर शान्त होगी।"

भामा और स्त्रीकी दशा देखकर वेदव्रतका जी भर आया। कहा—"इस तरह घबराना नहीं चाहिये भामा! क्या करें, कुछ भी समझमें नहीं आता। उसे अपने साथ यहाँ लिवा क्यों नहीं आयी?"

भामाने कहा—"दोनों तरहसे कुशल नहीं। राजोको विशेष दुःख होगा, यही सोचकर वह नहीं आयी। उसकी माँकी भी आने देनेके लिए राय नहीं थी; पर उनकी राय उसके आनेमें बाधा न डाल सकती। उन्हें मैं अच्छी तरहसे राजी कर लेती। किन्तु जब वही नहीं आना चाहती थी, तब मैं और करती ही क्या? सचमुच उसे साथ लानेसे राजोको बहुत दुःख होता। इसीसे मैं भी कुछ यत्न करनेका साहस न कर सकी। न लानेसे भी हृदय जल रहा है। भैया, जीमें आता है कि उसे फिर देखूँ। क्या कहूँ, कोस दो कोसकी दूरीपर भी तो नहीं है!"

वेदव्रतने कहा—"अगर वह यहाँ आ जाती, तो तुमलोगोंके साथसे

उसका जी बहल जाता, और राजेन्द्रके आनेपर एक बार दोनोंकी भेंट हो जाती।"

मामाने थरथराती हुई आवाजसे कहा—"भैया, इसीसे तो वह और भी नहीं आयी। प्लेगकी बीमारीके कारण वह विन्ध्याचलके पास जाकर रहती थी। यह तीन-चार वर्ष पहलेकी बात है। उस समय राजो, बबुआ-जीकी बारातसे वापस आकर बिना जाने उसीके दरवाजेपर ठहरे थे। पता पाते ही यह वे वहाँसे चले आये, भेंटतक नहीं की। वह क्या इसे समझ नहीं सकी? राजोको जो कष्ट होगा, उसे वह अच्छी तरह जानती है। उसने क्या कहा, मालूम है? कहा, 'जब कि बाबूजीने मेरा त्याग कर दिया है और उन्हें भी त्याग करनेके लिए कह दिया है—तब मुझे अपना यह जन्म इसी तरह समाप्त करना होगा। इसमें किसीका कोई दोष नहीं। मैं किसीको भी दोषी नहीं ठहरा सकती। यह मेरे कर्मोंका फल है। पूर्व जन्ममें अवश्य ही मैंने चन्द्रकलाके हृदयपर आघात किया होगा—उनका ऋण तो मुझे इस जन्ममें चुकाना ही पड़ेगा। जो हो, इससे भी मुझे कुछ दुख नहीं। मुझे क्या कम सुख मिला है? मैं जितने दिनोंतक वहाँ थी, उतने दिनोंमें ही तुमलोगोंकी असीम कृपा मुझपर सदाके लिए हो गयी। यह क्या मामूली सुखकी चीज है। संसारमें सब-कुछ मिल सकता है, पर प्रेमका मिलना बहुत ही कठिन है। तुमलोगोंकी जुदाईका भी मुझे कोई विशेष दुःख नहीं। क्योंकि मैं इस बातको माननेवाली हूँ कि प्रेमी लाखों कोसकी दूरीपर रहनेपर भी अपनी प्रेमिकाके हृदयसे दूर नहीं रहता। इसके अलावा तीनों लोकके राज्यसे बढ़कर सुख देनेवाला मुझे एक यह गोदका खिलौना भी मिला है। इसका कितना मूल्य है, सो क्या मैं नहीं जानती? इन बातोंके लिए मैं ईश्वरकी और तुम लोगोंकी चिर-ऋणी हूँ। इस कृतज्ञताको मैं मुँहसे नहीं कह सकती। हाँ, यदि यह सब मुझे न मिला होता तो जरूर ही मेरे लिए दुःख करनेकी बात होती। अगर मुझे दुःख है, तो एक ही।' इतना कहकर वह फूट-फूटकर रोने लगी। हमलोगोंने जब बहुत पूछा—तब

उसने कहा—'बाबूजीने मेरे चरित्रपर धब्बा लगाया।' भैया! बहूकी यह बात याद करके अभी भी मेरा कलेजा फटा जाता है! भला सती बहूके चरित्रपर बाबूजीने धब्बा लगानेका साहस क्यों किया? क्या उसपर कभी धब्बा लग सकता है? इससे इतना ही हुआ कि बहूको जन्मभरके लिए दुःखका पेड़ तैयार हो गया। क्यों भैया? इस तरहकी स्त्री तुमने और कहीं कभी देखी है?

वेदव्रत मामाकी बातें सुनते-सुनते अपनेको भूल गये। उनके हाथकी पुस्तक जमीनपर गिर पड़ी। दोनों आँखें आँसूसे लथपथ हो गयीं। मनोरमाके अद्‌भुत गुणोंसे वह भलीभाँति परिचित थे। सहानुभूति-सूचक एक दीर्घ निश्वास छोड़कर कहा—"सचमुच ही वह सीता स्वरूपिणी देवी है।"

मामा—"यदि अवतारकी बात सच है—जिसे मैं भी सच ही मानती हूँ—तो निश्चय ही वह सीताकी अवतार है। कहने लगी—'क्यों दीदी, भला मैं उन्हें दुःख देनेके लिए कैसे चल सकती हूँ? अवश्य ही चलनेपर मैं उनका दर्शन तो जरूर कर लूँगी? परन्तु मेरे इस दर्शनके आनन्दसे उनको बहुत बड़ा दुःख होगा। अपने सुखके लिए उन्हें दुःख होगा। अपने सुखके लिए उन्हें दुःख पहुँचाना मेरा धर्म नहीं। मैं किसी तरहसे भी उन्हें अशान्त नहीं करना चाहती। इस हत-भागिनीको, वह अभीतक भूल नहीं सके हैं, यह भी मैं अच्छी तरह जानती हूँ।' जिस समय बहू यह कह रही थी, उस समय उसके चेहरेकी हालत कैसी कारुणिक थी, मैं नहीं कह सकती। मेरा ही वज्रका-सा हृदय था कि फट नहीं गया!"

ये बातें कहते-कहते मामाके नेत्रोंसे आँसू झरने लगे। सावित्री भी एक किनारे बैठी हुई सिसक रही थी। बीच-बीचमें वह निगाहें बचाकर स्वामीके मुँहकी ओर तिरछी नजरोंसे देख भी लिया करती थी; मानो, यह जाननेके लिए कि बहूकी वह करुण-कथा सुनकर स्वामीको कुछ दुःख हो रहा है या नहीं। वेदव्रत बातें सुनकर शोक-सागरमें निमग्न हो गये

थे। उन्होंने भामासे कहा—"बस, अब तो असह्य हो रहा है। भामा ! कुछ समझमें नहीं आता कि क्या करूँ।"

भामाको तो यों ही ब्याहकी भीड़से अधिक देरतक बैठनेका अवकाश नहीं था, दूसरे वेदव्रतके हृदयकी अवस्था देखकर वह और भी नहीं ठहरी। वहाँसे उठी और सावित्रीको लेकर दूसरे कमरेमें चली गयी।

यहाँपर सुशीलकी यात्राका थोड़ा-सा दिग्दर्शन करा देना अत्यन्त आवश्यक है। वह इससे पहले मिर्जापुरके बाहर कहीं नहीं गया था। उसे रेलपर सवार होनेका यह पहला अवसर था। एक स्टेशनके बाद दूसरा और उसके बाद तीसरा नया स्टेशन आता था; बीच-बीचमें मालगाड़ी, मेलट्रेन और पैसेंजर गाड़ियोंका भी दौरा हो रहा था। मोगलसरायके स्टेशनपर जब वह गाड़ी बदलनेके लिए उतरा, तो चकपकाकर चारों तरफ देखने लगा। गाड़ियाँ-ही-गाड़ियाँ खड़ी थीं। वहाँसे सवार होकर वह बनारस छाउनी आया। रास्तेमें राजघाटके पुलसे गंगाजीके किनारेकी बस्तीकी निराली छटा देखकर उसे बड़ा हर्ष हुआ। बनारससे बी० ऐण्ड एन० डबल्यूकी गाड़ीमें सवार होकर कछवा-रोड पहुँचा। इस लाइनकी गाड़ी और उसकी चाल देखकर सुशीलको बड़ा आश्चर्य हुआ। सोचने लगा, हैं यह कैसी गाड़ी ? इससे तेज तो इक्के जाते हैं। इस लाइनके स्टेशनोंको देखकर उसे और भी कौतूहल हुआ। बड़ी लाइनके मरहले तो इन स्टेशनोंसे बड़े हैं। यही दृश्य देखता हुआ कछवारोड उतरकर इक्केसे वह अपनी बुआके घर कछवा गया।

सुशीलको कछवामें अधिक नहीं ठहरना था। उस दिन रविवार था। मंगलको भतवान और बुधको बुआकी लड़कीका ब्याह है। बृहस्पतिवारको भोरकी गाड़ीसे ही उसे लौटना है। स्कूलकी गैरहाजिरीकी तो खैर कोई बात ही नहीं, खास बात यह है कि इससे अधिक वह माँसे अलग नहीं रह सकता अथवा माँ उसे अलग नहीं रख सकती—ठीक नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः ये दोनों ही कारण इतने जल्द सुशीलको घर लौटानेवाले हैं। मनोरमाने एक तरहकी अनिच्छासे ही सुशीलको

आने दिया है। जब मनोरमा किसी तरह भी चलनेके लिए राजी न हुई, तब भामाने ऊँची साँस लेकर यही कहा—"तो फिर अब मैं और क्या कहूँगी; कहनेके लिए अब मेरे पास और है ही क्या? जो कुछ कहना था, सो तो मैं कह चुकी। तुम न चलोगी तो न सही; पर सुशीलको तो मैं ले जा सकती हूँ न? उसे तो तुम नहीं रोकोगी?

मनोरमाके अश्रुप्लावित नेत्र सुशीलको रोकनेके लिए बड़ा ही आग्रह प्रकट करते थे। पर भामाके असीम स्नेहने उसे प्रकट न होने दिया। नत-चक्षु करके धीरेसे मनोरमाने कहा—"यदि तुम उसे ले जाओगी, तो मैं क्या कह सकती हूँ? पर यह तो बताओ कि उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे, उसे अपने साथ ले जानेसे पिताकी आज्ञाके उल्लंघनके पापसे तुम्हें पापी तो न होना पड़ेगा?"

भामा—"जिसके लिए वह आज्ञा है, वह पाप और पुण्यका विचार करे; मेरे लिए तो वह आज्ञा है नहीं—और न मैं उसे माननेके लिए तैयार ही हूँ। जिसे जो कुछ करना और कहना हो, करे और कहे, मैं तो सुशीलको राजोका लड़का समझती हूँ और मरते दमतक यही समझूँगी। मेरी असली भावज तो सुशीलकी माँ है; चन्द्रकला नहीं। इससे उलटा समझनेमें मुझे नरक भोगना पड़ेगा।"

थोड़ी देरतक चुप रहनेके बाद मनोरमाने हँसकर कहा—"तब तो बापके घरमें इसका भी कुछ हक साबित होता है। मैं इसे रोक ही कैसे सकती हूँ। किन्तु......"

इतनी देरमें मनोरमा अपने आँचलसे मुँहका जो हिस्सा खोल चुकी थी, द्विधा-ग्रस्त भावसे अबकी बार फिर उसने उसे छिपा लिया। भामा उसके कन्धेपर हाथ रखकर पासमें ही बैठी हुई थी। मनोरमाके इस 'किन्तु' शब्दमें उसे बहुत बड़े संकोचकी आभा दिखाई पड़ी। इसने मनोरमाका चिबुक पड़ककर पूछा—'किन्तु' कहकर चुप क्यों हो गयी! बोल न बहू—बोल न भाई, क्या कहना चाहती थी?' फिर भी मनोरमाको चुप देखकर भामाने उसका सिर अपनी गोदमें कर लिया और

उसके कपोलोंपर हाथ फेरते हुए अपने मुँहको नीचे करके मुँहके पास अपना कान लगाकर बच्चोंकी तरह फिर पूछा—"क्या राजोके बारेमें कुछ कहना चाहती हो?"

इतने आदरका भार मानो मनोरमा सहन न कर सकी। भामीकी गोदमें ही मनोरमाकी आँखोंसे समुद्र उमड़ पड़ा, भामाकी नाड़ी सूख गयी। किशोरी बाल्य-सखीका मिलन था। अनेक तरहके दुःख भोगनेके बाद बहुत दिनोंपर यह मिलन हुआ है। भामा इस मिलनके दुःख-सागरमें डूबने लगी। अनुभव हुआ कि ऐसे मिलनमें सुखकी अपेक्षा दुःख ही अधिक होता है। इस समय दोनोंको दुःख-सागरमें डुबानेवाला वही 'किन्तु'—है।

बहुत देरके बाद भामाने सखीकी आँखें पोंछकर शान्त भावसे फिर उसी 'किन्तु' का प्रश्न किया। पहले कहनेमें बड़ी लज्जा मालूम होनेपर भी किसी प्रकार जबर्दस्तीसे लज्जा छोड़कर मनोरमाने कहा—"सुशीलको ले जा रही हो, मौका मिले तो उसे एक बार उन्हें दिखला देना। ऐसे ढंगसे दिखलाना, जिसमें वह इसे न देख सकें। इसने उन्हें कभी देखा नहीं है, और उन्हें देखनेकी इसकी बड़ी इच्छा है।"

इतना सुनते ही भामाने मनोरमाके सिरसे कपड़ा झटक दिया। कहा—"दुत् पगली कहींकी। इसीलिए इतनी लज्जा कर रही थी? यह तुझे बतलाना नहीं होगा। इसकी पितृ-भक्ति मैं जानती हूँ। मिर्जापुरकी बारातमें राजोके मित्र बाबू पन्नालाल गुप्त आये थे। जाकर इसके बापसे बातें करते हुए कहने लगे—'भाई राजेन्द्रका लड़का वहाँ रहता है, यह मुझे मालूम ही नहीं था। उससे मैंने बहुत देरतक बातें कीं। वह तो बड़ा ही होनहार लड़का है। उसकी बुद्धि राजेन्द्रसे भी कुशाग्र है। उसने पिताका जिक्र ही पहले नहीं किया; पितापर उसकी बहुत बड़ी भक्ति है। लड़का बड़ा ही सुन्दर और तेजस्वी है।' उसी वक्तसे मेरी इच्छा हुई थी। लेकिन"

जरा भयभीत होकर मनोरमाने बात काटकर कहा—"किन्तु इस

कामसे उनके सांसारिक सुखमें किसी प्रकारका भी व्याघात न होने पावे। कहीं ऐसा न हो कि इसके लिए उनके घरमें अशान्ति पैदा हो जाय। लक्ष्मी दीदी! देखना मेरी इस दुर्बलताके कारण उनका इतने दिनोंका संयम व्यर्थ न होने पावे।"

मामा—"अरे भाई, तू इसके लिए इतनी चिन्ता न कर। तेरे कारण राजोके दिलमें किसी प्रकारकी भी अशान्ति न होने पायेगी, और यदि हो भी, तो तुझे क्या? क्या तूने किसीकी अशान्तिका ठेका ले रक्खा है?"

मनो०—"नहीं भाई, मेरा धर्म है न। धर्मसे बढ़कर ठेका थोड़े ही हो सकता है?"

"अच्छा अच्छा, रहने दे धर्मका उपदेश।"

इसके बाद इस सम्बन्धमें और कुछ बातचीत नहीं हुई। बिदा होनेके समय भामाने कहा—"और तुम्हारे सम्बन्धमें उनसे क्या कहना होगा? चलती हूँ तो फिर—"

मनोरमाने आर्त्तभावसे इतना ही कहा—"नहीं, मेरे सम्बन्धमें कुछ भी न कहना। यही आशीर्वाद दो कि अगले जन्ममें मैं फिर उन्हें पाऊँ। और सेवा करनेका अवसर पाकर इस तरहसे खो न बैठूँ। बस, और कुछ नहीं।"

२१

सावित्रीकी बड़ी लड़की भानुमतीके भावी ससुर ज्ञानपुरके एक प्रतिष्ठित सज्जन हैं। उनका लड़का एफ० ए० में पढ़ रहा है। यह ब्याह सावित्रीने अपनी इच्छाके अनुसार ठीक कराया है। वह यही चाहती थी कि लड़का पढ़ा-लिखा मिले और घर खानदानी रहे, धन-दौलत चाहे मामूली ही हो। सावित्रीके मनके अनुसार यह ब्याह मिल

भी गया। भानुमतीके ससुरके पास आठ सौ बीघेसे अधिक जमीन नहीं है। भला यह सम्बन्ध लखपती-बहू सावित्रीके योग्य कैसे हो सकता है? पर सावित्रीके उदार और दूरदर्शी विचारसे विद्या-धन ही सबसे बड़ा धन था। अस्तु। यथासमय बारात आ गयी। द्वार-पूजा होने लगी। गाँववालोंकी धारणा थी, बारात खूब बड़ी आवेगी; पर साठ-सत्तर आदमियोंसे अधिक न देखकर लोग दंग रह गये।

भानुमतीके ससुर बड़े ही शान्त स्वभावके दूरदर्शी विद्वान् हैं। वह अधिक बारात ले चलनेमें अपनी इज्जत नहीं समझते थे। व्यर्थ ही आदमियोंको ले चलकर दोनों तरफके लोगोंको क्लेश पहुँचानेसे लाभ? गहनोंकी प्रथा भी बहुत ही बुरी है। कोमलांगियोंके अंग-अंगको बाँधनेमें सुन्दरता कैसी? यदि यह कहा जाय कि स्त्रियाँ उन्हीं बन्धन-रूपी गहनोंसे ही प्रसन्न रहती हैं, तो इसका कारण स्त्री-समाजका अज्ञान है, यह उनकी अशिक्षाका फल है। शिक्षित स्त्रियाँ कभी भी गहनोंके बोझसे कष्ट सहनेमें अपना गौरव नहीं समझतीं। गहनोंके पहननेसे ही अभिमान बढ़ता है, और हृदयकी सरलता कोसों दूर भाग जाती है। मालूम नहीं कि बंगाल, पंजाब और गुजरातकी स्त्रियाँ हमारे प्रान्तकी स्त्रियोंके गहने देखकर हँसती हैं? वे कहती हैं कि ऐसा श्रृङ्गार किस कामका, जिससे शरीरको आरामके बदले तकलीफ हो? स्त्रियोंको यह बात न जँचेगी। इसका कारण यह है कि बहुत दिनोंसे वे गहनोंमें ही सुख मानती चली आ रही हैं।

भानुमतीके ससुर इन बुराइयोंके कट्टर शत्रु थे। वह अपनी निन्दा सह सकते थे, पर अपने विचारोंका हनन नहीं कर सकते थे। ब्याहकी तैयारी थी, मण्डपमें वर और कन्या-पक्षके लोग बैठे हुए थे। भानुमती ससुरके लाये हुए गहनोंको पहन रही थी। स्त्रियोंमें आलोचनाएँ हो रही थीं। मालूम होता है, भामाके ससुर कोई वैसे धनी नहीं हैं। टीक भी नहीं लाये। यह अँगूठी लानेकी भला कौनसी चाल? सावित्री, बीच-बीचमें लोगोंको समझानेका भी प्रयत्न कर रही थी; पर स्त्रियाँ भला

क्यों मानने लगीं ? वे कहने लगीं—"कुछ नहीं, ये सब सन्तोष करनेकी बातें हैं। अपने भरसक कौन गहना नहीं लाता ? चन्द्रकला भी एक किनारे चुपचाप बैठी हुई सब सुन रही थी।

इस समय सुशील कहाँ है ?—बालकोंके दलमें खेलते रहनेपर भी सुशील इस अपरिचित राज्यमें संकुचित है। मन-ही-मन तरह-तरहकी युक्तियोंसे वह अपनी बुआके घरको अपना घर समझनेकी चेष्टा करता है, पर व्यर्थ लज्जाके कारण उसका चेहरा कुछ कुम्हिला गया है। इसके अतिरिक्त माँका बिछोह भी वह अधिक नहीं सह सकता था। इस उत्सव और कोलाहलपूर्ण अपरिचित समूहको छोड़कर अपने शान्त, निस्तब्ध टूटे-फूटे घरमें लौट जानेके लिए सुशील छटपटा रहा है। पर चतुर सुशील अपने इस भावको प्रकट करके बुआको कष्ट देना भी उचित नहीं समझता। वह समझता था कि विवाहका काम समाप्त हुए बिना मेरे चले जानेसे स्नेहमयी बुआको बहुत दुःख होगा। इसके अतिरिक्त सुशील अभीतक अपने पिताको भी तो नहीं देख सका है! इसी लालचमें पड़कर तो वह माँको इतनी दूर छोड़कर यहाँ आया है।

भामाको अकेली देखकर वह उसके पास आया। भामाने पूछा—"सुशील ! तेरे दोनों भाई कहाँ गये बेटे ? तू इस तरह अकेले क्यों फिर रहा है ?"

सुशील—"मैं उनलोगोंके साथ ही तो था।"

भामा—"थोड़ा दूध पी लो न !"

सुशील—"नहीं, अभी तो हलुआ खाया है। इस वक्त कुछ खानेकी इच्छा नहीं है बुआ !"

भामा—"बेटे !"

सुशील थोड़ी देरतक चुप रहा। भामा आलमारीमें कोई चीज ढूँढ़ रही थी, हठात् उसकी दृष्टि बालकपर पड़ी। सुशील चकपकाता हुआ दिखाई पड़ा। अच्छी तरहसे उसका भाव समझमें नहीं आया, पर मानसिक उद्वेगकी जो छाया उसके मुँहपर विद्यमान थी, उससे कुछ-कुछ लक्ष्य

जरूर हुआ। भामाने बड़े स्नेहसे सुशीलके पास आकर कहा—"क्यों मुन्ने ! क्या कहना चाहता है, कह न ! कुछ देखने जायगा ? यहाँ तो और कुछ देखनेके लिए है नहीं। न्यू अल्फ्रेडका तमाशा दो-तीन दिनोंसे हो रहा है, इच्छा हो तो जाकर देख आओ !"

भामाने अपना जो हाथ बालकके सिरपर रखा था, उसे अपने दोनों हाथोंसे खींचकर सुशीलने उसीकी आड़में अपना मुँह छिपा लिया। भामाने प्यारसे पुचकारकर कहा—"तो फिर कहाँ जाओगे भाई, बोलो !"

फिर भी उसने कुछ उत्तर नहीं दिया और उसी तरह खड़ा रहा। भामाने देखा कि उसके हाथोंकी अँगुलियाँ काँप रही हैं। विस्मयान्वित होकर उसने बालकको गोदमें ले लिया और कहा—"क्यों बेटा सुशील ! क्या हुआ ? माँके लिए उदास हो रहे हो ? माँके पास जाओगे ?

सुशीलने अस्फुट कण्ठसे कहा—"अभीतक तो बाबूजी दिखाई ही नहीं पड़े बुआ ! मैं किस तरह जाऊँगा ?"

बालकका पितृ-स्नेह देखकर भामाकी आँखोंसे आँसू टपक पड़े। उसने आँखें पोंछकर कहा—"बाबूजीको तुम जरूर देखोगे बेटे, चिन्ता काहेकी ! सबेरे तुम्हारे फूफाजी जाकर उन्हें ले आनेको कहते थे।" इसके बाद वह अपने-आप ही कहने लगी—"निमंत्रण-पत्रमें तो कल ही आनेके लिए लिखा गया था, फिर वह आये क्यों नहीं ! अच्छा, उनके मित्रके यहाँ निमंत्रण रहा होगा। हाँ हाँ, कलके ही लिए था। इसीसे वह नहीं आये। वहाँ न जानेसे भी तो ठीक न होता ! मित्रताकी बात ठहरी।"

सुशील—"फूफाजीके साथ मैं भी तो जा सकता हूँ। जा सकता हूँ न बुआ ? मान लो उन्हें आनेके लिए समय न मिले और फूफाजीके जानेपर भी वह न आ सकें तो ? और बनारस तो उसी स्टेशनपर उतरकर जाना होगा न ? दूर भी तो नहीं है। मुझे साथ भेज दो।"

भामा—"अरे बापरे ! भला तुम इस तरह साथमें कैसे जा सकोगे बेटे ? रेलका रास्ता है। अच्छा मैं अभी उन्हें बुलानेके लिए आदमी भेजती हूँ, तुम जाओ खेलो।" यही कहकर बालकको आश्वासन देनेके

बाद भामाने छुट्टी पायी।

ओफ्! किस तरह सांसारिक विकारोंसे रहित इस अबोध बालकको उसकी वास्तविक अवस्था बतलायी जायगी कि तुम्हारे परम पूज्य पिताके घरमें तुम्हारे लिए स्थान नहीं है! किस तरह भविष्यके अवश्यम्भावी दुःखका भार आज ही उस बालकपर लादा जा सकता है! बालकके दुःखको दूर करनेका मार्ग है या नहीं, कुछ समझमें नहीं आता।

बुआकी बातोंसे सुशील प्रसन्न-चित होकर फिर बच्चोंके पास चला गया। भामा भी घरके काम-काजमें लग गयी। यहाँ सावित्रीके घरका सब भार भामाके ही ऊपर था। सारी चीजोंका देना-लेना, रुपयोंका खर्च वगैरह तथा और भी जितने काम थे, सबकी जिम्मेदारी भामापर ही थी।

इधर चन्द्रकला एक दूसरे कमरेमें प्रभा तथा दो-तीन और सहेलियोंको लेकर बैठी हुई थी। सावित्रीके घर आनेके लिए उसकी हार्दिक इच्छा नहीं थी। क्योंकि वह जानती थी कि बड़ी दीदी ही मालकिन रहेंगी। पर कुटुम्बका मामला था। न आनेसे भी तो न बनता! चन्द्रकला यह सोचती थी कि कोई किसी कामके लिए कहेगा तो करूँगी, यों ही क्या करूँ। पर उधर सब स्त्रियाँ चन्द्रकलाकी निन्दा कर रही थीं। छिः छिः! ऐसी औरत तो कहीं देखनेमें न आयी। कुटुम्बमें ब्याह है और वह इस तरह दिल्लगी करती हुई बैठी हैं। उन्हें मानो काम-काजकी कुछ चिन्ता ही नहीं है। यह नहीं कि जिस कामको जरूरी देखें उसे कर डालें। घरकी दस औरतोंके रहनेसे और फायदा ही क्या है! अद्वा करनेसे तो मजूरिन भी कर सकती है। जरा भी बुद्धि नहीं कि किधर किस काममें नुकसान पड़ रहा है, किधर नहीं। मानो मेहमान हैं। किसीका चाम प्यारा थोड़े ही होता है! कर्तबसे तो ईश्वर भी बसमें हो जाते हैं। तिसपर औरतें कहती हैं कि हमें तो घरके लोग डाहते हैं। भला बताओ तो सही, ऐसे कर्तबपर कोई कैसे न डाही जायगी!

एक स्त्री कहने लगी कि इसी तरहकी एक अभिमानिनी बहू मेरे घरमें भी है। मैं रसोई बनाती हूँ, बरतन माजती हूँ, और वह पलँगपर

लेटी रहती है। उसे कुछ कहकर अपना माथा कौन कुचवावे ? चुप रहती हूँ क्या करूँ ! भला बताओ कि उसपर मेरा प्रेम कैसे हो सकता है ?

एक तरफ स्त्रियोंका एक दल मांगलिक गीत गा रहा था। देशकी बिगड़ी हुई प्रथाके अनुसार स्त्रियाँ उस मांगलिक गीतके स्थानपर गन्दी-गन्दी मुँहपर न लाने योग्य गालियोंका प्रयोग कर रही थीं। पुरुष-मण्डलीके कितने ही सभ्य सज्जन तो उन्हें सुनकर लज्जासे गड़े जाते थे और कितने ही छिपे-रुस्तम इस अच्छे मौकेपर नजारे मार-मारकर आनन्द लूट रहे थे। युवतियाँ गायिकाएँ भी कुटुम्बियोंकी नजरें बचाकर अपनी तिरछी चितवनोंसे उन भद्रपुरुषोंके आनन्दको द्विगुणित कर रही थीं। अन्य सज्जन मन-ही-मन स्त्री-समाजकी शिक्षा-हीनतापर पश्चात्ताप कर रहे थे। साधारण रीतिसे तो स्त्रियाँ पुरुषोंको देखकर एक हाथ लम्बा घूँघट निकाला करती हैं, पर हृदय उनका कितना निर्लज्ज होता है ! क्या जरा भी लज्जाकी मात्रा शरीरमें रहनेसे स्त्रियाँ ऐसे गन्दे शब्द कभी पुरुषोंके—खासकर अपने बाप, भाई और पड़ोसियोंके सामने निकाल सकती हैं ? नहीं नहीं, यह दोष स्त्रियोंके सिर नहीं मढ़ा जा सकता। इसके भी अपराधी पुरुष ही हैं।

एक सज्जनसे समाजकी यह दुर्दशा न देखी गयी। वह तुरन्त ही उठ खड़े हुए और कन्या-पक्षके लोगोंसे कहने लगे, यदि आप ब्याह होने देना चाहते हैं तो इन घृणित गानोंको रोकवा दें।

कन्या-पक्षके एक सज्जनने कहा—"यह कोई नयी बात तो है नहीं। सब दिनसे यह होता आ रहा है। भला आपके और मेरे रोकनेसे यह कैसे बन्द हो सकता है ?"

"आप चाहे न रोक सकें, पर मैं तो रोक सकता हूँ।"

"तो फिर कहनेकी क्या जरूरत थी, रोक दिया होता ?"

"अच्छी बात है। लड़केको लिवा ले चलो जी। ऐसे घरोंमें सम्बन्ध करना ठीक नहीं। जबतक इस तरहकी दृढ़ता न की जायगी, तबतक समाजकी बुराइयाँ दूर नहीं हो सकतीं।"

लड़के-सहित वर-पक्षके सबलोग उठकर खड़े हो गये। अब तो कन्या-पक्षवालोंकी नानी मरी। लोगोंके पैरों गिरकर उन्हें बिठानेकी नौबत आयी। स्त्रियाँ भी तुरन्त ही मांगलिक गीत गाने लगीं।—इस कुप्रथासे समाजकी छोटी-छोटी लड़कियों, युवती स्त्रियों तथा छोटे-छोटे लड़कों और युवक पुरुषोंका मानस कितना पतित हुआ जा रहा है।

इसके बाद वैवाहिक कार्य सकुशल समाप्त हुआ। बाराती जनवासमें आये। इधर भी रंग फीका ही था। नाच नहीं, गाना नहीं। दूर-दूरके गाँवोंके लोग बड़ी आशासे आकर खड़े थे। क्या जानें बीबी साहिबा अभी खाना खा रही हों। पर थोड़ी ही देरमें सबकी आशाएं मिट्टीमें मिल गयीं। बीबी हैं ही नहीं, तो खाना कौन खायगा ? एक दर्शकने कहा—"दस रुपये नाचके लिए भी खर्च नहीं किये गये। छिः ! सुननेमें आया था कि बारात खूब सज-धजके साथ आवेगी।"

दर्शकके उक्त शब्द एक बारातीके कानमें पड़े। उसने कहा—"क्या रंडियोंके न रहनेसे सज-धज नहीं कही जाती !"

"और है ही क्या। आपलोग तो इस समय ऐसे मालूम पड़ रहे हैं जैसे मुर्देको फूँककर सबलोग आ बैठे हों।"

"क्या आपको यही पसन्द है कि रंडियोंको लाकर अपनी माँ-बहनों और छोटे बच्चोंके दिमागमें गन्दगी घुसेड़ी जाय !"

"देवराज इन्द्रको क्या ये बातें नहीं सूझी थीं ! यदि रंडियाँ इतनी घृणित होतीं, तो देवताओंकी सभामें कैसे जा पातीं ? यह क्या कोई नयी बात है ! सब दिनसे ही तो ये गाती-बजाती आ रही हैं— शुभ कामोंमें सम्मिलित होती आ रही हैं।"

"पहलेके लोग सामर्थ्यवान थे, वे सब-कुछ कर सकते थे। किन्तु हमलोगोंमें तो उतनी शक्ति है नहीं। यह तो ठीक नहीं कि उनके गुणोंपर ध्यान ही न दिया जाय और दुर्गुणोंको इकट्ठा करनेका प्रयत्न किया जाय। और फिर प्राचीन समयमें न तो आजकलकी जैसी भ्रष्टाचारिणी गायिकाएँ थीं और न हम-सरीखे श्रोता और दर्शक ही थे। उस समय

गायिकाओंकी एक खास जाति थी; जिसे आज भी गंधर्व-जाति कहते हैं। उनमें वैवाहिक प्रथा है। दुराचरणसे वह जाति अपना पेट नहीं भरती। केवल गाना-बजाना ही उस जातिका रोजगार होता है। आज भी ढूँढनेसे उस जातिकी गायिकाएँ मिलती हैं। पर दर्शकोंमें हृदय न होनेके कारण उन्हें भी लाना उचित नहीं समझा गया। क्योंकि यहाँ तो गजलोंके सुननेवालोंकी भरमार है; ध्रुपद, बिहाग, कान्हरा, मालकोस, श्रीमाली आदि सुननेमें यहाँ किसका जी लगेगा !"

बेचारे दर्शक लज्जित होकर चले गये।

२२

रातके तीन बज चुके थे। बाहरकी आयी हुई सब स्त्रियाँ चली गयी थीं। घरकी स्त्रियाँ एक तरफ तो खा-पी रही थीं और दूसरी तरफ कुछ स्त्रियाँ नये सम्बन्धीकी आलोचनाएँ कर रही थीं। दो-दो हजार तिलक देनेपर कमसे-कम पाँच हजारका गहना आना चाहिये था। साड़ीका रंग अगर थोड़ा हल्का होता, तो चीज अच्छी थी।

चन्द्रकलाने कहा—"लहँगा तो आया ही नहीं। यह बिलकुल नयी बात है।"

एकने कहा—"सावित्रीके समधी इन चीजोंको फालतू समझते हैं। देखती तो हो कि बारातमें नाच नहीं, घोड़ा-हाथी नहीं, और कोई सामान नहीं—शायद उन्होंने इसे भी फालतू ही समझा हो। और सचमुच एक तरहसे व्यर्थ है भी। पहले तो स्त्रियाँ लहँगा पहनती थीं, इससे उसके लानेकी प्रथा थी। पर अब तो पहननेका रिवाज ही नहीं है, फिर व्यर्थ खर्च करनेकी जरूरत !"

"इस तरह व्यर्थ खर्च समझनेसे तो संसारका खाना-पीना, घर-द्वार

बनाना सभी व्यर्थ खर्चमें कहा जा सकता है।"

सब स्त्रियाँ आपसमें इसी तरहकी बातें कर रही थीं कि इतनेमें बाहरसे कई चंचल लड़के आकर शोरगुल करने लगे। "आज जैसा खेल नटने दिखलाया चाची, वैसा तुमने कभी न देखा होगा।" "अजी, तुमने तो बहुतसे सरकसके खेल देखे हैं। अच्छा बताओ तो, क्या-क्या देखा है ? ऐसा खेल तुमने भी जरूर ही न देखा होगा। कैसा अच्छा खेल था कि वाह !"

चन्द्र०—"किस तरहका था, बताओ जरा ?"

"दो छोटे लड़के इस खेलमें बड़े ही शैतान थे। वे दोनों ही अपनी माँसे नाराज हो गये थे। सबलोग देखनेके लिए बैठे थे, पर वे चुप ! बहुत देरके बाद उठे। इतने फुर्त्त थे कि क्या बताऊँ।"

चन्द्र०—"उन्होंने कौन-सा फुर्त्तीका काम किया ?"

"एक लड़का एक कुर्सीपर खड़ा हुआ। बिना हाथसे काम लिये वह पीठकी तरफ झुककर जमीनपर रखे हुए पानीसे भरे ग्लासको मुँहसे उठाकर पानी पीता हुआ उठकर फिर कुर्सीपर खड़ा हो गया। क्या ऐसा करते तुमने कभी देखा है ? देखो कितना फुर्त्त लड़का था ! था न ?"

चन्द्र०—"हाँ, हाँ।"

ठीक इसी समय अन्यान्य बालकोंकी अपेक्षा कुछ संकुचित तथा नये दृश्यके देखनेसे आनन्दित एक और छोटा-सा बालक घरमें आकर चन्द्रकलाके पास बैठ गया और बड़े ही आग्रहसे कहने लगा, "बुआ ! बुआ ! तमाशा बड़ा अच्छा था, खूब मजा आया ! देखकर खूब हँसी आती थी। बायस्कोपमें तो बस कुछ पूछो ही मत ! कैसे दुष्ट लड़के थे ! बड़े शैतान थे !"

कहींसे भी कोई चीज देखकर आनेपर इसी तरह माँके पास बैठकर उसे सुना देना इस लड़केका जन्मसे ही अभ्यास है। आज माँके बदले बुआ ही हैं, यही उसके दिलमें जमा हुआ है। बुआके अतिरिक्त और

भी कोई है, यह बात मनोरमाके इकलौते लाड़ले पुत्र सुशीलके मनमें ही नहीं थी। इसीसे वह अपनी धुनमें मस्त रहनेके कारण स्थान, काल, पात्रको भूल गया।

जबतक बालक अपने मनसे ही बकता रहा, तबतक विस्मिता चन्द्रकला इस अपरिचित बालककी ओर बड़े गौरसे देखती रही। उतनी देरतक वह अपूर्व वात्सल्य रसमें डूबी रही; पर बालककी बात समाप्त होते ही वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गयी। उसके शुष्क वन्ध्या जीवनमें अनायास ही जो मातृत्त्व-भाव उदय हुआ था, वह एक विचित्र रूपमें परिणत हो गया।

इतनेमें बालक भी अपनी भूलको समझ गया। अपरिचितके पाससे हटनेके लिए धीरेसे पीछे खिसककर वह भागनेके अभिप्रायसे अवसर देख ही रहा था कि पीछेसे समवयस्क बालकोंका दल ताली पीटकर हँसने लगा। भामाके लड़केने कहा—"क्यों सुशील, तुमने तो खूब पहचाना! मामीको तुमने माँ कैसे समझ लिया?"

"हत्तुमारा भला हो! मामीका तो मुँह भी माँसे बिलकुल नहीं मिलता, फिर तुम्हें कैसे भ्रम हो गया सुशील? ओ—मामीके गहनोंको देखकर तुम उनसे जान-पहचान करना चाहते थे? क्यों, यही बात है न?"

चन्द्रकलाने किसी बातपर भी ध्यान नहीं दिया। हठात् बालकको पकड़कर अपनी गोदमें बिठा लिया। बड़े प्रेमसे पूछा—"अच्छा मैं तुम्हारी बुआ नहीं हूँ तो इससे क्या? बेटे, तुम मुझे सुनाओ; मुझे सुननेका शौक है। कहो, मैं सुनूँगी।"

सुशील किसीके सामने भी बोलनेमें संकुचित नहीं होता था। किन्तु इस समय एक तो वह बिलकुल अपरिचित स्थानमें है और दूसरे वह गलती भी कर चुका है; इसीसे चन्द्रकलाके सामने बोलनेमें अब उसे बहुत ही संकोच मालूम होने लगा। ससंकोच उत्तर दिया—"आपने तो बहुतसे खेल देखे होंगे।"

चन्द्र०—"देखा तो है; पर यह तो नहीं देखा है। सुना है कि यह खेल बिलकुल नया था।"

सुशील—"मुझे तो मालूम नहीं।"

चन्द्र०—"मालूम होता है कि तुमने और कभी कोई खेल नहीं देखा था, क्यों—?"

बालकने एक बार चन्द्रकलाकी ओर देखकर नीची दृष्टि कर ली और सिर हिलाकर सूचित किया कि 'नहीं।' इतनेमें भामाके लड़केने कहा—"मामी, मिर्जापुरमें तो कोई बायस्कोप-घर है नहीं, यह देखता कैसे ? कभी आया भी होगा तो यह अकेले न जा सका होगा।"

चन्द्रकला कुछ कहना ही चाहती थी कि इतनेमें भामाकी मँझली लड़की गायत्रीने आकर कहा—"सुशील भैया, तुम्हें माँ बुला रही है।" भामाके बुलानेका समाचार सुनते ही चन्द्रकलाने बालकका हाथ छोड़ दिया। सुशीलको जीका धन मिला। गायत्रीके साथ ही वह भामाके पास चला गया।

इस अद्भुत घटनाके कारण चन्द्रकलाकी क्या दशा हो गयी, नहीं कहा जा सकता। उसने फिर न तो कुछ खाया ही और न किसीके साथ बातें ही कीं। किसी तरह आधा घण्टा समय और बीत जानेपर उसने दाईसे मोटर-ड्राइवरको मोटर लानेको कहलाया। गाड़ीमें बैठनेके लिए आप भी तैयार हो गयी। भामाको सारी बातें मालूम हो गयी थीं। उसने आकर प्रस्थानोद्यता भावजसे कहा—"यह क्या बहू, इतनी रातको क्यों जा रही हो ? क्या शरीर अच्छा नहीं है ? क्या हुआ है ? बोलो, घरमें दवाइयाँ हैं और डाक्टर भी बड़े अच्छे हैं, सब ठीक हो जायगा। बिस्तरा ठीक किये देती हूँ, तुम सो जाओ।"

चन्द्र०—"मेरा जाना ही ठीक है। डाक्टरी दवासे मुझे आराम न होगा। सबेरेतक तबीयत और ज्यादा खराब हो जायगी। इसके अलावा रातमें ही लौट आनेकी बात भी थी। न जानेसे लोग चिन्तित होंगे।"

भामा—"राजो भी नहीं आये और तुम भी चली जा रही हो !" चन्द्रकलाको जरा हँसी आ गयी। कहा—"यहाँ आदमियोंकी तो कमी है नहीं, एक आदमीके न आनेसे क्या होता है ? मैं अब और नहीं ठहर सकती ।"

चन्द्रकलाके हँसमुख उत्तरसे भामाको बुरा मालूम हुआ। उसने कहा—"हाँ मेरे कहनेसे भला तुम क्यों रुकोगी ! और फिर मैं यहाँकी होती ही कौन हूँ ! इतनेमें चन्द्रकलाके जानेकी खबर पाकर सावित्री भी आ गयी। उसको देखकर भामाने कहा—"तुम जानो और यह जानें। मैं तो कहकर हार गयी ।"

सावित्री—"क्यों, क्या हुआ ?"

चन्द्र०—"कुछ नहीं, मेरी तबीयत ठीक नहीं है, अब और अधिक मैं नहीं रुक सकती ।"

सावित्री—"ऐसा करनेसे कैसे काम चलेगा ? कपड़े उतारो, बैठो। बबुआ भी नहीं आये और तुम भी जा रही हो, यह क्या ?"

चन्द्र०—"नहीं मैं नहीं ठहर सकती बहन ! मुझे न रोको ।"

सावित्रीको सारा हाल मालूम हो गया था। वह अभी थोड़ा और अनुरोध करना चाहती थी कि इतनेमें भामासे न रहा गया और वह कह बैठी—"हाँ, अब कैसे ठहर सकती हो ? तुम्हें जो हुआ है सो क्या मैं नहीं जानती ? जाओ, जाओ, हमारे भेड़ाकान्त भाईको जाकर मंत्र पढ़ाओ। देखना वह किसी तरह चंगुलसे छूटने न पावें, नहीं तो सब काम चौपट हो जायगा ।"

चन्द्र०—"अपने घरमें बुलाकर मेरा अपमान करो और जो जीमें आवे कर लो। अगर मुझमें पानी होगा तो अब मैं इस दरवाजेपर फिर कभी न आऊँगी ।" यह कहकर चन्द्रकला मुँह फुलाये जाकर गाड़ीमें बैठ गयी। भामाके साथ और बातें करनेकी उसकी इच्छा नहीं हुई।

चन्द्रकलाके चली जानेके बाद भामा और सावित्री दोनों उदास हो गयीं पर उन्हें अपनी सत्यतापर बहुत बड़ा भरोसा था। भामा

मन-ही-मन सोचकर सावित्रीसे कहने लगी—"इसमें उनका अपमान क्या हुआ ? चन्द्रमाकी तरह सौतके लड़केका मुँह देखकर ही तो उनके कलेजेमें सूल पैठा है। और फिर यह कोई नयी बात तो है नहीं, सौतिया झार ऐसा होता ही है। सीधी बात यह है कि वह गयीं, जायँ—उनके आने-जानेसे होता ही क्या है ? वह जाकर राजोको न आने देंगी, यही भय है। कछवारोड स्टेशनके पास उन्होंने नया मकान बनवाया है न, इसीसे नहीं आये। इलाका लेनेके लिए आज ही उन्हें वकीलसे परामर्श करना था। मुझे पूरी आशा थी कि कल निश्चय ही सुशीलको पिताका दर्शन मिल जायगा पर चन्द्रकलाकी इस घटनासे अब मुझे सन्देह हो रहा है। यह अभागिनी क्या उन्हें आने देगी ?"

सावित्री—"एक गलती हुई। अभी यह बात प्रकट न की गयी होती तो अच्छा होता। परन्तु जो हो गया; सो हो गया। इसमें नुकसान ही क्या हुआ। बबुआ आवेंगे तो अच्छा ही है, नहीं आवेंगे तो हरि-इच्छा।"

भामा—"हाँ जी, यह तो तुमने ठीक कहा। अभी न कहना ही अच्छा था। किन्तु मैं क्या करूँ ? मेरा स्वभाव ही ऐसा है। और तो कुछ नहीं, जरा उन्हें देखनेके लिए लड़केकी बहुत ज्यादा इच्छा थी। देखो संसारकी लीला !—हाय री सौतेली माँ !"

उधर अँधेरी गाड़ीमें नरम गद्देपर चन्द्रकला बहुत देरतक हाथपर हाथ धरे बैठी रही। माथेमें गरम रक्त चनचना रहा था। इसीसे आँखें भी जल रही थीं। चित्त ऐसा व्याकुल हो रहा था, मानो नशेमें चूर रहनेके कारण होश रहते हुए भी बेहोशी छायी हुई हो। मोटर खूब तेजीके साथ जा रही थी। फाल्गुनकी रातमें गाड़ीके वेगसे ठंढी हवा चन्द्रकलाके माथेका स्पर्श-कर गर्मी शान्त करने लगी। ऊँची-नीची सड़कपर मोटर हाथों उछल रही थी। ऐसा मालूम होता था, मानो वह चन्द्रकलाके शरीरको उछालकर सचेत करनेकी चेष्टा कर रही हो।

थोड़ी ही देरमें माथेकी गर्मी शान्त हुई। अब चन्द्रकला सोचने लगी कि "वस्तुतः ऐसा करनेका कोई खास कारण है या नहीं ? है, निश्चय

ही है। इस लड़केको यहाँ बुलानेका मतलब क्या ? मालूम होता है, भाईके लिए बहनका प्राण सूखा जाता है ! सम्भव है कि वे भी इस षड्यंत्रमें शामिल हों ? उन्होंने यह जो कहा है कि मुझे भतीजीके ब्याहमें आनेकी फुरसत न मिलेगी, यह भी एक चालाकी है—बाहर-ही-बाहर लड़केको लेकर आमोद-प्रमोद कर लेते होंगे। कौन जाने, यह दूसरा लड़का हो ! नहीं नहीं, वही है। अच्छा, जब लड़का आया है, तो क्या लड़केकी माँ न आयी होगी ?"

अब फिर अदम्य क्रोधके कारण चन्द्रकलाके हृदयमें ज्वाला उत्पन्न हो गयी। पहलेकी भाँति वह फिर मूर्च्छित हो गयी।

अपने शयनागारमें प्रवेश करनेपर उसने देखा कि घरमें अँधेरा छाया हुआ है। बाहरकी एक बत्तीकी रोशनीसे उसने देखा कि पलँगके ऊपरकी चाँदनी सिकुड़ी है। कमरेमें आज कोई भी नहीं आया है। यह दृश्य देखते ही उसका हृदय टूक-टूक हो गया। अब उसका संशय संशयमात्र नहीं रहा वरन् अनायास ही सत्य-रूपमें परिणत हो गया। उसके विरुद्ध आज जो यह कुत्सित चक्र चल रहा है, उसका नायक उसके स्वामीको छोड़कर दूसरा कोई नहीं है।

गहनोंसे सजी हुई अनुपम सुन्दरी चन्द्रकलाका मुँह प्रभाहीन हो गया। बत्तीकी तेज रोशनी उसके मुँहपर पड़ रही थी। उस प्रकाशसे चन्द्रकलाका मुँह दिखाई पड़ा। यह मुँह किसका है ? ओह ! यह मूर्ति हिंसाकी तो है नहीं ? क्या हिंसाने ही यह रूप धारण किया है ? हठात् दाईने उस ओरसे मुँह फेर लिया और उसी कमरेके बगलमें जाकर हिम्मत करके एक किनारे पड़ रही। मन-ही-मन सोचने लगी, सब माटी हुआ। अगर वहाँ न जाना पड़ता तो कुछ न होता। न-जानें क्या हो गया !

मुघरी दाई आँखें मलती हुई नजदीक आकर पूछने लगी—"कपड़ा नहीं उतारोगी बहूजी ?" उत्तर न मिलनेपर फिर बोली—"बहूजी ! अब तो सबेरा हो गया, गहना-गाँठी कब खोलोगी ?"

चन्द्रकलाने दाईकी ओर अधमुँदी आँखोंसे एक बार देखकर कहा—"तू ही खोल दे मुघरी ।"

अरे बापरे ! भला इन सबका खोलना क्या मुघरीकी माँ भी जानती थी ?—बालोंके साथ हीरेकी कीमती सेफ्टीपिनसे अँटकायी हुई साड़ी सेफ्टीपिन अलग करनेमें फट गयी । गलेका हार निकालनेमें मोतीके दाने बिखर गये । बाकी गहनोंको चन्द्रकलाने अपने हाथसे ही निकालकर एक किनारे रख दिया । इसके बाद कहा—"अब तू जा ।"

घंटों दिन चढ़ जानेके बाद, नींद उचटनेपर जब चन्द्रकला पलँगपर उठकर बैठी, तब बीती रातकी सारी बातें एक-एक करके उसके मनमें उदय होकर उसे कुपित करने लगीं । उठनेपर ऐसा मालूम हुआ मानो वह बहुत गहरी बीमारी पाकर उठी है ।

रसोई बनानेवाली ब्राह्मणीने आकर पूछा—"भोजन वगैरहके लिए क्या होगा बहूजी ? क्या आप फिर बहनके यहाँ जायँगी ? बाबू इस वक्त क्या घरमें ही भोजन करेंगे ? यहाँ कौन रहेगा ?"

चन्द्रकला बदन तोड़कर फिर बिछौनेपर लेट गयी और आलस्य भरी आवाजमें बोली—"जो समझो, करो—मैं वहाँ न जाऊँगी और न कुछ खाऊँगी ही । मेरी तबीयत अच्छी नहीं है ।"

"इतनी राततक जागनेमें आया है, इसीसे तबीयत खराब हो गयी । बदनमें पीड़ा भी है ?"

चन्द्र०—"हूँ" ।

"तो फिर बाबूजीके लिए तो भोजन बनेगा न ?"

"मैं कुछ नहीं जानती ।" कहकर चन्द्रकला चुप हो गयी । एक बार उसकी यह पूछनेकी इच्छा हुई कि, 'तुम्हारे बाबू कहाँ हैं और रातमें वह कहाँ थे ?' पर फिर न-जानें क्या समझकर वह और कुछ न कह सकी । उसके ललाटमें और किसी दुःखका लिखना शेष तो रह नहीं गया था, फिर वह व्यर्थ ही सारी बातें लोगोंके सामने क्यों प्रकट करती ? उसके समान दुखियोंकी संख्या और है ही कितनी ? गर्भसे न तो कोई

बच्चा ही पैदा हुआ और न स्वामी ही उसके अपने हैं। स्त्रियोंका इससे अधिक दुर्भाग्य और क्या हो सकता है!

घरके नौकरों-चाकरोंको ही नहीं, अड़ोस-पड़ोसके लोगोंको भी चन्द्रकलाके दुःखका हाल मालूम था। यह कोई नयी बात तो थी नहीं, महीनेमें कमसे-कम दस दिन तो इस तरह बीतते ही हैं। फिर भला दाइयाँ और क्या पूछतीं?

अब उठूँ, तब उठूँ, करती हुई चन्द्रकला आँखें मूँदकर पड़ी रही। उसकी आँखोंके सामने उसी लड़केकी सूरत नाच रही थी। मालूम होता था, राज-पुत्रकी तरह सुकुमार, देव-कुमारकी भाँति सुन्दर वही लड़का पासमें खड़ा है। पर वह तो सौतका लड़का है। जो बड़ी भाग्यवती है, जिससे सबलोग सहानुभूति रखते हैं, उसे कौन अभागिनी कह सकता है? किन्तु स्वामी तो चन्द्रकलाके हैं। राम कहो! स्वामीपर क्या उसका कोई पहरा बैठा रहता है? और फिर, जो एक स्त्रीको बिना कारण ही भुला सकता है, उसके हाथमें रहने और न रहनेमें ही क्या रखा है? उसका भरोसा ही क्या? जब लड़का ऐसा सुन्दर है, तब उसकी माँ न-जानें कितनी सुन्दर होगी! उस स्त्रीको क्या कोई भी आँखवाला पुरुष भूल सकता है? असम्भव है!—इन्हीं चिन्ताओंमें चन्द्रकला डूबी थी।

इतनेमें एक परिचित शब्द सुनाई पड़ा। आँखें मुलमुलाकर चन्द्रकलाने देखा—स्वामी!

—"यह क्या! तुम कब आ गयीं?"

राजेन्द्र स्नानके लिए तैयार होकर आये थे। चन्द्रकलाने उनकी बातोंका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। अभिमान और क्रोध उसके हृदयमें उमड़ उठा।

राजेन्द्रने फिर कहा—"जान पड़ता है, एकदम भोरमें ही आ गयीं? सबेरे तो मैं सामनेके कमरेमें ही बैठा था, पर तुम्हारी गाड़ीकी आवाज मैंने नहीं सुनी!"

चन्द्र०—"मैं तो रातमें ही आ गयी थी।"

राजेन्द्र—"रातमें कै बजे ? मैं तो कुछ भी नहीं जान सका ? शायद मुझे उस समय नींद आ गयी थी।"

चन्द्र०—जानोगे किस तरह ? घरमें होते, तब तो जानते ?"

राजेन्द्र—वाह ! घरमें नहीं थे तो और कहाँ थे ?"

चन्द्र०—"सो मुझे क्या मालूम ? क्या मुझसे कहकर गये थे ?"

राजेन्द्र—"इससे तो यह साबित होता है कि तुम्हारे पास छोड़कर मुझे रहनेके लिए और कोई दूसरी जगह भी है।"

चन्द्र०—"कौन जाने।"

राजेन्द्र—"अब जान लो। क्या तुम समझती थी कि दूसरी जगह है ही नहीं ?"

स्वामीके मुखकी यह व्यंग्य-हास्य-पूर्ण बात चन्द्रकलाकी क्रोधाग्निपर ईंधनका काम कर गयी। उसने जी-जानसे चेष्टा करके उस भीतरकी ज्वालाको बाहर नहीं उमड़ने दिया। यथा-साध्य शान्त भावसे उत्तर दिया—"जगहकी क्या कमी है ? मैं ऐसा काहेको समझूँगी ?"

राजेन्द्र—"तुम्हारे हाथमें पड़नेसे भला मैं इस अपवादसे क्योंकर बचूँगा ?—राजेन्द्र इतना कहकर जानेके लिए पीछे फिरे।

स्वामीके इस हास्यपूर्ण सहज तिरस्कारसे चन्द्रकलाका मन निश्चय ही विकल होना चाहिये था; पर इस समय अधिक तर्क करनेका अवसर न देखकर उसने धीरेसे कहा—"आज इतने सबेरे क्यों स्नान हो रहा है ?"

"वेदव्रत भाईके यहाँ जाना नहीं होगा ?"—कहकर राजेन्द्र घरके बाहर हो गये। अकस्मात् ही पीछेसे आवाज आयी—"आज यदि तुम वहाँ जाओगे, तो अपने लड़केका खून पियोगे।"

चन्द्रकलाकी यह बात राजेन्द्रके हृदयमें बाणकी तरह चुभ गयी। आर्त्त व्यक्तिकी भाँति फिरकर उन्होंने कहा—"क्या किया तुमने पागल ! भाभीकी लड़कीके ब्याहमें कल मैं नहीं पहुँच सका, अगर आज भी न जाऊँगा तो वह क्या समझेंगी ?"

स्वामीका जाना रोकनेमें कितना बड़ा अन्याय था और यह काम

कितना अनुचित था, इसे चन्द्रकला अच्छी तरह जानती थी। किन्तु जाननेसे हो ही क्या सकता है ? भामाकी बातोंसे उसका रक्त जो खौल रहा था ! वह क्या उसे कभी शान्त रहने देता ? चन्द्रकला क्या यहाँ अपमानित होकर बिलखती रहेगी और वह उसके अपमान करनेवालीके घर जाकर स्त्री-पुत्रको लेकर आमोदके साथ रात काटेंगे ? क्या यह साधारण बात है ? इसीसे स्वामीके व्यथाहत स्तम्भित मुख और कातर करुण-कण्ठने चन्द्रकलाके दिलमें तरस नहीं उत्पन्न होने दिया।

उसने पत्थरकी तरह हृदय करके कहा—"सो मैं कुछ नहीं जानती। यदि तुम इतनेपर भी वहाँ जाओगे तो आज मैं निश्चय ही आत्म-हत्या कर लूँगी—इसे अच्छी तरह समझ लेना।"

राजेन्द्र निरुत्तर हो स्नान करनेके लिए चले गये।

जिस तरह वर्षा-कालके बाद शरद्-ऋतुके आते ही नदीका तूफान बन्द होने लग जाता है, उसी तरह धीरे-धीरे चन्द्रकलाका क्रोध और अपमान भी शान्त होने लगा। दाईसे समाचार मिला कि बाबू एक बजेकी गाड़ीसे बनारस चले गये। साथमें मुनीमजी और दो-तीन नौकर गये हैं।

बात तो ठीक ही हुई। किन्तु इतनी बड़ी धृष्टता करके इस शुभ अवसरपर उसने जो स्वामीको अपने पाससे भगा दिया, यह क्या कोई अच्छा काम हुआ ? माँजी जब सुनेंगी, तब क्या कहेंगी ? कुटुम्बका मामला है, ब्याहमें न पहुँचनेसे लोग तो यों ही कुछ रंज थे, आज भी न जानेसे लोग अपने मनमें क्या सोचेंगे ? क्या इसका शाप मुझे न मिलेगा ? इसके अतिरिक्त चन्द्रकलाने सुना कि स्वामी बिचारे कल रातको अपने नीचेके कमरेमें ही सोये हुए थे। शामके वक्त बहुतसे वकील यहाँ आये थे, उनलोगोंको छोड़कर वह कहाँ जाते ? दस बजे रातके बाद तो वकील-मण्डली यहाँसे गयी। कल भोजन भी उन्हें पसन्द नहीं आया था। उन्होंने दुर्गासे हँसकर कहा भी था कि—"यह तुमने क्या भोजन बनाया है—देखो न, आटा कितना मोटा है। आज

वहाँ जानेसे तरह-तरहकी चीजें खानेमें आतीं, पर भाग्यमें तो ये बढ़िया चीजें खानेको लिखी थीं, मैं वहाँ जाता ही कैसे।"

इस बातको सुनकर चन्द्रकलाके हृदयपर गहरा धक्का पहुँचा। मनोरमा और सुशीलसे भेंट होनेका सन्देह करना बहुत ही बुरा हुआ। चन्द्रकलाका हृदय कितना छोटा है! अपने हृदयकी संकीर्णतापर वह पश्चात्ताप करने लगी। स्वामीके पैरोंपर गिरकर क्षमा-प्रार्थना करके सावित्रीके यहाँ जानेके लिए उनसे अनुरोध करनेकी प्रबल इच्छा उसके मनमें उत्पन्न हुई; किन्तु इस समय इच्छापूर्ण होनेके लिए यत्न ही कौन-सा है? यदि स्वामी यहाँ होते तब तो! वह तो हर तरहसे इस हतभागिनीको पीड़ित करनेका ही काम करते हैं। संसारमें दुःख तो मानो चन्द्रकलाके हिस्से पड़ गया है।

पिछली रातको तो वह ईर्ष्याके शूलसे पीड़ित थी, आज एक दूसरी ही व्यथा उत्पन्न हो गयी। सारा दिन निराहार बीत गया। शामके वक्त उठकर खिड़कीसे सड़ककी ओर देखने लगी। यही सड़क सावित्रीके घरके पासतक गयी है। आज वहाँ इस वक्त क्या होता होगा? शायद लोग भात खाने उठे होंगे। क्या इस वक्त? और नहीं तो क्या; खिचड़ी खानेमें पौनेचार घंटेसे कमकी टनगन थोड़े ही हुई होगी। अगर वहाँ होती, तो वह मनोहर दृश्य जरूर देखती। इस तरह उनलोगोंको रंज करके आना अच्छा नहीं हुआ। पर वह सब देखना भाग्यमें होता तब तो वहाँ रहती!

चन्द्रकला मन-ही-मन कहने लगी—ओफ! कल यदि इस तरहसे चली न आती, तो उस रूपसीका स्वरूप आँखोंसे देख लेती। एक बार आँखें तो तृप्त हो जातीं! भला उस रूपकी छटा देखनेका अवसर अब क्योंकर मिलेगा! अच्छा, कल जो स्त्रियाँ वहाँ बैठी थीं, उनमें वह कौन-सी थी? सबसे ज्यादा सुन्दर कौन-सी स्त्री थी? बहुत ज्यादा चेष्टा करनेपर भी चन्द्रकला इस बातकी मीमांसा न कर सकी।—एकबार हँस-कर फिर सोचने लगी, यह कोई खास बात तो है नहीं कि वह निश्चय ही

अनुपम सुन्दरी होंगी ? पर इससे भी चन्द्रकलाको सन्तोष न हुआ। चन्द्रमाकी तरह स्वरूपवान बालकने जिस माँके गर्भसे जन्म लिया है, उस माँका स्वरूप क्या कभी सौन्दर्य-हीन हो सकता है ? असम्भव ! कौन जाने, वह कहीं लुक-छिपकर बैठी रही हों। वह तो देखनेमें नहीं आयीं, पर उन्होंने मुझे जरूर देख लिया होगा ! अच्छा, वह इस वक्त क्या करती होंगी ? चुपचाप बैठी होंगी ? नहीं, नहीं, वह भला चुपचाप काहेको बैठेंगी,—सखियोंके साथ बैठकर हँसी-दिल्लगी करती होंगी। उनका भाग्य तो चन्द्रकलाकी तरह नहीं है। वह तो स्वामीकी पहली स्त्री, धर्म-पत्नी अर्धाङ्गिनी हैं—अपत्यवती जननी तो असलमें वही हैं। ईश्वरने मान-मर्यादा जो कुछ भी था, सब उन्हींको देकर इस करमफूटी चन्द्रकला-के ऊपर कितने निष्प्रयोजनीय धन-रत्नका भार लाद दिया है ! उन्हें हीरे-का मुकुट पहनाकर दुनियाभरका काँसा-पीतल और सब कूड़ा-करकट चन्द्रकलाके सिरपर रख दिया। हायरे दुर्भाग्य ! कलङ्क छोड़कर और कुछ भी चन्द्रकलाके हाथ न आया !

२३

सुबह नौ बजेका समय था। गाड़ियोंमें बैठकर कार्यकर्त्तालोग कचहरी जा रहे थे। अभियुक्त भी कितने तो इक्कोंपर और कितने पैदल ही ठीक समयपर मिर्जापुरकी कचहरीमें पहुँच जानेके लिए व्यग्र जाते दिखाई पड़ रहे थे। तिलक लगाये, गलेमें कण्ठी पहनकर मुहल्लेके परिचित वैरागी करताल बजाते हुए गाना गाते आ रहे थे—

"सकल तजि राम भजो मोरे भाई।
जेहि देहियाँ मैं मलि मलि धोयउँ, चोवा चन्दन लगायी।
तेहि देहियाँपर काग बिलोकत, मानुष देखि घिनाई ॥ सकल० ॥"

मनोरमा अंजलीमें भीख लेकर बाहर दरवाजेपर आयी। वैरागियोंने भिक्षा लेकर आशीर्वाद देते हुए पूछा—"इधर कई दिनोंसे जगन और बच्चा दोनों नहीं दिखाई पड़ रहे हैं बेटी—कहीं गये हैं।"

मनोरमा—"बच्चा कछवामें अपनी बुआके यहाँ गया है, उसीके साथ जगन भी गया है। आज आनेकी बात है!"

"तो कल भेंट होगी। चलो भाई।" यह कहकर वे चले गये।

मनोरमा घरका काम-काज करनेके कारण थक गयी थी। सुस्तीसे ज्यों ही वह घरमें जानेके लिए पीछे फिरी, त्यों ही एक इक्का घड़घड़ाता हुआ आकर दरवाजेके सामने रुक गया। मनोरमाने चौंककर पीछे देखा।

सुशील इक्केसे उतरकर माँके पैरोंपर गिर पड़ा। माँने आशीर्वाद देकर उसे गलेसे लगा लिया।

सुशीलने कहा—"माँ! जान पड़ता है, मेरे जानेके कारण इधर कई दिनोंसे तू दरवाजेपर ही खड़ी रहकर मुझे देखा करती थी। यदि ऐसा ही था, तो फिर मेरे साथ चली क्यों नहीं?"

मनोरमाने बालकको गोदमें लेकर चुम्बन करते हुए कौतूहलके साथ हँसकर कहा—"इससे तो मालूम होता है कि तेरा ही दिल अधिक लगा हुआ था।"

माँके चुम्बनसे सुशीलका गला भर आया। गोदमें मुँह छिपाकर कहा—"हाँ"।

माँने पुत्रकी विच्छेद-व्यथाको भुलानेके लिए इसपर और कुछ न कहकर यह पूछा—"भानोका दूल्हा कैसा है?"

सुशील—"बहुत अच्छा है। भानोसे बहुत बड़ा है।"

माँ—"भानोका मुँह तुम्हारी बहू-माँकी तरह है या बाबूकी तरह ही सुन्दर है?"

बालक—"तुमने बड़े बाबूको देखा नहीं है, फिर कैसे जानती हो कि बहू-माँसे वह सुन्दर हैं? क्या बुआने बतलाया था?"

मनोरमा लड़केकी बातपर हँस पड़ी।

माँ—"यह सब क्या है रे ?"

सुशीलने कहा—"बुआने और बहू माँने खरीद दिया है। मैं तो रोकता था, पर उनलोगोंने खरीद कर दे दिया।"

चीजें रखनेके लिए सुशील अपनी नानीके घरमें चला गया। मनोरमा भी लड़केके पीछे-पीछे उसी घरमें चली गयी। लड़केसे एक बात पूछनेके लिए मनोरमाकी छाती धकधका रही थी, किन्तु लज्जासे उसका मुँह नहीं खुलता था। इन तीन ही दिनोंमें लड़केकी अवस्था बहुत बढ़ तो नहीं गयी कि मनोरमाको संकोच अधिक मालूम हो रहा है! फिर भी साहस करके उसने कहा—"हाथ-मुँह धोकर कुछ खा ले सुशील।"

सुशील—"खाऊँगा क्या माँ, ठीक आते समय एक बार तो बहू-माँने खिलाया और फिर बुआने भी हठ करके खिला दिया। बहू-माँ और बुआने क्या-क्या चीजें दी हैं, आओ तुम्हें सब दिखाऊँ। नानीजी तो सो गयी हैं, अभी उन्हें नहीं जगाऊँगा।"

माँ—"अच्छा देखूँगी पीछे, तू इस समय—"

"नहीं तुझे अभी देखना पड़ेगा।" यह कहकर उत्सुक सुशील माँका हाथ पकड़कर ट्रङ्कके पास ले आया। बोला—"यह देख, मेरी चाभी है!"—गुलाबी सिल्कके कुर्तेकी जेबसे रेशमी रुमालमें बँधी हुई दो चाभियाँ निकालकर एकसे बक्स खोलते हुए हँसकर सुशीलने माँकी ओर देखा।

माँने कहा—"क्यों भाई, तेरी बुआ और बहू-माँने यह क्या किया? क्या बाजार ही खरीदकर तुझे दे दिया! भला इतनी चीजें लेकर तू क्या करेगा रे?—पागल कहींका!"

सुशील—"बुआने तो और भी चीजें मँगायी थीं, मैं लाया ही नहीं। माँ कछवा है तो छोटी जगह, पर बहुत गुलजार है। ठीक गंगाजीके किनारेपर बाजार है। बुआ मुझे घूमनेके लिए रोज एक आदमीके साथ भेज दिया करती थीं। माँ, बहू-माँ और बुआ दोनों ही मुझे बहुत प्यार करती थीं। जब मैं आने लगा, तो बुआ और बहू-माँ दोनों ही रोने लगीं। उन

लोगोंको बहुत दुःख हुआ होगा—क्यों माँ !"

मनोरमाकी आँखें आँसूसे तर हो रही थीं। मुँह फेरकर किसी तरह अश्रु-प्रवाह रोकनेकी चेष्टा करने लगी। इतनेमें ही सुशीलकी प्रदर्शिनी शुरू हो गयी।

"यह देखो, कितनी अच्छी-अच्छी किताबें हैं! रामायण, महाभारत, राणा प्रतापकी जीवनी और इसका नाम 'भगवान् बुद्ध' है। ये किताबें बुआने दी हैं। यह देखो, ये सब रबरके खिलौने, कापियाँ, कलम और पेंसिलें बहू-माँने दी हैं। यह एञ्जिन ऐसा दौड़ता है माँ कि क्या बताऊँ! मुझे इसका दौड़ना देखकर बड़ी हँसी आती है। माँ यह देख, इसे मैं बब्बोको दे रहा था; मैंने बुआसे कहा, इसे लेकर मैं क्या करूँगा, बब्बोको दे देता हूँ, खेलेगा। इतना सुनते ही बुआने धीरेसे मुझे एक चपत लगा दिया और कहा—'क्यों रे, तेरी क्या खेलनेकी उम्र चली गयी? मालूम होता है, बाल भी पक गये?' यह कहकर बुआने बब्बोके हाथसे लेकर फिर मुझे दे दिया। इसकी आँखें कैसी फिर रही हैं, देखती हो न? देखो डंड मार रहा है, कैसा पहलवान है! इसे जगनकी छोटी लड़कीको दे दूँगा।"

मनोरमा सलिलार्द्र हँसीपूर्ण नेत्रोंसे पुत्रैश्वर्यकी लीला देख रही थी। अचानक उसे अपने बाल्य-कालकी बातें स्मरण हो आयीं।

बालकने कहा—"ये सब कपड़े हैं। ये दोनों कोट बहुत कीमती कपड़ेके हैं। कपड़ेका रंग कैसा अच्छा है! ये जरी पाड़की धोतियाँ हैं; इनमें इसका किनारा बड़ा खूबसूरत है। ये सब कमीज और कुर्ते हैं। देखो गर्मीके लिए कपड़े अलग बँधे हुए हैं, और जाड़ेके लिए अलग। इतने कपड़े लेकर क्या किये जायँगे माँ? दो जोड़े जूते भी हैं, देख लिया न? यह देखो मोजेका बक्स है। बाप-रे बाप! बहू-माँ और बुआके यहाँ सब लड़कोंके तीन-तीन, चार-चार जोड़े जूते हैं। कपड़ेका तो कुछ ठिकाना ही नहीं है। मैंने तो कहा कि मुझे इतनी चीजोंकी कोई जरूरत नहीं है; पर बुआ तो मेरी बात सुनती ही नहीं थीं।"

माँ—"सुशील ! वहाँपर कहाँ-कहाँ तू गया था रे ? बुआके साथ कहीं देखादेखी भी हुई ?"

बालक—"वहाँ कोई वैसी देखनेकी चीज तो है नहीं। देहातका एक छोटा-सा बाजार है। वहाँ अस्पताल है, माँ! आँखका इलाज बड़ा अच्छा किया जाता है। बड़ी दूर-दूरके लोग आते हैं। एक कोसपर छोटी लाइन-का 'कछवारोड' स्टेशन है। मैं प्रयागका कालेज भी देख आया। माँ, मैं बड़ा होऊँगा तो उसी कालेजमें पढ़ूँगा।"

मनोरमाने उद्विग्नतामें ही हँसकर कहा—"आगे बड़े भी तो हो जाओ बेटे !"

बालक—"तो अब बाकी ही कितने दिन हैं, सिर्फ तीन ही वर्षकी तो बात है। नानीजी ! मैं तुम्हारे पाँव पड़ आया। तुम सो गयी थीं, इसीसे मैंने जगाया नहीं। तुम्हें पहलेसे मेरे आजके आनेका हाल मालूम था न ?"

सुभद्रा—"आओ, लल्ला मेरे आओ! तुम्हारे जानेसे घरमें अँधेरा-सा हो गया था। यहाँका रहना भी तुम्हारे बिना पहाड़ हो गया था। क्या ब्याह राजी-खुशीसे हो गया ? लड़का कैसा है मुन्ने ?"

बालक—"सब ठीक था। बुआ और बहू-माँने मुझे ये चीजें दी हैं नानीजी ! हाँ माँ, एक चीज तुमने भी नहीं देखी। यह सोनेकी सिकरी और अँगूठी आजीने दी है। जानती हो कौन आजी ? जो बाबूजीकी माँ हैं न, उन्होंने ही दिया है। देखो नाजीजी, यह अँगूठी पाँच सौ रुपयेकी है।"

"अपनी माँको दिखाओ"—कहकर सुभद्रा वहाँसे चली गयी। मनोरमा भयभीत होनेपर भी पुतली घुमाकर माँके मुँहका भाव ताड़ गयी। माँ तो कई दिनोंके बाद बालकको पाकर इस आशामें थी कि शायद उनसे भी इसकी बातचीत हुई होगी। अब शायद वह शान्त हो गये होंगे, उनकी बुद्धि फिरी होगी। आशा भंग होनेके कारण ही क्या रंज होकर चली गयी ? पर अभी तो सारी बातें पूछी भी नहीं गयीं,

आशा भंग कैसे हुई ?

इतनी बातें सुनकर भी जिस समाचारके लिए मनोरमा छटपटा रही थी, उसके सम्बन्धमें कोई चर्चा नहीं हुई।

सारी चीजें तो देख ली गयीं। कोई बुआकी दी हुई, कोई किसीकी, कोई किसीकी दी हुई चीजें—किन्तु स्वामीकी दी हुई चीज कौन-सी है ? अब तो कोई चीज बाकी रही नहीं। क्या उन्होंने कोई भी चीज नहीं दी ? निबका बक्स, स्याहीकी डब्बी, दवात, पेंसिल आदि चीजोंको भी यह बता चुका। अब अगर और कोई चीज बाकी रह गयी होती तो वह जाती कहाँ ? और यह छिपाता भी तो न ! उनकी दी हुई तो एक मिट्टीकी चीजको भी सुशील बड़े आदरके साथ सबसे पहले दिखलाता। तो क्या वह······यह भी कभी सम्भव है ? मनोरमाके वह प्रत्यक्ष देवता हैं ! उनकी मूर्ति पत्थरकी प्रतिमाकी भाँति नहीं है ! परित्यक्ता मनोरमाको ही देखनेका अधिकार नहीं है। पर क्या मनोरमा अपना हक लेनेके लिए कभी कोर्टमें फरियाद करने गयी थी ? उसके त्यागसे क्या बालक भी त्याज्य समझा जायगा ? बालकको त्यागनेके लिए तो पिताकी आज्ञा नहीं हुई है न ! फिर ऐसा क्यों ? मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र भी तो अपने लड़कोंकी अवमानता नहीं कर सके थे ! दुष्यन्त भी परित्यक्ता शकुन्तलाके गर्भसे उत्पन्न हुए बालक शत्रुदमनको दूरसे देखते ही वात्सल्य-मोहके कारण आत्म-विस्मृत हो गये थे। ससुर नाराज होकर चाहे जो कुछ कहें—वह पूजनीय हैं—उनका सब-कुछ कहना शोभा देता है; किन्तु सुशीलके पिता क्या अपने लड़केको चीन्ह न सके ? यही एक संचित, यही एक यथेष्ट बालक, इस धन-हीना भिखारिनको देकर भी क्या वह भूल गये ? कौन जाने कुछ देनेका अधिकार भी उन्हें न हो ? सोचना वृथा है।

"यह क्या है सुशील ? पतले कागजमें लपेटा हुआ ?"

"ओहो—भूल गया, भूल गया माँ ! अच्छा यह क्या है बताओ तो जानें"—कहते हुए कागजमेंसे कार्ड निकालकर सुशीलने माँके हाथपर

रख दिया। इसपर दृष्टि डालते ही मनोरमा चौंक पड़ी। आग्रहपूर्वक थोड़ी देरतक चित्रकी ओर देखती रही। यह चित्र उसके स्वामीका था। बिलकुल आधुनिक न होनेपर भी बहुत दिन पहलेका भी नहीं था। पर इससे क्या ! क्या स्वामीकी अवस्था अधिक हो जानेके कारण उनका स्वरूप मनोरमा भूल जायगी।

मनो०—"उनके चेहरेसे यह खूब मिलता है न सुशील ?"

सुशील—"मैंने तो उन्हें देखा ही नहीं माँ !"

मनो०—"देखा ही नहीं ?"

इसके पहले मनोरमाके दिलमें स्वप्नमें भी ऐसा उत्तर पानेका खयाल नहीं हुआ था। बालककी निराशापूर्ण बातको सुनकर मनोरमा अवाक् हो गयी। "देखा ही नहीं ?" प्रश्न भी उसने होशमें रहकर नहीं किया। सुशील भी इतनी देरतक भूला हुआ था। पिताकी चर्चा होते ही उसे भी धक्का-सा लगा। अब माँकी सूरत देखकर उसकी क्या दशा हो गयी, कौन कह सकता है ! इसीसे सम्भवतः उसने माँके प्रश्नका उत्तर नहीं दिया।

"ब्याहके दिन, बड़हारके दिन—उस दिन भी क्या वह—" इतना कहकर मनोरमा चुप हो गयी।

सुशीलने सिर हिला दिया।

मनोरमाका मुँह एकदम सूख गया। सारा शरीर बिलकुल स्थिर हो गया। साहस करके पूछा—"वह···वह अच्छे तो हैं न ? किसीसे कुछ सुना था ? क्या मुझसे छिपा तो नहीं रहा है ? क्यों सुशील, बोल ?"

सुशीलके मनमें पिताके प्रति कुछ दूसरी भावनाएँ उत्पन्न होने लग गयी थीं। सावित्रीके यहाँ जानेपर लोगोंके मुँहसे पिताके प्रति तरह-तरहकी बातें सुननेसे उसकी धारणा कुछ और भी दृढ़ हो चली थी। जिस समय उसने माँसे कहा—"हाँ अच्छे तो हैं—शायद बनारसमें उनके किसी जरूरी मुकदमेकी तारीख थी, इसीसे वह नहीं आ सके—" उस समय उसके मनमें अनायास ही यह बात पैदा हुई कि उस घरके

नौकर-चाकर और दाइयोंने बहू-माँके घर आकर बुआके पूछनेपर कहा था कि, "उनकी स्त्री बीमार हैं और बाबू घरसे कहीं चले गये।" इस बातपर बुआकी स्तब्धता और अन्यान्य स्त्रियोंकी समालोचनाएँ भी सुशीलको स्मरण हो आयीं। इसके अतिरिक्त सावित्रीका भांजा रमाकान्त भी एक बार एकान्तमें सुशीलको बता चुका था कि उसके पिता उससे भेंट होनेके भयसे ही कहीं चले गये, उनके जानेका और दूसरा कोई भी कारण नहीं है। यद्यपि रमाकान्त और सुशीलमें खासी मैत्री हो गयी थी, तथापि उस समय सुशील उसकी इस बातपर विश्वास न करके उसपर क्रोधित हो उठा था एवं पिताके प्रति आरोपित इस कलंकको जोरोंसे अस्वीकार करके कह बैठा था, "यह कभी नहीं हो सकता। बाबूजीका मुकदमा था, इसीसे नहीं आ सके। नहीं तो क्या वह एक बार मुझे देखनेके लिए भी यहाँ न आते? असम्भव है!"

यद्यपि इधर कई दिनोंसे रमाकान्त सुशीलका मित्र हो गया था, तथापि वह अपने सच्चे समाचारका प्रतिवाद सहन नहीं कर सका। वह सुशीलकी ओर एक बार घृणाकी दृष्टिसे देखकर कह बैठा—"ओहो! तुम्हारे लिए तो तुम्हारे बाबूजीको नींद भी नहीं आती! छिः, अगर उन्हें देखना ही होता, तो क्या मिर्जापुर जाकर कभी न देख आते? वहाँ क्यों नहीं जाते, मालूम भी है?" सुशीलने कहा—"किस तरह जायँगे? उन्हें काम कितना रहता है!" रमाकान्तने कहा—"दुत् पागल कहींका! काम रहनेसे क्या कोई अपने बाल-बच्चोंको देखने नहीं जाता? क्यों—? और फिर उन्हें ऐसा काम ही कौन-सा करना पड़ता है, सुनूँ तो जरा? नौकरी भी तो नहीं करते! काम करनेके लिए उनके पास एककी जगह चार-चार नौकर हैं! रोजाना यहाँसे वहाँ और वहाँसे यहाँ फिरा करते हैं। तुम यह तो नहीं कहते कि तुम्हारी सौतेली माँ—"

इतनेहीमें एक आदमी आ गया—उसने रमाकान्तकी ओर तरेरकर देखा और कहा—"भैया, माँने सबसे क्या कहा था? चलकर माँसे कह दूँगा।"

रमाकान्त—"नहीं-नहीं, कहना मत भाई, कहना मत। सुशील इतने ऊँचे दर्जेमें कैसे पढ़ता है, मैं तो इसी आश्चर्यमें हूँ। कुछ समझमें नहीं आता। इस बातसे इसका पूरा उल्लूपन जाहिर होता है। तुमने जो मेरे क्लासमें पढ़नेके लिए कहा, सो एक बात मैं तुमसे पूछता हूँ, बताओ जरा—'ब्रिटिश-मालका बहिष्कार और ब्रिटिशके लिए घृणा फैलाना' इसका अंग्रेजीमें जरा अनुवाद तो करो! मैं तो अपने दर्जेमें सबसे अच्छा लड़का हूँ और बराबर प्रत्येक दर्जेमें फर्स्ट होता आ रहा हूँ, सो मेरी उम्र पन्द्रह वर्षकी है, और तुम दश वर्षकी अवस्थामें ही एट्थमें कैसे हो?"

सुशील उस समय किसी गहरी चिन्तामें निमग्न हो गया था; पर अपमानसे बचनेके लिए उसने उत्तर दिया, "Boycott of Birtish goods and hatred for the British increasing" यह अनुवाद सुनते ही रमाकान्तका होश ठिकाने आ गया। उसे आशा थी कि सुशील इसका अनुवाद न कर सकेगा इसलिए दिल्लगी लेनेका अवसर मिलेगा।

उस समय अच्छी तरह विश्वास न करनेपर भी आज माँकी बातका उत्तर देनेके बाद ही सुशीलके दिलमें वे सारी बातें उदय हो गयीं। रमाकान्तकी व्यंग्य-पूर्ण हँसी भी उसे स्मरण हो आयी, "अगर उन्हें देखना ही होता तो क्या वह तुम्हारे यहाँ जाकर न देख आते। काम है! और सब लोगोंके पिताको भी तो काम रहता है!"

मनोरमाने ठंढी साँस लेकर कहा—"वह नहीं आये—भतीजीके ब्याहमें भी वह नहीं आये। इससे दीदी भी नाराज हुई होंगी। ऐसा क्यों किया? तेरे साथ उनकी भेंट नहीं हुई, यह सुनकर मेरा चित्त घबरा रहा है।"

थोड़ी देरमें यह व्यथा शांत हुई और पतिका नया चित्र देखनेमें मनोरमा विभोर हो गयी।

२४

भानुमतीके ब्याहके बाद भाभी फिर बनारस नहीं आयी। राजेन्द्र भी लज्जाके कारण उसके सामने जानेका साहस नहीं कर सके। भाभाकी अनुपस्थितिमें राजेन्द्रको अपने घरका रहना अरण्यवास हो गया। जिस भाभाका सौहार्द्र, रूठा भाव, माया, ममता, कलह और प्रेम राजेन्द्रके जीवनकी शान्ति और आरामका स्थल था, उसी भाभाने आज उन्हें त्याग दिया। भाभाके साथ ही चचेरे भाई वेदव्रत और उनकी स्त्रीसे भी राजेन्द्रकी मुलाकात कभी नहीं हुई। राजेन्द्रके दिलमें रह-रहकर इसी बातकी चिन्ता होने लगी कि भाभीकी सबसे बड़ी लड़कीके ब्याहमें न जाना, ठीक नहीं हुआ। जो लड़की भाभाको भी प्राणोंसे प्रिय है, जो अपनी चाचीकी गोदमें खेल चुकी है, उसके ब्याहमें न रहना क्या भाभा और भाभीके लिए सह्य हो सकता है? क्या भाभाका हृदय अपने इस जीवनमें राजेन्द्रको क्षमा प्रदान कर सकेगा? और राजेन्द्र क्षमा माँगेंगे किस मुँहसे? इसके अलावा, भाई वेदव्रत हैं। वह क्या अपने दिलमें निहायत दुखी न होंगे?—माँ क्या लड़के और बहूकी इतनी बड़ी स्वेच्छाचारिता क्षमा कर सकती हैं? ब्याहसे लौटकर आनेके बाद तो माँके साथ बहू और बेटे दोनोंमेंसे किसीने एक बात भी नहीं की। दाईके द्वारा चन्द्रकला असली समाचार पा चुकी थी। सौत नहीं आयी थी, सिर्फ सौतका लड़काभर आया था। इस समाचारसे चन्द्रकलाको शान्ति तो अवश्य मिली थी, पर आत्म-ग्लानिका संचार होनेसे भी उसका हृदय वंचित न रह सका। नन्हेंसे बच्चेके लिए इतनी आफत! ऐसा न करनेसे भी तो काम हो सकता था। एक दिन अपने मनकी इस चिन्ताको चन्द्रकलाने स्वामीसे कह डाला। कहा—"तुम विचित्र हो महाराज! मैंने रंजगीमें उस रोज जरा-सी बात कह दी थी, सो उसके लिए तुम घर छोड़कर चले गये। यदि फिर ऐसा ही करना हो, तो मैं कुछ न कहूँ।"

राजेन्द्रने उदास भावसे कहा—"क्यों नहीं। उस गरीबके लड़केका खून पिलाना तुम्हारे लिए एक जरा-सी बात है. क्यों—? मुझे ईश्वरने क्या इतनी बुद्धि नहीं दी है?"

निर्मम आघातसे जलती हुई अग्निकी शिखाकी भाँति प्रज्वलित होकर चन्द्रकलाने कहा—"अगर मैं किसीका खून करनेके लिए कहूँ, तो क्या तुम वही करोगे?"—इसके बाद राजेन्द्रने कुछ नहीं कहा। उन्होंने विवाद बढ़ाना उचित नहीं समझा।

राजेन्द्रकी माँ घर लौटनेपर हठात् एक दिन न-जाने क्या सोचकर बिना किसी तरहकी भूमिका बाँधे लड़केसे कहने लगीं—"मालिककी कमाईमें मेरा भी कुछ हक है या नहीं?"

राजेन्द्रने कहा—"नहींका क्या मतलब माँ? बाबूजीकी कमाईका आधा धन तुम्हारा है। पर मेरी तरफसे आधा नहीं, सब धन तुम्हारा है।"

वृद्धा—"मैं सिर्फ अपना ही अंश चाहती हूँ। आधेको दान और बिक्री करनेका अधिकार मुझे है या नहीं? सरकारी कानून क्या कहता है?"

माँके मुखकी ओर देखकर पुत्रने उत्तर दिया—"दान और बिक्रीका पूरा अधिकार तुम्हें है।"

माँने कहा—"देखो, मैं तुम्हारा अनुग्रह नहीं चाहती। अगर वास्तवमें मेरा इस घरमें कुछ हक हो, तो वह हक तुम मुझे दे दो। इससे ज्यादा मैं कुछ भी नहीं चाहती।"

जिस माँके मुँहसे आजसे पहले कभी राजेन्द्रने इस बातकी छाया प्रकट होनेवाली बात भी नहीं सुनी थी, यह क्या राजेन्द्रकी वही माँ है? थोड़ी देरतक चुप रहनेके बाद अन्तमें एक लम्बी साँस लेकर सावधानीसे पुत्रने पूछा—"तुम सब नकद लोगी, या घर और जमींदारी भी?"

वृद्धा—"जिसमें तुम्हें सुगम हो, वही तुम हमारे नामसे लिख-पढ़ दो, मैं अपनी जरूरतके मुताबिक उसमेंसे ले लूँगी।"

दो दिनके बाद हठात् एक दिन उन्होंने किसी वकीलसे पूछकर मुनीम द्वारा लड़केके पास सन्देश भेज दिया कि—"वकीलोंके मुँहसे मैंने सुना है कि इसमें मेरा कोई भी अंश नहीं है। एकसे अधिक पुत्र होनेपर विभाग होते समय माँको एक अंश दिया जा सकता है अन्यथा नहीं। इसलिए मैं दयाकी भिक्षा लेना पसन्द नहीं करती, शरीरके गहने ही मेरे लिए यथेष्ट हैं। और मैं कुछ नहीं चाहती।" व्याहमें सम्मिलित न होनेके कारण राजेन्द्र तो यों ही रोगी हो गये थे, तिसपर एक नयी आफत और उनपर आ गयी।

ट्रङ्क, कैश-बक्स और बिछौना वगैरह साथ लेकर राजेन्द्रने शिमला जानेके लिए स्थिर कर लिया था। चन्द्रकला भी जबर्दस्ती उनके साथ गयी।

शिमला पहुँचनेपर उन्हें बहुत-कुछ शान्ति मिली। उनके अशान्त हृदयका आन्तरिक दाह तुषारपुरीकी शीतलतासे लदी हुई हवाके स्पर्शसे बुझने लगा। पर हाय! इतनेमें ही—

भानुमतीके व्याहके उपलक्ष्यमें भाई-बहनमें जो विच्छेद पैदा हुआ था, उससे सदाके लिए विच्छेदका पर्दा तैयार होकर गिरता हुआ दिखाई पड़ा। यवनिका-पतनके पहले पहुँचनेसे एक बार भाई-बहनकी अन्तिम भेंट हो सकती है। अन्यथा फिर कभी भेंट होनेकी आशा नहीं।

रोगकी पहली या दूसरी अवस्थामें चिकित्सकों या घरके लोगोंको बहुधा मृत्युकी छायाका दर्शन नहीं हुआ करता; पर राजेन्द्र शिमलेमें रहनेपर भी बीमारीकी खबर पाते ही समझ गये कि प्यारी बहन भामाका जीवन-प्रदीप निर्वाणोन्मुख है। तार पाते ही शिमलासे चल पड़े।

भामाका मुख-चन्द्र उस समय तीन हिस्सा राहुके मुँहमें जा चुका था। अब भामाको पहचानना भी कठिन हो रहा है।

राजेन्द्रने कहा—"भामा—बहन! क्या तू सचमुच ही आजीवनके लिए मेरी छातीमें बाण बींध कर चली गयी?"

मृत्युकालमें भी स्वभाव नहीं बदलता। विकट हँसीसे शीर्ण अधर-

रंजित करके बहनने जवाब दिया—"कौन ? मेरा वही छोटा भाई, राजो ! मेरे साथ अब झगड़ा नहीं करोगे ?"

बहनके इन शब्दोंको सुनते ही राजेन्द्रका गला रुँध गया। बार-बार इच्छा होती थी कि इस अन्तिम समयमें दो-चार बातें और हो जायँ। पर गलेसे कोई शब्द न निकला ! हायरे दुःसमय ! विचारे राजेन्द्र क्षमा भी न माँग सके। आज कई महीनेके बाद भेंट भी हुई, तो यह भयानक दृश्य ! बहनकी निश्चल गोदमें राजेन्द्रने सिर रख दिया। छोटे भाईके इस अदम्य शोकके भारको न सह सकनेके कारण ही मानो भामाके हृदय-पिण्डकी मंथर गति रुकने लगी। नेत्रोंकी निर्जीवता देखकर उसके स्वामी-ने राजेन्द्रका हाथ पकड़ लिया। कहा—"छोटे बाबू, छोटे बाबू ! ठंढे हो लो ! पीछे रोगीकी दशा देखना। उठो, दुःखी होनेसे अब क्या होगा ?

"हाय ! अब मुझे कौन झुँझलाकर खानेको कहेगा ? बहन भामा ! एक बार बोल न, क्या रूठ गयी ? अच्छा, तेरा कहना मैं···" फिर गला रुक गया। इतना कहकर राजेन्द्रने एकबार डबडबायी आँखोंसे बहनके मुखकी ओर फिर देखा; पर अबकी बार देखनेसे मालूम हुआ कि रहा-सहा अंश भी राहुने ग्रस लिया। राजेन्द्र पछाड़ खाकर गिर पड़े।

भामाकी इस आकस्मिक और अकाल मृत्युसे सबलोग शोक-सागरमें डूब गये। चन्द्रकलाके साथ भामाका यद्यपि कुछ भी प्रेम-सम्बन्ध नहीं था, तथापि वह भी आज उस बातका स्मरण न कर सकी। उसके भीतर भामाके प्रति चाहे जितने असद्भाव क्यों न रहे हों, पर भामा उसके स्वामीकी बहुत ही प्रिय बहन थी। स्वामीकी मर्मान्तक वेदनाका अनुभव करके वह भी अत्यधिक मर्माहत हुई।

२५

राजेन्द्रकी माँ अपना अधिकांश जीवन खूब सुखसे बिता चुकी थीं; किन्तु अन्तमें उन्हें दुःखका भार ऊपर लादना ही पड़ा। एकमात्र पुत्र और पतोहूको लेकर वह सुखी नहीं हो सकतीं। त्यागी हुई पतोहूके बिछोहसे उनका हृदय विदीर्ण हो गया है। इसके लिए उनका कोई वश भी नहीं चलता था। वैधव्य क्लेश भी उन्हें कम नहीं हुआ। इधर भामा भी अपने छोटे बच्चों और स्वामीको छोड़कर चल बसी। भामाकी मृत्युसे उन्हें विशेष दुःख हुआ। माँके निकट सब बच्चे समान प्यारे होते हैं; किन्तु उनकी बाध्यता और मातृ-वत्सलता भामापर विशेष थी। राजेन्द्रके घर लौटनेपर उन्होंने कहा—"यहाँ गाँवमें अब मैं और नहीं रहूँगी राजो, तुम काशी पहुँचा दो।"

माँकी प्रतिज्ञा अटल समझकर राजेन्द्रने उनके काशी जानेका बन्दोबस्त कर दिया। यात्राके पहले ही चन्द्रकलाको भी तैयारी करते देखकर राजेन्द्रने पूछा—"तुम क्यों अपनी चीजें ठीक कर रही हो?" चन्द्रकलाने उत्तर दिया—"मैं भी माँके साथ बनारसके मकानमें ही रहूँगी।"

राजेन्द्रने इस बातका उत्तर न देकर एक ऊँची साँस ली। राजेन्द्र चन्द्रकला और माँको बनारस पहुँचा आये। साथमें भामाकी छोटी लड़की भी गयी। इस लड़कीको चन्द्रकला पालती-पोषती है। अबकी बहूके आचरणसे सास बहुत ही प्रसन्न हुई।

घर वही था; पर अबकी बार आनेपर राजेन्द्रकी शोकाकुल माँको बहुत ही शान्ति मिली। एक अच्छे वृद्ध ब्राह्मणको बुलाकर धर्म-शास्त्र सुननेमें आठ महीनेका दिन उन्होंने बिताया। अन्तमें बीमार होकर वह चल बसीं। मृत्युके समय चन्द्रकला और राजेन्द्र दोनों ही वृद्धाके पास थे। बीमारीमें माँकी सेवा-सुश्रूषा भी दोनोंने पूर्ण रीतिसे की थी। किन्तु अन्तमें सुघरीके मुँहसे एक बात सुनकर चन्द्रकलाके मनमें सासके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो गयी थी। वह बात यह थी कि बीचमें एक बार

जब चन्द्रकला स्वामीके पास इलाकेपर चली गयी थी, उसी बीच माँके बार-बार अनुरोध करनेपर सुशीलको लेकर मनोरमा एक दाईके साथ यहाँ आयी थी। उसके यहाँके ही कोई सज्जन गोदौलियापर रहते हैं, वहीं वह ठहरी थी। उससे भेंट करनेके लिए एक दिन सुघरी दाईको साथ लेकर वृद्धा स्वयं गयी थी। वृद्धाने यह भेंट चन्द्रकलासे छिपाकर की थी। इसीसे उसको बुरा मालूम हुआ। इतनी सेवा करनेपर भी उससे छिपाकर ऐसा काम वृद्धाने क्यों किया? यदि ऐसा ही था तो चन्द्रकलाकी उपस्थितिमें ही उसे यहाँ बुलातीं। उसने दाईसे यह भी सुना कि वह स्त्री क्या है मानो साक्षात् भगवती है। चन्द्रकला भी दाईके साथ जाकर छिपे भावसे उस स्त्रीको देख आयी। उसने जैसा स्वरूप अपने दिलमें पहले सोचा था, कहीं उससे भी अधिक रूपवती उस स्त्रीको पाया।

इसके बाद चन्द्रकला सासकी सेवा करते समय बराबर यही सोचने लगी कि क्या इन्हें मेरी सेवा कभी पसन्द आ सकती है? उस आनन्द-मयी मूर्तिको और शुभ्र तारकके समान अनिन्द्य कान्तिवाले बालकको चन्द्रकला अपने दिलसे नहीं निकाल सकती थी। दोनोंको जितना ही वह भुलाना चाहती थी, उतना ही अधिक वे मूर्तियाँ उसे घर दबाती थीं। मनमें पूछनेकी उत्सुकता होनेपर भी वह उनके सम्बन्धमें किसीसे कुछ पूछ नहीं सकती थी। फिर भी वह बहुत-कुछ बातें बिना पूछे ही जान गयी। माँका मन था कि बहू और पौत्रको अपने पास ही रखें। किन्तु सुशीलकी पढ़ाईमें विघ्न पड़नेके भयसे वे ऐसा न कर सकीं। जिस दिन सबलोग चले गये थे, उस दिन वे बच्चेके लिए कितना दुःखी हुई! हाय! दुखी कैसे न होतीं! मूलसे ब्याजका मोह अधिक होता ही है। घरमें अगर एकाध लड़के होते, तो और बात थी। स्वामी और ससुरके वंशमें और दूसरा है ही कौन? फिर लड़का भी कैसा गुलाबके फूलकी तरह है! उसे सचमुच ही बच्चा कहना चाहिये, बच्चेकी तरह ही ईश्वरने बच्चा दिया है।

सुघरी मनमें न-जानें क्या-क्या बकती हुई चली गयी। गम्भीर

अन्यमनस्कतामें होनेके कारण चन्द्रकला सब सुन भी न सकी। भिन्न जाति, भिन्न गोत्र, निरक्षर, मूर्ख दाईकी वे घृणित बातें चन्द्रकलाके हृदयमें चुभ गयीं। उन बातोंके सुननेसे हृदयमें एक विचित्र आन्दोलन पैदा हो गया—स्वामी और ससुरके वंशमें उसे छोड़कर और कोई नहीं?

माताका क्रिया-कर्म विधिपूर्वक कर चुकनेके बाद राजेन्द्र इधर-उधर चारों ओर भ्रमण करने लगे। कुछ दिन तो काशीके ही मकानमें रहे, फिर विन्ध्याचल, प्रयाग, अयोध्या, मथुरा आदि अनेक तीर्थोंमें कहीं आठ दिन, कहीं इससे भी अधिक रहने लगे। यहाँपर एक बातका उल्लेख कर देना बहुत आवश्यक है। वह यह कि भामाकी वही छोटी लड़की जिसे चन्द्रकला पुत्रीकी तरह पालती थी, उसका भी सन्निपातसे देहान्त हो गया। इस स्नेहमयी लड़कीकी मृत्युके कारण चन्द्रकला शोक, दुःख और अनुतापसे एकदम अधीर होकर अधमरी-सी हो गयी। उससे एक जगह किसी तरह भी नहीं रहा जाता था। उस छोटी लड़कीका स्वरूप, गुण, हँसी और तोतली बोली रह-रहकर उसके कलेजेमें शूलकी तरह चुभती थी। लड़कीका 'माँ' कहकर पुकारना, चन्द्रकलाको मूर्च्छित करके मोहके आवरणमें आच्छन्न कर देता था। चन्द्रकला मातृत्त्वकी इस प्रबल वेदनाके आघातसे अपनेको किसी तरह भी बचा नहीं सकती थी। बार-बार सोचती, समझाती, जी बहलाती, पर किसी तरह चित्त शान्त नहीं होता था। उसके मनमें ऐसा भाव भी पैदा हो गया था कि उस लड़कीके साथ ही उसका सारा सांसारिक सुख-ऐश्वर्य चला गया।

पर हायरे मनुष्यका मन! तू बड़ा ही आशा-प्रवण और लोभी है। कोई नयी चीज मिलनेकी आशा होते ही झटसे तू पुरानी चीजको भूल जाता है और उस नयी चीजमें ही तन्मय हो जाता है। मनको वह यही कहकर समझाती थी—उसे तो अब कभी भी भूल नहीं सकूँगी; किन्तु रोने-पीटनेसे जब कोई लाभ ही नहीं है, तो व्यर्थ ही उसकी पारलौकिक

शान्तिपर व्याघात पहुँचानेसे लाभ ? अब तो वह प्राण देनेसे भी नहीं मिल सकती। अब इस समय जो चीज मिल सकती है, उसके लिए ही यत्न क्यों न किया जाय—फिर भी मनमें जो शोक रहता है, वह क्या किसी भी सद्युक्तिसे मिटाया जा सकता है ? हाँ, ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों चन्द्रकलाका दुःख भी कम होने लगा अवश्य, किन्तु एक आशाकी चिन्तासे फिर भी वह मुक्त न हो सकी।

२६

अबकी साल कजली और तीजका आनन्द-समारोह बिलकुल ही नहीं मनाया गया। स्वामी और स्त्री दोनों ही दुखी थे। इस मौकेपर दोनों घर लौट आये। चन्द्रकलाकी एक दरिद्र बाल्य-सखीसे बनारसमें भेंट हुई; वह विश्वनाथजीका दर्शन करनेके लिए गयी थी। ठीक उसी समय उसकी सखी भी कलकत्तेसे दर्शन करने आयी थी। मन्दिरके भीतरसे दर्शकोंकी भीड़ निकाल दी गयी। भीड़के साथ ही सखीको भी बिना दर्शन किये ही बाहर आना पड़ा। चन्द्रकलाकी पालकी मन्दिरके फाटकपर लग गयी ! साथके तीन बन्दूकधारी अगल-बगलमें खड़े हो गये। मन्दिरमें जानेके लिए पर्दा खड़ा हो गया। दर्शन करके वापस आते ही दाईने कहा—"बहूजी, एक भले घरकी स्त्री बिचारी ऐसी भीड़में खड़ी है कि उसकी जान आफतमें आ गयी है। गोदमें कैसी सुन्दर लड़की है !"

पर्दा पड़ते ही सबलोगोंको एक दूसरेसे यह बात मालूम हो गयी थी कि बनारसके प्रतिष्ठित रईस पण्डित राजेन्द्रप्रसाद त्रिपाठीकी स्त्री आयी हैं। चन्द्रकलाकी सखी यमुना भी यह बात जाननेसे वंचित नहीं रही। यमुनाके हृदयमें सखीसे मिलनेकी उत्कट अभिलाषा हुई। पर दुर्भाग्य !

इस धन-हीना सखीसे क्या सम्पत्ति-वैभव-शालिनी सखी चन्द्रकला कभी मिलेगी ? बारह व र्के बाद क्या वह इसे पहचानेगी ? और फिर यमुना ही कैसे भेंट करनेका साहस कर सकती है ? चन्द्रकलाकी दाइयोंके कपड़ोंकी तरह भी तो यमुनाके कपड़े नहीं !

वह इसी चिन्तामें पड़ी हुई थी कि धक्केसे अचानक उसके शरीरका कपड़ा थोड़ा-सा खिसक गया। स्वामीने उसे सँभाल लिया। इतनेहीमें एक स्त्रीने आकर कहा—"क्या तुम्हारा नाम यमुना है ?"

यमुनाने सलज्ज भावसे कहा—"हाँ।"

दाईने कहा—"तुम्हें बहूजी बुला रही हैं।"

यमुनाकी छाती धक-धक करने लगी। वह स्वामीसे आज्ञा लेकर दाईके साथ पर्देके भीतर चन्द्रकलाके पास गयी। चन्द्रकला बड़े ही स्नेहसे मिली। लड़कीको अपनी गोदमें लेकर बार-बार चुम्बन करने लगी। घर चलनेके लिए बहुत अनुरोध किया, पर यमुनाने कहा—"वह भी साथ हैं, मैं कैसे चल सकती हूँ।"

चन्द्रकलाने कहा—"उन्हें भी ले चलो न ! आओ तुम पालकीमें बैठ जाओ, मैं उन्हें चलनेके लिए कहला भेजती हूँ।"

यमुना—"यह क्या ? मैं तो पालकीमें चलूँ और वह पैदल ?"

चन्द्र०—"अच्छा तो मैं उनके लिए भी सवारी मँगा देती हूँ।"

यमुना—"नहीं, नहीं, मैं फिर घरपर आकर तुमसे मिलूँगी।"

चन्द्रकलाने ठिकाना पूछकर लिख लिया और सखीको भी विश्वनाथजीका दर्शन कराकर बिदा कर दिया।

घर लौटकर चन्द्रकलाने सखीकी लड़कीके लिए कुछ कपड़े और सोनेकी चूड़ियाँ भेजीं। यमुनाने स्वामीसे सलाह करके कपड़ोंको तो रख लिया और चूड़ियोंको अयोग्यताका मिलन कहकर लौटा दिया। साथ ही एक नम्रतापूर्ण पत्र लिखकर चन्द्रकलाके पास भेज दिया। इसके उत्तरमें चन्द्रकलाने नीचे लिखे पत्रके साथ फिर चूड़ियाँ यमुनाके पास भेज दीं:—

"सखी यमुना,

अच्छी तरह समझमें आ गया कि संसारमें स्नेह और प्यारका कुछ भी मूल्य नहीं। मूल्य है केवल व्यवहार-शास्त्रकी अमोघ नीतिका। संसारमें इसीकी सत्ता भी है। मुझमें और तुझमें भेद कैसा? तू भी कुलीन ब्राह्मण-कन्या है, मैं भी वही हूँ। तेरे स्वामी मिश्र उपाधिधारी हैं और इधर त्रिपाठी। इसलिए जो तूने अपने पत्रमें अयोग्य मिलनके लिए कई बार संकोच प्रकट किया है, वह केवल तेरे मनकी कल्पनाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। देखती हूँ कि संसारमें जिसके पास धन है, वही सबसे बड़ा अपराधी है; किसीकी भी सहानुभूतिका पात्र वह नहीं है। लोग समझते हैं कि उसके पास बहुत बड़ी धन-राशि है, इसलिए उसके जीवनमें और किसी चीजका अभाव नहीं है। पर धनका भण्डार होनेसे ही कोई मनुष्य भाग्यवान नहीं होता, यह बात मैं किससे कहूँ यमुना!

"आज यदि भगवान् मुझे बचा किये होते, और मैं तुम्हारी लड़कीसे उसका ब्याह करती, तो ये दो चूड़ियाँ मेरे पास वापस क्योंकर आतीं? मैं अधिक क्या लिखूँ; जो उचित जान पड़े, वह करो। मैं अपनी ओरसे एक बार इन्हें फिर भेजे देती हूँ। ईश्वरने ही जिसे मार डाला है; उसे यदि मनुष्य मारे, तो इसमें विचित्रता ही काहेकी? आज यदि मेरी लड़की भी जीवित होती तो—हाँ, यह तो कहो कि घरमें तुम्हारे भाई सकुशल हैं न? सखी यमुना, यह पूछना मैं भूल गयी थी, क्षमा करना।"

चन्द्रकलाने तीजके मौकेपर ब्राह्मणियोंको बहुत-से नये कपड़े बाँट दिये। भामाके यहाँ भी उसने भांजियाके लिए साड़ियाँ वगैरह भेज दी थीं। प्रभाको बुलानेके लिए आदमी भेजा था। यमुनाको पत्र लिखकर चन्द्रकला बैठी हुई प्रभाकी प्रतीक्षा कर रही थी कि इतनेमें वह आ गयी। दाईकी गोदमें प्रभाका लड़का भी था। चन्द्रकलाने ननँदको देखते ही कहा—"आओ, आओ मैं अभी तुम्हारी ही याद कर रही थी कि तुम्हारी सूरत दिखाई पड़ी। सचमुच तुम्हारी आयु बड़ी लम्बी है? कहो सब कुशल है न?"

कुशल-क्षेम बतानेके बाद प्रभाने कहा—"देखूँ तो वे सब कपड़े कैसे रखे हैं ? सुनहली जरीकी साड़ी ! यह तो बड़ी अच्छी चीज है ! इसका कितना दाम है भाभी ? ढाई-तीन सौसे क्या कम होगा। चोलीका कपड़ा यों ही क्यों पड़ा है ? सीकर तैयार कर दिया होता तो मैं तीजके दिन पहनती भी।"

चन्द्र०—"इसे बच्चेके लिए खरीदा है। देखो तो दुर्गा, लड़केके लिए ठीक होगा न ? ओहो ! क्यों बेटे, तुम यह कपड़ा लोगे न ? बोलो भाई ?"

प्रभा—"क्यों भाभी, भांजीके लिए तुमने साड़ी भेजी है ?"

चन्द्र०—"हाँ यही है, आज शामको भेजूँगी।"

प्रभा—"यह साड़ी तो मेरी साड़ीसे बहुत-कुछ मिलती-जुलती है—क्यों ?"

चन्द्र०—"हाँ।"

प्रभा—"अरे बापरे ! इतने रुपये इन कपड़ोंमें क्यों खर्च किये ! भैया नाराज नहीं होंगे ?"

चन्द्रकलाने जरा मुँह लटकाकर जवाब दिया—"नाराज होकर क्या करेंगे ? यह सब धन किसके लिए है ? किसके लिए सब बटोरकर रखा जायगा ?"

इस अप्रिय बातको सुनकर प्रभा थोड़ी देरतक चुप रही। बच्चेपर कितनी बड़ी ममता और कितना स्नेह होता है, यह प्रभाको अब अच्छी तरहसे मालूम हो गया था। अब वह चन्द्रकलाकी वेदनाका पूर्ण-रीतिसे अनुभव कर सकती थी।

थोड़ी देरके बाद अपने-आप ही चन्द्रकला अपना दुःख भूलकर हँस पड़ी और बोली—"एक प्रकारसे और सबको कपड़ा हो गया। गुरु, पुरोहित, नात-हित सबको आज शामतक पहुँच जायगा। किन्तु एक बात अभी समझमें नहीं आयी है कि—।" इतना कहकर चन्द्रकला चुप हो गयी। कुछ मुस्कुराहट भी उसके चेहरेपर आ गयी।

प्रभाने कौतूहलसे पूछा—"क्या है भाभी ? चुप क्यों हो गयी ?"

चन्द्र०—"यही कि मिर्जापुर भेजनेके लिए क्या किया जाय ?"

प्रभाने चकित होकर पूछा—"मिर्जापुर कपड़ा भेजनेकी कैसी बात है ? वहाँ किसके लिए कपड़ा भेजोगी ?"

चन्द्र०—"मिर्जापुरमें क्या तुम्हारा कोई अपना नहीं है ?"

प्रभा—"मेरा ? और अपना ? कौन है ? बोलो, कौन है ?"

चन्द्रकलाने जरा तमककर कहा—"क्यों इतना नखरा करती हो, बोलो तो ? भाईका लड़का और उसकी माँ दोनों मिर्जापुरमें नहीं हैं ? क्या तुम्हें नहीं मालूम ?"

प्रभाने आँखें चढ़ाकर कहा—"रहने दो। मेरे भाईका लड़का कहाँ है ? ऐसी बे-सिर-पैरकी बात भला मैं कैसे समझती ?"

चन्द्रकलाके रोषकी मात्रा और भी बढ़ गयी। उसने कहा—"क्यों जी, बड़ी दीदी उन दोनोंके लिए बराबर चीजें भेजा करती थीं। माँने भी बीमारीके समय लड़केको बुलाकर प्यार किया था, फिर तुम्हारे इन्कार करनेसे क्या होगा ? जिस तरह बड़ी दीदी उसकी बुआ थीं, उसी तरह तुम भी तो हो ?"

प्रभा—"बाबूजीका कहना न मानकर उन्होंने जैसा पाप किया, वैसा फल भी तो पाया। क्या सबलोग एक ही तरहके हो जायँगे ? मैं कभी उन लोगोंके पक्षमें हुई थी, तुमने देखा था क्या कि आज ये बातें सुना रही हो ?"

प्रभाका मिजाज गरम हो गया। वह सोचने लगी कि यह माँ और बहनकी तरह मुझे भी समझ रही हैं; किन्तु थी इससे उलटी बात। प्रभाकी बातें सुनकर चन्द्रकलाके दिलमें एक दूसरी ही बात पैदा हो गयी। जो प्रभा मनोरमाकी नहीं हुई, वह चन्द्रकलाकी कब हो सकती है ? माना कि बाबूजीने उसे त्यागनेकी आज्ञा दी थी; किन्तु क्या प्रेम किसीकी आज्ञासे टूट सकता है ? वास्तवमें माँ और दीदी ही सहृदय स्त्रियाँ थीं। दोनोंने मरते दमतक अपना कर्त्तव्य निबाहा; प्रेम भी इसीको कहते

हैं। हाँ, सम्भव है प्रभासे लड़कपनके कारण प्रेम न हुआ हो। यही सोचकर अन्तमें चन्द्रकलाने कहा—

"देखो बबुई। मरे आदमीकी निन्दा करना ठीक नहीं है। तुम दीदीके लिए मुँहसे क्या निकाल रही हो। उन लोगोंसे क्या तुम ज्यादा समझदार हो? जिसे वे मानती थीं, उसे मानना मेरा भी धर्म है। नहीं तो मुझे क्या गरज थी, बताओ तो।"

वास्तवमें चन्द्रकलाकी कोई भी गरज खोजनेसे नहीं मिलती। प्रभा अपनी भाभीका मिजाज गरम देखकर कोमल तो हो गयी, पर ऊपरसे उसने अपनी गरमी ही प्रकट की। तेजीसे ही उसने जवाब दिया, "मुझे ही क्या गरज है।" इसके बाद थोड़ी ही देरमें प्रभा बात टालकर शान्तिके साथ कुछ खेल-तमाशेकी बात करने लगी। फिर भी जब उसने चन्द्रकलाको उदास ही देखा, तब कहा—"मैं तो यों ही हँसी करती थी, नहीं तो क्या मैं नहीं जानती कि तुम्हारा लड़का वह नहीं है तो और कौन है? तुम भी तो उसकी माँ हो।"

चन्द्रकलाका दिल भर आया। जिस बातको इधर कुछ समयसे वह अपने मनमें गुप्त रीतिसे संग्रह कर रही थी, वह बात प्रभाने प्रकट कर दी। चन्द्रकला अपने भीतरकी बात छिपानेके लिए तुरन्त हँसकर वहाँसे यह कहती हुई उठ गयी कि मैं बातोंमें ही भूल गयी, तुम्हें जलतक न पिला सकी। क्षमा करना।

प्रभाको जलपान करा चुकनेके बाद चन्द्रकला स्वामीकी प्रतीक्षामें बहुत देरतक घरमें इधर-उधर टहलती रही। स्वामीका कुछ भी पता नहीं। घरमें कोई नौकर भी नहीं था कि उससे वह पता लगाती। अतः स्वयं ही स्वामीके नीचेके कमरेमें चली आयी। देखा कि राजेन्द्र अकेले ही कुर्सीपर बैठे कोई पुस्तक पढ़ रहे हैं। उनके कुछ कहनेके पूर्व ही बिना कुछ भूमिका बाँधे चन्द्रकलाने कहा—"देखो और सब जगहका काम मैंने एक तरहसे ठीक कर दिया है, सिर्फ मिर्जापुर बाकी है। सो वहाँ भेजनेके लिए न हो लालासे कह दो, अभी रजिस्टरी-पार्सल लग जायगा।

जाकर लगा आवें।"

अकस्मात् यह बात सुनकर राजेन्द्र आँखोंके सामने पुस्तक करके चुप रह गये। बाद स्वाभाविक भावसे उन्होंने कहा—"वहाँ भेजनेकी कोई जरूरत नहीं है।"—इतना कहकर ही स्वामीको पुस्तक पढ़नेकी चेष्टा करते देखकर चन्द्रकला मनमें बहुत दुखी हुई। कहा—"जरूरत नहीं है, तो बस ठीक है। मेरा जो कर्त्तव्य था, वह मैंने कर दिया। अब तुम जैसा मुनासिब समझो, वैसा करो। जिसमें मुझे व्यर्थ ही पीछे कोई दोष न दे।"

राजेन्द्र—"जब तुम्हें चौदह-पन्द्रह वर्षतक किसीने दोषी नहीं ठहराया, तो अब कोई तुम्हें दोष न देगा। किन्तु आज एकाएक यहाँ आनेकी बात तुम्हारे दिलमें कैसे पैदा हुई, कुछ समझमें नहीं आता। अगर यहाँ कोई आ जाय तो वह अपने मनमें यही सोचेगा कि इस घरमें सीमासे अधिक निर्लज्जता है।"

चन्द्र०—"मैं लज्जा तो बहुत ज्यादा करती हूँ।—तुम जो यह चौदह-पन्द्रह वर्षकी बातें कह रहे हो, सो इतने दिनोंतक तो बाबूजी और माँकी जिम्मेदारी थी। मुझे कोई दोष कैसे देता? किन्तु अब तो सारा काम मेरे ऊपर है। यदि इच्छा हो, तो लालाको बुलाकर सहेज देनेसे ही सारा काम हो जायगा।"

राजेन्द्र—"कोई जरूरत नहीं है। तुम भीतर जाओ, जोशीजी आते होंगे। लखुरवा! जोशीजी आ गये क्या?"

"जी"—कहकर लखुरने दरवाजेपर हाथ रखते हुए बहूजीकी ओर देखा। उस समय किसीको भी न देखकर चन्द्रकला कुछ बड़बड़ाती हुई भीतर चली गयी। फल कुछ भी न निकलनेके कारण चन्द्रकला मनमें स्वामीपर बहुत नाराज हुई।

२७

मामाकी असामयिक मृत्युसे और किसीकी अपेक्षा मनोरमा और सुशीलको कम नष्ट नहीं हुआ। दुःख सहनेके लिए ही सुशीलने मामासे इतना प्रेम बढ़ा लिया था। मनोरमाके घरमें जबसे मामाके पैर पड़े थे, तबसे इस अनाथ परिवारको बहुत बड़ा सहारा मिल गया था पर अचानक ही उसे भी ईश्वरने छीन लिया। जिस दिन समाचार मिला कि वही बुआ अब इस लोकमें नहीं हैं, बालक होनेपर भी उस दिन सुशीलके मुँहपर असह्य दुःखकी छाया दिखाई पड़ी। मनोरमाके दुःखका तो वर्णन करना ही कठिन है। एक तो उसे ननँदकी मृत्युका दुःख था, दूसरे छोटे बच्चेके क्लेशका।

विजयादशमीके मौकेपर सुशीलकी आजीके यहाँसे बुलौआ आया था। मनोरमाने वहाँ न जाना ही स्थिर किया था। उसने सुशीलसे कहा—"लिख दे, इस सालकी पढ़ाई बहुत कड़ी है, छुट्टीमें भी परिश्रम करके पढ़ना पड़ेगा।"

मनोरमाकी यह युक्ति सुशीलको नहीं रुची। जीवनका जो कुछ भी अनास्वादित सुधा-स्वाद वह प्राप्त कर सकता था, उसे छोड़नेके लिए वह किसी प्रकार प्रस्तुत नहीं था। माँकी बातका मीठे शब्दोंमें प्रतिवाद किया—"कोर्सकी पढ़ाई तो मैं सब खतम कर चुका हूँ माँ! छुट्टीके दिनोंमें मुझे कुछ पढ़नेके लिए बाकी नहीं है।" नानीसे जाकर कहने लगा—"नानीजी! चलो न, तुम्हें विश्वनाथजीका दर्शन करा लाऊँ।"

संसारसे निर्लिप्त सुभद्राकी भला दर्शनकी लालच कम कैसे हो सकती थी! परन्तु स्थिति वैसी कहाँ? उसने कहा—"दर्शनकी तो बड़ी साध है बेटा, लेकिन सब खेल तो रुपयोंका है न!"

काशीमें आकर सुशील आजीकी गोदमें मुँह करके बुआके लिए रोने लगा। बाल-स्वभावानुसार थोड़ी देरमें शान्त हुआ। सुभद्रा, मनोरमाको लेकर अपने मुहल्लेके एक आदमीके मकानमें ठहरी थी। मनोरमा तो कहीं

दर्शन करने नहीं गयी, पर सुभद्रा घूम-घूमकर देवी-देवताओंका दर्शन करने लगी।

राजेन्द्रकी माँ शामके वक्त दोतल्लेपर बरामदेमें बैठ जाती थी और सुशील उनके सामने एक छोटी आसनीपर बैठकर कोई पुस्तक पढ़ने लगता था। बीच-बीचमें आजीकी ओर भी आँखें घुमा दिया करता था। कभी पुस्तक रखकर वृद्धाके पाँव दबाने लगता और कभी चर्म-लुलित कण्ठ पकड़कर कलोल करने लगता था। इस असीम सुखसे पहलेका दुःख उमड़ पड़ता था; अतः उसके वेदनामय भारसे वृद्धा व्याकुल हो उठती थी। कभी-कभी आँखोंमें आँसू आ जाते थे और मृत पतिको सम्बोधन करके वृद्धा मन ही मन कहने लगती थी कि—"तुम क्या करके गये राम! हाय! ओरे मेरी तपस्याका फल! किसके शापसे तू आज राहका भिखारी बन गया है।" प्रकट रूपसे बच्चेके सिरपर हाथ रखकर हृदयसे मंगल कामनामय आशीर्वाद देती थी। दुःखकी तरंग उठते ही विश्वनाथ! विश्वनाथ! कहने लगती थी।

इस प्रकार इस दुःखमय समयमें राजेन्द्रकी माँको सुखके जिस नैवेद्यका उपहार प्राप्त हुआ, उसकी उन्हें स्वप्नमें भी आशा नहीं थी। इतने दिनोंके जीवनमें ऐसा आनन्द उन्हें कभी नहीं मिला था। भामा और प्रभाके लड़कोंसे भी उन्हें आनन्द मिलता था अवश्य, उनमें दो-एकपर वृद्धाका स्नेह भी बहुत था; किन्तु इस आनन्दके सामने वृद्धाको वह आनन्द तृणके समान प्रतीत होने लगा।

किसी दिन सोनेके बाद और कभी सन्ध्या होते ही सुशील वृद्धा आजीको महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि सुनाने लगता था। ज्यादातर वह अपनी पाठ्य-पुस्तकोंका अभिज्ञता-पूर्ण पाठ सुनाया करता था। ऐसा श्रोता क्या उसे और कहीं मिल सकता? नानी तो घंटा-आध-घंटा ही सुनती थी, माँ भी हँसती हुई दस-पाँच मिनटसे अधिक नहीं सुनती थी; पर यह वृद्धा तो सुननेसे बिलकुल अघाती ही नहीं। नानी तो यह भी कह बैठती थी कि 'इसे मैं समझती हूँ क्या रे पागल? क्यों इसे सुना

रहा है ?' पर यह वृद्धा तो अर्थमेटिक, एलजबरा, ज्योमेट्री, जिआग्रफी सब-कुछ चावसे सुनती है— चाहे कुछ भी समझमें न आवे। विषय कोई भी क्यों न हो, उत्साह दोनोंका क्या कभी रुक सकता था ? यही सब अगड़म्-बगड़म्, आँय-बाँय सुनते-सुनते पितामही अवाक् हो पौत्रका मुँह चूमकर कहने लगती—"इसी उम्रमें इतनी बातें कहाँसे सीख लीं बेटे ? ठीक इसी तरह बचपनमें तेरा बाप भी था। वह भी इतनी ही अवस्थामें बहुत-कुछ पढ़ गया था।"

सुशील इसी बातको सुननेके लिए लालायित रहा करता था। पिताके प्रति आज भी उसके हृदयमें कम स्नेह नहीं ! कभी-कभी यह प्रसंग उठनेपर दोनोंमें बातें होने लगतीं—

"बाबूजीने कै वर्षकी उम्रमें एंट्रेंस पास किया था ?"

"कै वर्ष ?—सोलह वर्षकी उम्रमें। तू उनकी अपेक्षा चार वर्ष आगे ही पास करेगा !"

"अच्छा आजी। बाबूजी तो एंट्रेंससे बीस, एफ० ए० से पचीस और बी० ए० पास करनेपर पचास रुपये स्कालरशिप पाने लगे थे—बी० ए० में फर्स्ट होनेके कारण तीन स्वर्ण-पदक भी उन्हें मिले थे; तो फिर लॉ-कालेजमें वह तीन-तीन बार फेल कैसे हो गये ? क्या उनकी रुचि कानून पढ़नेकी नहीं थी ? तो वह पढ़ने क्यों लगे ? लॉ पढ़ना बहुत मुश्किल है आजी ? मैं आईन नहीं पढ़ूँगा। मैंने क्या पढ़ना निश्चय किया है, मालूम है ? मैं एम० ए० पास करके अमेरिका जाऊँगा। वहाँ जाकर साइंस सीखूँगा। मैं नौकरी करनेके लिए नहीं पढ़ूँगा। अच्छा आजी, बाबूजी तो पढ़नेमें तेज थे, फिर वह अमेरिका पढ़नेके लिए क्यों नहीं गये ? क्या उन्हें आगे पढ़नेका शौक नहीं हुआ ? क्यों आजी, अगर बाबूजी अमेरिका गये होते तो वह क्या साइंसके बहुत बड़े पंडित होकर न आते ?"

वृद्धाने एक ठंढी साँस लेकर कहा—"हाँ बेटे, होकर आते क्यों नहीं ! तुम्हारे बाबूजी बराबर स्कूलमें पास होते आये थे। इसमें ही क्या

वह फेल होते ? और अगर एक बार फेल भी हो जाते, तो क्या दूसरे साल भी कोई उन्हें फेल कर सकता ? ईश्वरने ही मार दिया !"

सुशीलने ईश्वरके मारनेका कारण पूछा। आजीने आँखोंके आँसूसे उसका उत्तर दिया। यही कारण है कि उसने इस सम्बन्धमें फिर कभी उनसे कुछ नहीं पूछा। इसके अलावा बाबूजीका स्वर्ण-पदक कितना बड़ा है, स्कूलमें उन्हें कौन-कौन-सी पुस्तकें इनाममें मिली थीं, स्कालरशिपके रुपये वह किस सार्वजनिक फण्डमें या गरीबोंकी सेवा करनेमें खर्च करते थे—आदि बातें जाननेकी प्रबल इच्छा रहते हुए भी सुशील फिर कभी पूछनेका साहस न कर सका। वास्तवमें सुशील एक बुद्धिमान लड़का था। बाबूजीके पढ़नेमें बाधा पड़नेका बहुत कुछ उलटा-सीधा कारण उसने समझ लिया। माताकी यत्न-पूर्ण शिक्षा और अपने मनकी अपरिसीम श्रद्धासे उत्पन्न अपरिचित पिताके प्रति विश्वासका असर अनायास ही उसके दिलसे कुछ-कुछ हटने लगा। मालूम होता है अब और समयतक उसे रक्षित रखना सुशीलकी शक्तिसे बाहर है।

बार-बार बुलानेपर भी जब मनोरमा वृद्धाके पास न आयी और नम्रता-पूर्वक क्षमा ही माँगती रही, तब एक दिन वह स्वयं दाईके साथ गोदौलिया जाकर मनोरमासे मिल आयी। घर वापस आकर सुशीलके साथ छतपर बैठी हुई थी। सरदऋतुकी पूर्णिमाका दिन था। चन्द्रमा अपने पूर्ण प्रकाशसे आकाशको सुशोभित कर रहा था। काशीपुरी, मन्दिरोंके कलशकी चमकसे इन्द्रपुरीकी समानता कर रही थी। इधर वर्षा-वारि-परिपूरितांगी भगवती जाह्नवीकी प्रशस्त सलिल-रेखा नेत्रोंको तृप्त कर रही थी।

कुछ चर्चा चलनेपर सुशीलने वृद्धासे पूछा—"अच्छा आजी ! क्या बाबूजीने सचमुच हमलोगोंको त्याग दिया है ?" और यह कहता हुआ बड़े दुलारसे आजीका कण्ठ पकड़कर उत्तर पानेकी आशासे उसकी ओर ताकने लगा।

बालककी इस आर्त्त-भरी बातसे वृद्धा शोकाकुल हो गिरते-गिरते

बची। थोड़ी देरके बाद उसे मालूम हुआ कि सुशील अत्यन्त भयभीत होकर रुद्ध साँससे पुकार रहा है, "आजी ! ओ आजी !! आजी !!!"

"मेरे प्राण ! मेरे लाल !!" कहते-कहते एक अबोध लड़कीकी तरह जोरसे चिग्घाड़ मारकर रोती हुई वृद्धा छतपर गिर पड़ी। बाद पागलकी भाँति अपना सिर पीटती हुई मामाकी याद करके कहने लगी—"हायरे, तेरी ही तरह यदि मैं भी चली जाती !—हे विश्वनाथ ! इस बातका जवाब देनेके पहले क्या तुम मुझे अपने यहाँ स्थान नहीं दे सकते नाथ !"

सुशील आश्चर्यमें पड़कर हक्का-बक्कासा हो गया। किन्तु फिर भी वह अपने प्रश्नका स्पष्ट उत्तर पानेकी प्रतीक्षा करता ही रहा, यद्यपि वृद्धाकी इस दशासे वह 'हाँ' उत्तर पा चुका था।

२८

राजेन्द्र महाशयका एक मकान विश्वनाथ-मन्दिरके पास था। पहले जिस मकानमें वह रहते थे, उसकी मरम्मत करना जरूरी था, इसलिए इस बार बाहरसे घूमकर आनेके बाद वह स्त्री-सहित इसी मकानमें ठहरे थे। इस मकानके ठीक सामनेवाले मकानके नीचेकी बैठकमें बहुत-से लोग जमा हुआ करते थे। पहले मालूम हुआ कि यहाँ किसी वकीलकी बैठक है; पर दो बजेके वक्तमें भी भीड़ देखकर मालूम हुआ कि वकीलकी बैठक नहीं है, क्योंकि कोर्टके समय भी भीड़ है; अतः निश्चय हुआ कि किसी डाक्टर या वैद्यका औषधालय है। अन्तमें चन्द्रकलाको मालूम हुआ कि यहाँ कोई ज्योतिषी रहते हैं।

दस-बारह दिन बीतनेके बाद एक दिन खबर मिली कि ज्योतिषी महाशय स्वयं ज्योतिष-शास्त्रके कोई अच्छे जानकार नहीं हैं, वह जिस शास्त्रकी चर्चा करते हैं, उसका नाम भृगुसंहिता है। प्राचीन कालमें किसी

समय भृगु ऋषिने धारावाहिक रूपसे ज्योतिष एवं दिव्य-दृष्टिकी त्रिकाल-ज्ञतासे कुंडलीफल कथन किया था। अब वह सम्पूर्ण ग्रंथ पाया नहीं जाता। भारतके अन्यान्य ग्रंथ-रत्नोंके साथ ही कुछ तो मुसलमानी शासनके प्रभावसे और कुछ अंग्रेजी राज्यकी कुटिलतासे यह भृगुसंहिता ग्रंथ भी लुप्त हो गया होता; किन्तु बौद्ध-युगमें हिन्दू-धर्म शास्त्रोंको जीवित रखनेके लिए कुछ लोगोंने पूर्ण प्रयत्न किया था। उसी प्रयत्नके फलस्वरूप यह ग्रंथ भी लुप्त होते-होते बच गया। इधर आकर जब भारतीय साहित्यपर दूसरा संकट पड़ा, तब इस भृगुसंहिताका उद्धार नेपाल-राज्यसे हुआ। थोड़े ही दिनोंकी बात है, सन् १८५७ के स्वातंत्र्य-संग्रामके समय भारतका एक ब्राह्मण अत्याचारोंके भयसे देश छोड़कर भाग गया था; भृगुसंहिता उसी ब्राह्मणकी सम्पत्ति थी। ग्रंथोंकी रक्षा करनेके लिए उस समय और भी बहुत-से ब्राह्मण इसी तरह भाग गये थे। भागनेके समय उक्त ग्रंथका कुछ अंश खो गया था, पर बाकी हिस्सेको वह ब्राह्मण अपने पुत्र और दामादको बराबर-बराबर भागोंमें बाँट गया। दामादके हिस्सेमें सुना जाता है कि चार लाख कुंडलियोंका फल मिला। वही यह ग्रंथ है। अपने घरसे बनी हुई जन्म-पत्रिकाका राशि-चक्र उतारकर ले जानेसे यह ज्योतिषी उस ग्रंथमें लग्न-चक्रसे मिलाकर फल कहते हैं। वह राशि-चक्र ज्योंका-त्यों इस ग्रंथमें मिल जाता है। इस ग्रंथमें जीवनके पहलेकी बातें बहुत ही संक्षेपमें वर्णित हैं। विशेष-विशेष घटनाओंका परिचयमात्र ही इसमें दिया हुआ है। वर्तमान और भविष्यकी बातें प्रकट करनेपर ही इस ग्रंथका विशेष ध्यान है। मानव-जीवनके घात-प्रतिघात, भाग्य-अभाग्यका वर्णन, तथा किस ग्रहके किस स्थानपर रहनेका क्या फल है, किस दुःखका कौन-सा-यत्न है, आदि बातें शरणागतोंके लिए दोनों महर्षियों—भृगु और शुक्रने परस्पर कथोपकथन रूपमें बतला दी हैं। अन्तमें कौन मनुष्य किस गतिको प्राप्त होता है, इसका भी आभास इस ग्रन्थमें पाया जाता है। एक बात और है कि भृगुने जन्मान्तरका महापापी कहकर जिन पापोंका उल्लेख किया है, अधिकांश स्थलोंपर उन्हीं पापोंका आभास इस जन्ममें भी पाया जाता है।

चन्द्रकला घूमने-फिरनेवाले बहुत-से ज्योतिषियों तथा हस्त-रेखा परीक्षकोंसे बहुत-सा धन खर्च करके फल पूछ चुकी थी; पर ठीक फल किसीका भी नहीं उतरा था। एक बार एक मद्र ज्योतिषीजीके चंगुलमें फँसकर वह दो हजार रुपये साफ कर चुकी थी। ज्योतिषीजीने सोनेकी मूर्ति बनवाकर न-जानें क्या-क्या फालतू मंत्र-तंत्रका ढकोसला कर दिखाया था। किन्तु फल? कुछ भी नहीं। इससे अब वह किसी भी ज्योतिषी, तांत्रिक, हस्त-रेखा-परीक्षक या रमलवालोंपर विश्वास नहीं करती। किन्तु अबकी बार यह नयी बात सुनकर बड़ी प्रसन्नतासे चन्द्रकलाने माँको पत्र लिखकर अपनी कुण्डली मँगवायी। स्वामीसे भी इसके लिए बार-बार अनुरोध करने लगी। राजेन्द्रने बिलकुल इनकार किया; स्त्रीके अधिक हठ करनेपर कहा—"क्यों तुम व्यर्थ ही इस झगड़ेमें पड़ रही हो! कहना-सुनना सब व्यर्थ है। पहले ठीक होना ही कठिन है और यदि ठीक भी होगा तो सुनकर नाहक ही दुःख बढ़ेगा। कुछ लाभ न होगा। कदाचित् ठीक न हुआ तो शास्त्रके ऊपरसे श्रद्धा हट जायगी। इससे अच्छा तो यही है कि ऐसे रास्तेपर जाना ही ठीक नहीं। जरूरत ही क्या है, बोलो न?"

चन्द्रकलाने कहा—"मेरी श्रद्धा हट जायगी तो उससे शास्त्रपर क्या धब्बा लग जायगा? तुम लिख दो।"

राजेन्द्र—"क्या लिखूँ? मेरी तो समझमें ही नहीं आता।"

चन्द्रकलाने अप्रसन्नता-सूचक भृकुटी करके कहा—"मैं और क्या कहूँगी?"

राजेन्द्रने कहा—"भृगु ऋषि कोई राजेन्द्र त्रिपाठी नहीं हैं। उन्हें कोई श्रीमती चन्द्रकलाका भय थोड़े ही है। जो उनके दिलमें आया होगा, कहे होंगे। यह तो है नहीं कि जो कुछ तुम पूछना चाहोगी, उसका उत्तर उनके ग्रंथमें मिलेगा ही! यदि नहीं मिलेगा, तो उससे लाभ?"

चन्द्रकलाने मुँह फुलाकर कहा—"जो कुछ कहनेकी खास-खास बातें

हैं, वे तो जरूर ही लिखी होंगी। अगर सुनकर सहन करनेकी शक्ति मुझमें न होगी, तो मैं पूछने ही क्यों जाऊँगी ! संसारमें मुँह देखकर बातें कहनेवालोंकी कमी तो है नहीं ! मैं तो सच्ची बात ही सुनना चाहती हूँ, लाई-चुपड़ी बातें तो बहुत सुन चुकी।"

राजेन्द्रने हँसकर कहा—"तो तुम्हीं सच्ची बात सुन आओ। मैं बहुत-सी सच्ची बातें सुन चुका हूँ।"

कुण्डलीका फल उतरकर आ गया। उसमें जो कुछ लिखा था, उसका सार यह था—"उच्च कुलोद्भव द्विज-कन्या, पिता धनी, स्वामी महाधनी। पिता मृत, माता और दो भाई उपस्थित। सास और ससुर मृत। पुत्र-हीना। स्वामी विद्वान्, सच्चरित्र; यह कन्या एकाकी पति-प्रिया नहीं। स्वामीका पुत्र विद्यमान। जन्मान्तरके महापापसे पुत्रका मुँह देखनेसे वंचिता। प्रतिकार ? है; किन्तु प्रायः अप्रतिविधेय।"

चन्द्रकलाने अपने जीवनके इस लिखित रहस्यका बार-बार पाठ किया। उसने जब-जब पढ़ा, तब-तब उसका हृदय लज्जा और भयसे संकुचित हो उठा। अभिमान और उष्णता मनमें नहीं उत्पन्न हुई, सो बात निश्चय रूपसे नहीं कही जा सकती। एकाकी अर्थात् अकेली पति-प्रिया नहीं। यह बात तो चन्द्रकला विवाहके समयसे ही जानती थी। उन्होंने नयी बात और कौन-सी बतलायी ? मनोरमा सुन्दरीको उसके स्वामीने अपना हृदय दे दिया है। इतने दिनोंमें भी हतभागिनी चन्द्रकला स्वामीके हृदयमें स्थान नहीं पा सकी। सहन करनेका सत्साहस दिखलानेके लिए भी तो चन्द्रकला बाध्य है न !' वह यही कहकर अपनेको समझाने लगी कि जब इतने दिनोंके बाद भी उन्होंने अपनी प्रियतमाका मानसिक पूजन करना नहीं छोड़ा, तो क्या मेरे रोने और रूठनेसे छोड़ देंगे ? इसके बाद कौतूहलसे यह बात सोचने लगी—"अच्छा, सचमुच यदि उन्हें नहीं भूले और उनको प्यार करते हैं, तो इतने दिनोंसे उनसे अलग कैसे हैं ? उनसे कोई सम्पर्क क्यों नहीं रखते ? जिसको प्यार करेंगे, उसीको इस तरह दुःख-सागरमें डुबावेंगे ? यह कैसा प्यार भगवान् ! विधाताने जो

मुझे 'पति-प्रिया' न करके अप्रिया किया है, सो बहुत ही अच्छा किया। ईश्वर ऐसी पति-प्रियता किसीके भाग्यमें न लिखें, वही अच्छी !"

२१

भृगुसंहिताका फल आनेसे उत्कट अभिलाषा पूर्ण हुई। बार-बार उसे पढ़नेपर चन्द्रकला आश्चर्यमें पड़ गयी। न-जानें कितने दिनोंकी लिखी हुई इस पुरानी पोथीके पन्नोंमें यह जो मानव-जीवनका फलाफल है, इसे किस अज्ञात लेखकने लिखा है? चन्द्रकलाका जीवन-वृत्तान्त उस लेखकको कैसे मालूम हो गया था ? यह क्या वास्तवमें ज्योतिष-गणनाका प्रभाव है अथवा त्रिकालज्ञताके कारण ज्ञान-चक्षुओंमें उद्भासित भूत, वर्त्तमान और भविष्यका वर्णन है ?

चन्द्रकलाके दिलमें तरह-तरहकी शंकाएँ उत्पन्न होने लगीं। इतिहास-के किस पन्नेमें उसे स्थान मिला है ? उसका पहले किसी राज-घरानेमें जन्म हुआ था या साधारण घरमें ? गत जीवनमें उसका किस प्रदेशमें जन्म हुआ था ! पहले जन्ममें भी वह सनातन धर्मावलम्बिनी थी, या और कुछ ! हिन्दू थी या मुसलमान, जैनी, सिख, पारसी अथवा कृस्तान, क्या थी ! इसके अलावा वह यह भी सोचने लगी कि— अच्छा उस जन्ममें सौत मनोरमाने मुझे स्वामीसे अलग कर दिया था, इसीसे इस जन्ममें मैं भी उनके कियेका मजा चखा रही हूँ। उस जन्ममें क्या पति-प्रिया मैं थी ? नहीं, यदि मैं होती तो क्या इस जन्ममें न रहती ! जो जिसका प्रिय होता है, वह तो उसका अगले जन्ममें भी प्रिय ही रहता है। किन्तु मैं तो प्रिय नहीं हूँ। तो क्या उस जन्ममें भी वही प्रिय थीं !

"ओफ् ! जन्म-जन्मान्तरसे यही सौतका दुःख ! क्या अगले जन्म-

में भी यही दुःख भोगना पड़ेगा ? बल्कि मुझे भगवान् मनुष्यका तन न दें, वही अच्छा। भृगु ऋषि सारी बातें क्यों नहीं लिख गये ? क्या वह भी यत्न नहीं बतला सकते थे ? क्या वह भी मुझे तरसाना चाहते थे ? यदि उनके दर्शन मिलते, तो मैं जरूर पूछती।"

३०

सुशील अपनी माँके साथ घर लौट आया। इस यात्रामें उसे अपनी नानी सुभद्रासे भी हाथ धोना पड़ा ! अचानक दो दिनकी बीमारीमें ही सुभद्राका काशीमें स्वर्गवास हो गया। मनोरमाके दुःखकी तो कोई सीमा ही न रही। संसारमें निःस्वार्थ प्रेम केवल माताका ही होता है, यह बात मनोरमा-जैसी विदुषीसे छिपी नहीं थी। संसारमें भाई, बहन, साथी और भी जितने लोग हैं, सबका स्नेह स्वार्थसे सना हुआ होता है—यहाँ-तक कि पिता भी अपनी निकम्मी सन्तानको घृणाकी दृष्टिसे देखने लग जाता है; किन्तु माँ निकम्मीसे-निकम्मी सन्तानको भी बिना खिलाये आप नहीं खा सकती। माँकी तरह दूसरेका प्रेम हो ही कैसे सकता है ? वह नौ महीनेतक अपने पेटमें पालती है। माताके स्वर्गवाससे सचमुच ही आज मनोरमा संसारमें अनाथ हो गयी ! अब उसपर शासन करनेवाला और नाराज होनेवाला संसारमें कोई न रहा ! भला इससे बढ़कर दुःख उसके लिए और क्या हो सकता था ? पर मानव-स्वभाव बड़ा ही कठिन होता है। धीरे-धीरे उसमें परिवर्त्तन होता ही रहता है। विपत्तिकी मारी मनोरमा बच्चेको लेकर मिर्जापुर आयी और माँका कृत्य-कर्म करनेका सलूक करने लगी। सुशीलने ही दग्ध-संस्कार किया था। बीसों तरहका बाजारसे सौदा वगैरह लाना था ! मनोरमा बिचारी कहाँ जाती ? जगनसे ही किसी तरह काम लेती थी।

इसी विपत्तिपर एक विपत्ति मनोरमापर और आ टूटी। तेरहीके दो दिन पहले घरमें चोरी हो गयी। थाली, लोटातक न बचा। हाय भगवान! दुखियोंके ऊपर क्या दुःखका पहाड़ ढहाना ही तुम्हारी सृष्टिका नियम है? इधर कुटुम्बी भी मनोरमाका सर्वनाश करनेपर उतारू हुए थे। वे ताक लगाये थे कि किसी तरह इसके बापकी जमीन अधिकारमें आ जाय। इसीसे लोग मनोरमाके ससुरकी बातें लेकर सुशीलको जारज (दोगला) ठहरानेका प्रयत्न कर रहे थे। दुःखने मनोरमाके हृदयको चारों तरफसे घेर लिया।

सुबहका वक्त था। सुशील बाहरके चबूतरेपर नीमके वृक्षकी छायामें बैठा हुआ हाथमें हिस्ट्रीकी पुस्तक लेकर पढ़ रहा था। अचानक उसपर चिन्ताकी चढ़ाई हुई। उसने हाथकी पुस्तक खुली हुई ही बगलमें रख दी और ध्यानसे नीमके वृक्षकी ओर देखने लगा। वह न-जानें किस गहरी चिन्तामें था कि उसका मुँह बिलकुल सूख गया था। मनोरमाने दरवाजेपर आकर देखा कि सुशील इंगलैंडका इतिहास खोलकर उदास बैठा है। आवाज दी—"सुशील!"

सुशीलने चौंककर फिर पुस्तक उठा ली। हाथमें पेंसिल और कागज लिये एक बार माँकी ओर देखकर हँस पड़ा। इस हँसीमें कुछ दूसरा ही भाव था। जो हँसी शुक्र-ताराकी भाँति उज्ज्वल और चन्द्रमाकी भाँति निर्मल रहती थी; जिस हँसीसे मनोरमाके हृदयमें आनन्दकी लहर लहरा उठती थी, आज उसी हँसीसे मनोरमा व्याकुल हो उठी।

बालकके पास बैठकर पूछा—"बनारसका कोई पत्र आया है क्या?"

सुशीलने सिर हिलाकर यह सूचित किया कि नहीं आया। मनोरमाने फिर उत्कंठासे पूछा—"क्या माँकी याद आ गयी है? या आजीकी चिन्तामें बैठा हुआ था?"

सुशीलने कुछ भी उत्तर नहीं दिया और पुस्तकको मुँहके सामने कर लिया। मुँह न दिखलानेपर भी मनोरमाको उसकी मुखाकृति मालूम हो गयी। बालककी आँखोंसे आँसूकी बूँदें भी टपक रही थीं। उस समय

मनोरमाके दिलमें तरह-तरहके विचार पैदा होने लगे। क्या चोरी होनेकी वजहसे तो बालक नहीं रो रहा है? पर यह तो पक्का अध्यात्मवादी है। यह तो स्वयं ही कहता है—'माँ रुपया-पैसा हाथका मैल है।' कल चोरी होनेके बाद इसने जरा भी चिन्ता नहीं की, फिर आज ऐसा क्यों? सम्भव है कल माँको धीरज देनेके लिए इसने वैसी बातें कही हों! पर इसके मुँहपर तो जरूर उदासी दिखाई पड़ती! भीतरी भावको क्या कोई छिपा सकता है? कहीं माँके लिए ही तो दुःखी नहीं हुआ? फिर मुझसे छिपानेकी क्या जरूरत? पर इसका स्नेह तो खासकर आजीपर अधिक है। उन्हींकी रोज चर्चा भी करता है। व्यस्त भावसे मनोरमाने कहा—"अब वह अच्छी हो गयी होंगी बेटे, रोनेकी क्या जरूरत? उनके पत्रका उत्तर तो दे दिया है न?"

सुशील दूसरी तरफ मुँह करके थोड़ी देरतक चुप रहा। पश्चात् सिर हिलाकर कहा—"नहीं।"

"यह क्या, आजीके पत्रका जवाब तुमने अभीतक नहीं दिया? मालूम होता है भूल गये, क्यों—? अच्छा, तो कल यादकर उन्हें चिट्ठी जरूर लिख देना, भला?"

सुशीलसे कोई भी उत्तर न मिलनेपर मनोरमा और भी अधिक आश्चर्यमें पड़ गयी। विस्मित आँखोंसे देखा तो मालूम हुआ कि सुशील नीचेके ओटको दाँतों-तले दबाकर निश्चल दृष्टिसे बाहरकी ओर देख रहा है। उसके सिरपर धूप भी आ गयी है।

बालककी इस शोकावस्थाको देखकर मनोरमा घबड़ा गयी। उसने अपने आँचलसे बालकके सिरपर छाँह करके अप्रसन्न स्वरमें कहा—"इतनी देरसे तू आकाशकी ओर क्यों ताक रहा है! तुझे क्या हुआ है? अभी तो मैं तैयार हूँ न, तू क्यों इतनी चिन्ता कर रहा है?"

जिस तरह बादलोंमें हवाका धक्का लगते ही वृष्टि होने लगती है, उसी तरह माँकी बातोंसे सुशीलकी आँखें बिना शब्द किये जल गिराने लगीं। आँसू छिपानेके लिए सुशील पुस्तकसे आड़ करनेकी चेष्टा करने

लगा; किन्तु नोट किये कागजके टुकड़ेपर मोतीकी-सी आँसूकी बूँदें टप-टप टपक पड़ीं। मनोरमाके हृदयमें इन बूँदोंकी आवाजसे गहरा धक्का लगा। आवाज निकली—

"सुशील ! सुशील !! इसी उम्रमें तू मुझे दूसरी समझने लग गया ? मुझसे भी मनकी बातें छिपाने लग गया ?"

अबकी बार सुशीलने माँके दुःखके सामने अपना दुःख भूलकर जी-जानसे बोलनेकी चेष्टा की। किन्तु—

मनोरमा आँसू पोंछती हुई सदाकी भाँति सुशीलको गोदमें बिठाकर चूमने लगी। बोली—"सुशील ! लाल मेरे ! चुप रहो ! अरे मोर लल्ला रे ! अब मैं नहीं सह सकती मुन्ने !"

माँकी गोदमें थोड़ी देरतक सिसककर अन्तमें सुशील चुप तो हुआ अवश्य, किन्तु भीतरी बातोंको प्रकट करनेके लिए उसके गलेने रास्ता नहीं दिया।

मनोरमाने कहा—"आजीके लिए ही क्या बेटे ?"

थोड़ी देरतक चुप रहनेके बाद सुशीलने साहस करके हिचककर कहा,—"ना।"

मनो०—"तो क्या बनारस जानेकी इच्छा हो रही है ? उन्होंने गर्मी-की छुट्टीमें बुलाया है न ?"

सुशील सोनेमें भूतका स्वप्न देखनेवाले बालककी भाँति डरकर माँके गलेसे चिपक गया। भय-युक्त होकर उसने उसी स्वरमें कहा—"नहीं माँ, नहीं ! मैं अब उनके पास नहीं जाऊँगा।"

"क्यों ?" मनोरमाकी ध्वनिसे विस्मयान्वित उत्कण्ठा जाहिर हुई—"अब फिर वहाँ क्यों नहीं जाओगे ?"

उत्तर देनेके पहले सुशील द्विधामें पड़ा। बाद संकोच छोड़कर दुखी भावसे बोला—"आजी तो मेरा बहुत प्यार करती हैं, किन्तु व—अ—वह तो बाबूजीका ही मकान है !" बालकके कहनेके ढंगमें स्वाभिमान भरा मालूम हुआ। उसके ओट हिलने लगे। सूर्य-रश्मि-विभासित अपराह्ण-

वेलाके पश्चिमी आकाशकी भाँति समुज्ज्वल मुँह लालिमाकी आगसे जलने लगा।

थोड़ी देरतक जड़वत् रहनेके बाद मनोरमाने पूछा—"उनका मकान होनेसे क्या हुआ ?"

"जब बाबूजीने हमलोगोंका त्याग कर दिया है, तब उनके मकानमें मैं क्यों जाऊँगा ?" कहते-कहते मुँह फेरकर सुशील शीघ्रतासे उठ गया; किन्तु मनोरमाने उसका हाथ पकड़ लिया। पश्चात् इस आकस्मिक आघातकी विस्मय-विह्वलता और क्लेशको क्षणभरमें ही दूर करके मनोरमाने सहज और गम्भीर आवाजमें कहा—"सुशील ! ऐसा न कह बेटे ! उन्होंने हमलोगोंका त्याग कदापि नहीं किया है। सिर्फ अपने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिए उन्होंने दूर रख छोड़ा है। तू मेरी बातका विश्वास रख बेटे ! मैं ईश्वरको साक्षी देकर कहती हूँ कि यह बात मैं तुझसे सच कहती हूँ !" इसके बाद माँने सारी बातें कह दीं।

माँकी सच्ची बातोंसे धीरे-धीरे थोड़ी ही देरमें सुशीलका हृदय स्निग्ध हो गया। विद्रोही अन्तःकरण अपने अपराधके गुरुत्वका अनुभव करके संकुचित हो उठा। जिस दिन माँकी इस बातपर अविश्वास होगा, उस दिन निश्चय ही सुशीलका अस्तित्व इस पृथ्वी-तलसे उठ जायगा। यद्यपि सुशीलने यह बात कभी प्रकट नहीं की, तथापि यह सुशीलके हृदयमें थी, यह बात दृढ़ता-पूर्वक कही जा सकती है।

मनोरमाने अपना सारा इतिहास सुशीलको सुनाकर अन्तमें यह भी कह दिया कि—"लोगोंकी बातें सुनकर तुम अपने मनको खराब न होने दो। मेरी इस बातका तुम हमेशा ध्यान रखना। मैंने जितनी बातें तुमसे कही हैं, उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। और लोग चाहे जो कहें, पर तुम जिसके लड़के हो, उसके प्रति अपना भाव जरा भी बुरा न होने दो। पिताके प्रति दुर्भाव रखना महान् पाप है। उन्होंने पिताकी आज्ञासे जो कुछ सहन किया है और कर रहे हैं, उसे सुशील, तू अभी बच्चा है बेटा, नहीं समझ सकेगा। किन्तु मैं तुझे यह आशीर्वाद देती

हूँ, ईश्वर तुझे सकुशल रखें; बड़ा होनेपर तू इसे अच्छी तरह समझ जायगा कि यह उनका कितना भीषण त्याग है।"

माँकी इस बातसे सुशीलके हृदयकी अभिमान-कालिमा एकदम साफ हो गयी; हृदय प्रफुल्लित हो उठा।

इतनेमें एक मुसलमान फकीर जो प्रति दिन आया करता था, अपना वही रोजका बँधा हुआ गाना, "अल्लाके नामका चावल, मोहम्मदके नामका पैसा, खुदाके नामकी रोटी—दिला दोगे, भला होगा"—गाता हुआ दरवाजेपर आ गया। मनोरमा धीरेसे उठकर घरमें चली गयी। बालक सुशीलने प्रसन्नताके साथ उसे एक चवन्नी दे दी। फकीर, आशीर्वाद देता हुआ चला गया।

३१

चन्द्रकलाका दिल अब हमेशा चिन्ताकी ज्वालासे धधकने लगा। जब-जब वह भृगु ऋषिकी बातें पढ़ती थी, तब-तब मूर्च्छित हो जाती थी, उसके रोम-रोममें मानो विष भीन जाता था। पहले वह दिन भरमें बीसों बार स्वामीसे एक-न-एक फरियाद किया करती थी—किन्तु अब वह भी नहीं करती।

एक दिन वह अपने घरमें इस तरह उदास होकर पड़ी कि राजेन्द्र भी उसकी निर्लिप्तता जान गये। मकानके नीचेके कमरेमें अपने इष्ट-मित्रोंको लेकर राजेन्द्र चौपड़ खेलते थे अथवा समाचार-पत्र या पुस्तक लेकर निमग्न रहते थे। ग्रन्थ और समाचार-पत्र ही उनकी जीवन-यात्राके प्रधान मित्र थे। उन्हींके साथ वह आमोद-प्रमोद, सुख-दुःख, तर्क-वितर्क किया करते थे। मानवधर्मानुसार बीच-बीचमें उनके हृदयमें दूसरी तरंग भी उत्पन्न हो जाया करती। उस तरंगको रोकनेकी शक्ति

उस समय न तो किसी स्वदेशी महापण्डितकी रचनाओंमें रहती थी और न विदेशी तर्कधारी आचार्योंकी रचनाओंमें ही।

आज राजेन्द्र पुस्तक रखकर भामाके पुराने पत्रपर विचार कर रहे थे। हृदयमें सुखका प्रकाश भी हो जाता था; किन्तु भामाका विच्छेद उस प्रकाशको थोड़ी देर भी टिकने नहीं देता था। एक-एक करके भामाकी बहुत-सी बातें याद आने लगीं। बीच-बीचमें सावित्रीकी बातें भी स्मरण हो आती थीं। एक दिनकी बात है—चन्द्रकलाके साथ ब्याह हुए साल भरसे ऊपर हो गया था और तीसरी बार परीक्षामें फेल होनेके कारण राजेन्द्र जिस समय पिताकी आज्ञासे पढ़ना छोड़कर घर रहने लगे थे, राजेन्द्रको सुनाकर भामाने सावित्रीसे कहा कि "उसे छोड़कर राजो इस बहूको अपने सिरपर चढ़ाये हुए हैं। अधर्मका जरा भी भय नहीं तब तो फेल होनेसे उसका दोष था, किन्तु अब तो वह नहीं है; फिर क्यों फेल हो गये ? क्या इस पक्षपातको ईश्वर नहीं समझेंगे ?" इतनी बात कहकर भामा चली गयी। उस समय राजेन्द्रने हँसकर सावित्रीसे कहा था,—"क्यों भाभी, तो क्या भामाकी राय है कि जैसी उसकी दुर्दशा हो रही है, वैसी इसकी भी होनी चाहिये ? क्या एक बार भूल हो जानेके बाद मनुष्य हमेशा वही भूल करता रहे ?" इसके उत्तरमें सावित्रीने कहा था—"नहीं बबुआ ! उनका यह कहना नहीं है कि तुम पहली बहूकी तरह इस बहूको भी छोड़ दो। उनका कहना तो यह है कि इस बहूपर अगर तुम्हारी इतनी कृपा है, तो उसके प्रति भी तुम्हारा कुछ कर्त्तव्य है।" राजेन्द्रने कहा—"इसका त्याग कर देनेसे क्या उसका दुःख कुछ भी कम हो सकता है ?" सावित्रीने कहा—"सो तो नहीं हो सकता; पर—" बात काटकर राजेन्द्रने कहा था—"तो फिर व्यर्थ ही ऐसा करनेसे क्या लाभ ? इधर पिताकी आज्ञाका उल्लंघन भी करूँ और उधर कोई लाभ भी न हो।" सावित्रीने कहा—"देखो बबुआ, तुमने वहूके साथ ब्याह किया है। वैदिक रीतिके अनुसार स्त्रीकी रक्षा करनेकी प्रतिज्ञा भी स्वामीको ही करनी पड़ती है। फिर उस की हुई प्रतिज्ञा

को तोड़ना क्या साधारण अपराध है ? इसमें पिताकी आज्ञा कैसी ?"

इतना कहकर सावित्रीने गिड़गिड़ाकर कहा था—"मैं तुम्हारे पैरों गिरता हूँ, बहूको साथ रखना तुम्हारा धर्म है। बहुईको कितना दुःख है, यह तुम नहीं जानते। पिताकी ऐसी अनुचित आज्ञा माननेमें धर्मकी रक्षा कभी नहीं हो सकती।" यही कहकर सावित्री रोती हुई घरमें चली गयी थी। यह बात भी आज राजेन्द्रको स्मरण हो आयी थी।

बत्तीका प्रकाश रहते हुए भी राजेन्द्रको इसी उम्रमें आज अँधेरा दिखाई पड़ने लगा। धीरे-धीरे चिन्ता बहुत गहरी हो गयी। दिल बहलानेके लिए बाहर आये। बूँदें पड़ रही थीं, इसलिए फिर पीछे लौट गये। कमरेमें घुसते ही उनके दिलमें यह बात उत्पन्न हुई कि आज सबेरे-से चन्द्रकला एक बार भी दिखाई नहीं पड़ी। उसे देखनेके लिए राजेन्द्र आजतक कभी व्याकुल नहीं हुए थे। यह भी कहा जा सकता है कि राजेन्द्रको व्याकुल होनेके लिए कभी ऐसा अवसर ही नहीं मिला। अप्राप्य वस्तुकी प्राप्तिसे ही मनुष्य प्रसन्न होता है। किन्तु चन्द्रकला अप्राप्य वस्तु-की तरह प्राप्त नहीं हुई थी।

रोजाना दिनभरमें दस-पन्द्रह बार चन्द्रकला घरमें इधरसे उधर और उधरसे इधर चक्कर लगाया करती थी; पर आज एक बार भी न दिखाई पड़ी। क्या कारण है ? राजेन्द्रने एक बार उसे देखना आवश्यक समझा।

चन्द्रकला कमरेमें चुपचाप सोयी हुई थी। राजेन्द्र घरमें घुसते ही उसे देखकर स्नेहपूर्वक हँस पड़े। हँसनेके बाद भी उन्होंने देखा कि चन्द्रकलाके भावमें कुछ परिवर्तन नहीं हुआ। सोचा, सोयी तो नहीं है ? नहीं, सोनेमें ओठ न हिलते। राजेन्द्रने आगे बढ़कर पुकारा—"इस समय सो रही हो क्या ?"

चन्द्रकलाने कहा—"मेरे लिए समय-असमय कैसा ?"

राजेन्द्र—"कुछ तकलीफ तो नहीं है ?"

चन्द्र०—"मैं बाँझ तो हूँ ही, अब और मुझे तकलीफ ही किस बातकी होगी ?"

राजेन्द्र—"तो फिर बे-वक्त कैसे सो रही हो !"

शान्त भावसे चन्द्रकलाने कहा—"क्या करूँ !"

राजेन्द्र एक कुर्सी खींचकर बैठ गये। ठण्ढी साँस लेकर कहने लगे—"कामकी भी कमी है ! जो पंखेपर बेल-बूटा काढ़ रही थीं, वह क्या खतम हो गया ! लोकमान्य तिलकका गीता-रहस्य भी तो तुम पढ़नेके लिए कह रही थीं !"

चन्द्र०—"क्या होगा वह सब करके !"

राजेन्द्र—"क्यों, क्या होगा, क्या ! इलाहाबादका नया मकान सजाना नहीं होगा ! आखिर वहाँके लिए पंखा भी तो चाहिये। पढ़ना भी क्या कभी निरर्थक होता है ? क्या बनारसके बैरागियोंकी हवा तो तुम्हें नहीं लग गयी !"

चन्द्रकलाने ऊँची साँस लेकर कहा—"मर जानेके बाद जिसके पीछे कोई है ही नहीं, वह और क्या"—आगे मुँहसे बात न निकली। अवश्य स्वामीको अपना समझकर वह अपने दुःखका कुछ अंश स्वामीको भी देती; पर स्वामी भी तो सिर्फ उसके नहीं ! जान पड़ता है, इसीसे वह मूक हो गयी। उसके इस विशेष दुःखमें उन्हें क्यों दुःख होता ? वह तो पुत्र-वाले हैं। चन्द्रकलाके इस दुःखको भला वह क्योंकर समझते ? सम्भवतः वह चन्द्रकलाके इस दुःखको देखकर मन-ही-मन हँसेंगे। यही समझकर उसके हृदयकी आग और भी तेज हो उठी।

किन्तु राजेन्द्रके हृदयमें इस बातका विचार बिलकुल ही नहीं था। वह कभी चन्द्रकलाके दुःखमें प्रसन्न नहीं हो सकते थे। स्वाभाविक रूपमें उन्होंने कहा—"तुमने भृगुसंहिताका फल मुझे नहीं दिखलाया !"—उत्तर न पानेपर फिर राजेन्द्रने हँसकर कहा—"नहीं दिखलाओगी, तो जाने दो, मैंने सब सुन लिया। पिछले जन्ममें तुम रानी थीं और मैं राजा था—अच्छा ठीक है न ? मैं राजा था या नहीं, कौन जाने; पर तुम तो रानी थीं—इसमें मुझे भी सन्देह नहीं है। रानी थीं—साक्षात् महारानी—!"

वर्षाकालके मेघकी तरह व्यथाभारसे आतुर चित्तको चीरकर विद्युत-छटाकी भाँति लज्जाकी हँसी चन्द्रकलाके मुँहपर आ गयी। सलज्ज और सप्रेम दृष्टि स्वामीके मुँहकी ओर करके क्रोधसे उसने कहा—"ओह, तुम कैसे आदमी हो! तुम तो राजा नहीं थे, पर मैं रानी जरूर थी, यही कहोगे कि और कुछ! तो शायद माँ, दाई या मेहतरानी रही होंगी; क्यों—?"

राजेन्द्र चुप हो गये। ठीक यही बात उन्होंने एक आदमीसे सुनी थी, इसीसे कहनेका साहस किया।

३२

भृगुसंहिताके लेखानुसार यज्ञ-यागादिक उद्योग करनेके लिए चन्द्रकलाने कुछ भी आग्रह नहीं किया। यहाँतक कि उसकी माँने पुरोहितको विन्ध्यवासिनीके मन्दिरमें हवन करानेके लिए बिठा दिया था, किन्तु उस पुरोहितको चन्द्रकलाने यह पत्र लिखा—

"पूज्यवर पुरोहितजी,

मैंने अच्छी तरह सोच-विचारकर स्थिर कर लिया कि विधि-विधानके विरुद्ध लड़ाई न करना ही अच्छा है। इसलिए पूजा-पाठ या और किसी भी कामकी आवश्यकता नहीं। भृगुसंहिताका लिखित फल कपड़ेमें लपेटकर ट्रंकमें सुरक्षित रखा हुआ था। आज ट्रंक खोलते ही वह दिखलाई पड़ा। मैंने मनमें कहा—'इतनी झंझट उठानेकी कोई आवश्यकता नहीं। 'माँ' होनेकी श्लाघा मुझे नहीं है। मैं अभागिनी हूँ। किसीकी दया नहीं चाहती।' इसीसे मैं आपको भी लिख रही हूँ। स्त्रियाँ व्यर्थ ही इसकी लालच करती हैं। यह तो संसारका जाल है। ज्यों-ज्यों मनोवांछित चीजें प्राप्त होती जायँगी, त्यों-त्यों इच्छा बलवती होती

जायगी। संसारमें सुखसे जीवन बितानेके लिए शान्ति और सन्तोषसे बढ़कर कोई वस्तु मुझे नहीं दिखाई पड़ती। —चन्द्रकला।"

यहाँपर एक बातका उल्लेख कर देना आवश्यक है। भामाकी छोटी लड़की जिसे चन्द्रकलाने अपनी पोष्य-पुत्री बना रखा था, उसकी मृत्युके कुछ दिन बाद ही चन्द्रकलाने उससे बड़ी लड़कीको जो तीन वर्ष की थी, अपने पास बुला लिया था। इस लड़की का नाम सरस्वती था। इसे भी वह बहुत प्यार करती थी। इसीके कारण उसे पहली लड़कीकी मृत्युका दुःख बहुत-कुछ भूल गया था।

एक दिन अकस्मात् चन्द्रकलाने आकर कहा—"देखो, जल्दीसे बहनोई साहबके पास एक तार भेज दो। सरस्वतीकी तबीयत बहुत खराब है।"

राजेन्द्रने चौंककर कहा—"क्या हुआ है उसे?"

चन्द्र०—"ज्वर।"

राजेन्द्र—"कै डिग्री है, देखा?"

चन्द्र०—"अभी तो कोई अधिक नहीं है; किन्तु अधिक होते ही क्या देर लगती है?"

राजेन्द्र—"आखिरकार कितना है, सुनें तो सही!"

चन्द्र०—"निन्यानबे प्वाइण्ट है। सर्दी भी खूब है।"

राजेन्द्र—"बस? तो फिर इसके लिए जीजाजीको तार देनेसे क्या फायदा होगा? डाक्टरको बुलानेसे ही तो सारा मामला खतम हो जायगा।"

चन्द्रकलाने हाथ जोड़कर कहा—"रोगको तुम साधारण न समझो। दूसरेकी लड़की है, एकको तो मार ही चुकी हूँ। अन्तमें क्या हो, क्या न हो! तुम उसके बापको खबर दे दो, मैं बहुत डर रही हूँ।"

उस दिन डाक्टरको बुलाकर उनके मुँहसे सामान्य सर्दीका ज्वरमात्र सुनकर राजेन्द्र बाहर चले गये; किन्तु उनका छुटकारा नहीं हुआ। आधी रातके समय चन्द्रकलाने आर्त्त होकर कहा—"इतनी विनती की, पर

तुमने जरा भी ध्यान न दिया। इस समय ज्वर बहुत बढ़ रहा है। मैं क्या करू, कुछ समझमें नहीं आता। हाय भगवान्! एकके मरनेके बाद मैं इसे क्यों लायी! मुझे मौत भी नहीं!"

राजेन्द्र नींदसे उठकर आँखें मलते हुए पूछने लगे—"क्या ज्वर बहुत बढ़ गया? वह अधिक छटपटा रही है?"

चन्द्रकलाने अधीर होकर कहा—"उसे होश हो, तब तो वह छटपटाय। मालूम होता है, ज्वरसे बेहोश हो गयी है। एक बार आकर देखो न।" इसके बाद वह स्वामीको साथ लेकर रोगीके पास आयी। कमरेमें नेवारकी पलँगके ऊपर सरस्वती गहरी नींद ले रही थी। उसकी साँसकी गति भी बिलकुल ही स्वाभाविक थी। दाई भी अपने बिछौनेपर एक तरफ नींदमें चूर थी। केवल चन्द्रकलाकी ही पलँग खाली थी। वह सन्ध्यासे ही बैठकर सरस्वतीके मुँहकी ओर देखती हुई माघ-महीनेकी सर्दी सहन कर रही थी। राजेन्द्रने झुककर भांजीके सिरपर हाथ रखा, नाड़ीकी गति देखी; पश्चात् उठकर स्त्रीकी तरफ देखा। कहा—"तू बड़ी पगली है! कहाँ ज्वर बढ़ा है? मेरे खयालसे तो इस समय ज्वर बिलकुल है ही नहीं। अगर तुम चुपचाप सो जाओ, तो इसके लिए भी अच्छा हो और तुम्हारे लिए भी। व्यर्थ ही जागकर सर्दी सह रही हो। मुझे तो यह भय है कि कहीं तुम भी सबेरे बीमार न पड़ जाओ। जाओ सो जाओ।"

चन्द्र०—"क्या बोलते हो तुम! क्या तुम समझते हो कि मुझे नींद आवेगी?"

राजेन्द्र—"तो शीतमें बैठकर काँपो, मैं तो सोने जाता हूँ।" यह कहकर राजेन्द्र चले गये।

बिछौनेपर लेटे-लेटे फिर एक बार उन्होंने चन्द्रकलाको पुकारकर सोनेके लिए कहा। चन्द्रकलाने स्वामीकी बातपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। दुशाला ओढ़कर बैठी हुई रोगीके मुँहकी ओर ताकने लगी। मन-ही-मन सोचने लगी—सबेरा होते ही सबसे पहले जीजाको तार भेज दूँगी। स्वामीसे कुछ न कहूँगी। हे विश्वनाथ! अबकी बार लड़कीकी रक्षा

करो ! अब मैं कान पकड़कर कहती हूँ कि आजसे फिर कभी किसीका बच्चा इस तरह मारनेके लिए अपने यहाँ न लाऊँगी। जब मेरे शरीरकी हवा लगनेसे ही दूसरेके बच्चे मर जाते हैं, तब मैं ऐसा करूँगी ही क्यों ! जब मेरे भाग्यमें ही ऐसा लिखा है, तब मैंने जान-बूझकर ऐसा क्यों किया ! कुछ समझमें नहीं आता ! इस प्रकार वह रातभर बैठी रह गयी।

फाल्गुनके महीनेमें जीवानन्दका ब्याह था। विवाहके उपलक्ष्यमें निमंत्रण-पत्र भी आ गया था। जब राजेन्द्रने कुछ भी चर्चा न की, तब चन्द्रकलाने स्वयं ही कहा—"सरस्वतीको लेकर तुम जाओ, मैं यहाँ रहूँगी।"

राजेन्द्र—"मैं इस मौकेपर नहीं जा सकूँगा !"

चन्द्र०—"तो फिर सरस्वतीको पहुँचानेके लिए कौन जायगा ?"

राजेन्द्र—"और कोई बन्दोबस्त कर दिया जायगा।"

भानुमतीके ब्याहका काण्ड समझकर चन्द्रकलाने और कुछ भी नहीं कहा। अन्ततः उसे जाना ही पड़ा। सावित्री जिस समय स्वयं बुलानेके लिए आयी तथा भाभी और भामाकी अनुपस्थितिका दुःख सुनाने लगी, उस समय चन्द्रकला 'नहीं' न कर सकी। जानेका बन्दोबस्त करके चन्द्रकला बैठी हुई थी। यह देखकर राजेन्द्रने आकर कहा—"घरका बन्दोबस्त करके जाना, नहीं तो मुझे बड़ी दिक्कत उठानी पड़ेगी। मैं कुछ भी न कर सकूँगा।"

चन्द्रकलाने विस्मित होकर पूछा—"क्या तुम नहीं चलोगे ?"

राजेन्द्रने कहा—"नहीं।"

चन्द्र०—"कारण ?"

राजेन्द्र—"इच्छा नहीं है।"

हँसकर चन्द्रकलाने कहा—"मैं जानती हूँ। उस दफेकी बातका स्मरण करके तुम नहीं जा रहे हो; किन्तु उसीके लिए मुझे इस बार जाना पड़ेगा—नहीं तो ठीक न होगा। बहन न आयी होतीं, तो बात दूसरी

थी। और इनसे तो कुछ हुआ भी नहीं था।"

राजेन्द्रने कहा—"मैं तो तुम्हें जानेके लिए मना करता नहीं, फिर यह सब कहनेकी जरूरत क्या है?"

स्वामीकी इस शान्त उदासीनतामें जो बात थी, वह चन्द्रकलासे छिपी न रही। राजेन्द्रका और कोई आत्मीय, यहाँतक कि गर्भधारिणी माता भी इस रहस्यको जान सकती या नहीं, इसमें सन्देह ही है; किन्तु चन्द्रकला ताड़ गयी। लज्जाके मारे फिर कुछ कहनेका साहस वह न कर सकी। समझ गयी कि और कुछ पूछनेसे जवाब न मिलेगा। ऊपरी भावसे हँसकर चन्द्रकलाने स्वामीको सुनाकर अपने-आप ही इतना जरूर कहा कि "दो दिनकी बात है; सारनाथ, मोगलसरायतक घूम आनेसे ही जी बहल जायगा। तबतक तो मैं आ जाऊँगी। मैं खुद ही अधिक न रुकूँगी।" राजेन्द्र इस बातको सुनकर भी बिना कुछ बोले बाहर चले गये। चन्द्रकलाने एक बार सावित्रीसे भी कहलाना उचित समझा। सावित्रीसे कहा—"बहन और लोगोंसे भी चलनेके लिए कहो न; मैं तो कहकर हार गयी।"

सावित्री इससे पहले ही राजेन्द्रसे कह चुकी थी। दोनोंमें बहुत-सी बातें हुई थीं। राजेन्द्रने कहा था—"मुझे चलनेके लिए आग्रह न करो, भाभी! मैं ऐसी विपत्तिमें हूँ कि कारण भी नहीं बता सकता।" पहले राजेन्द्रकी बातसे सावित्रीने यह समझा कि शायद सुशीलके आनेके कारण यह नहीं चलना चाहते हैं। इसीसे उसने यह बात भी प्रकट कर दी। कहा—मैं मिर्जापुर भी गयी थी। बबुईकी मृत्युसे सुशीलने रोनेके सिवा कुछ उत्तर नहीं दिया। उसने भी कहा—'बहन, तुम्हारी इच्छा हो ले जाओ, पर वहाँ जानेसे इसका दिल और दुःखी होगा। तुम्हें बहुत तकलीफ सहनी पड़ेगी। माँ आती तो सुशील भी आता। पर उसने तो पहले ही आना मंजूर नहीं किया। रोनेके सिवा कुछ उत्तर भी तो नहीं देती।' यह कहते-कहते सावित्रीकी आँखोंसे आँसूकी धारा बहने लगी थी। राजेन्द्र इतनी बात सुनते ही मूर्च्छित-से हो गये थे। वह हृदयका

भाव किसीपर प्रकट नहीं होने देना चाहते थे, इसलिए शीघ्र सँभल गये। फिर भी आँसूसे रूमालको तर किये बिना न रह सके। इसके बाद ही सावित्रीने फिर अनुरोध किया; अबकी राजेन्द्रके इनकार करनेपर उसे कुछ और ही बात मालूम हुई! चन्द्रकलाका स्वभाव सावित्री अच्छी तरह जानती थी। इसीसे उसने फिर राजेन्द्रसे चलनेके लिए नहीं कहा। चन्द्रकलाके कहनेपर सावित्रीने कहा—"मैं भी बहुत-कुछ कह चुकी, उन्होंने चलना स्वीकार नहीं किया।"

जो चन्द्रकला माँके पास जानेपर भी स्वामीको छोड़कर एक रातसे अधिक नहीं रहना चाहती थी, वही चन्द्रकला जब सावित्रीके साथ स्वामीको छोड़कर चली आयी तो निश्चय ही कुछ-न-कुछ कारण अवश्य रहा होगा। मामाके बिछोहसे सावित्रीको दुखी देखकर ही चन्द्रकला नहीं आयी थी, वरन् और भी कुछ खास कारण था। यहाँ पहुँचनेपर चन्द्रकला जहाँ कहीं घरमें लड़कोंका समूह देखती, वहीं किसी-न-किसी बहानेसे जाकर गौरसे अपना भाव छिपाकर देखने लगती थी। किन्तु बार-बार ऐसा करनेपर भी उसकी आँखें तृप्त नहीं हुईं। जिस रूपको वह देखना चाहती थी, न तो वह रूप ही दिखाई पड़ा और न जिस नामको वह कानोंसे सुनना चाहती थी, वह नाम ही उसके कानोंको पवित्र कर सका। दो वर्ष पहले उसने जिस मुँहका दर्शन किया था, उसका दर्शन फिर न मिला। संसारमें चन्द्रकलाको वैसा मुँह आजतक न दिखाई पड़ा। अहा! गौर वर्णका वह छोटा-सा गोल मुँह, वे विशाल आँखें, वह गालोंकी लालिमा क्या सचमुच दिखाई न पड़ेगी? क्या मातृ-स्नेह-पूर्ण वह मधुर स्वर फिर न सुनाई पड़ेगा? यदि यह बात मालूम हो गयी होती कि उसका दर्शन न मिलेगा, तो चन्द्रकला स्वामीको छोड़कर यहाँ आती ही क्यों?

अन्तमें विवश होकर चन्द्रकलाने भानुमतीको बुलाकर पूछा—"क्यों बेटी! क्या मिर्जापुर निमंत्रण नहीं भेजा गया था?"

भानूने कहा—"नहीं चाची, भेजा तो गया था। माँ खुद भी

गयी थीं। सुशील इस साल इंट्रेन्सकी परीक्षा देनेवाला है। इसीसे उसे बड़ी चाची न भेज सकीं। दूसरे, बुआके मरनेसे सुशील बहुत दुखी भी है। बड़ी चाचीने माँसे कहा कि अगर सुशील वहाँ जायगा तो महीनों दुखी रहेगा, उसका पढ़ना चौपट हो जायगा। तुम तो जानती हो कि बड़ी चाची स्वयं आना पसन्द ही नहीं करतीं। माँने बहुत कहा, पर बड़ी चाची नहीं आयीं।"

सुनते ही चन्द्रकला निराशासे व्याकुल हो उठी। सारी आशाओंपर पानी फिर गया। उसका यहाँ आना भी उसे व्यर्थ मालूम हुआ। किन्तु अब और करती ही क्या, अब तो आ चुकी।

विवाहके दूसरे ही दिन बारात बिदा हो जानेपर नौकरके साथ चन्द्रकला अपने घर लौट आयी। इतने शीघ्र लौटनेपर भी राजेन्द्रने तनिक आश्चर्य प्रकट नहीं किया और न चन्द्रकलासे कुछ कहा ही। चन्द्रकलाकी भीतरी बातोंको वह अच्छी तरह जानते थे। यद्यपि सावित्रीने उन्हें आश्वासन दिलाया था कि मिर्जापुरसे कोई नहीं आया, तथापि उन्हें सन्देह था। स्वामीके इस व्यवहारसे चन्द्रकलाको बहुत ही बुरा मालूम हुआ। उसे आशा थी कि इतनी शीघ्रतासे लौटनेपर स्वामी प्रसन्न होंगे। पर प्रसन्नताको कौन कहे, वह तो मुँहसे बोले भी नहीं।

वैशाखके महीनेमें इलाहाबादके नये मकानमें राजेन्द्रने गृहप्रवेश किया। यह मकान राजेन्द्रने बड़े शौकसे बनवाया था। मकानके चारों तरफ रमणीय पुष्प-वाटिका, घेरेके अन्दर ही एक तरफ खूबसूरत छोटा-सा पक्का तालाब, सामने शिवजीका मन्दिर और यज्ञशाला बननेके कारण भवनकी शोभा बहुत बढ़ गयी थी। किन्तु चन्द्रकलाको यहाँ अच्छा नहीं मालूम हुआ। स्वामीने कहा,—"बनारसके मकानमें ही चलकर रहो, मैं यहाँ रहना नहीं चाहती।"

राजेन्द्रने कहा—"वाह! इतना खर्च करके यह मकान बनाया गया, क्या सुनसान रखनेके लिए? यहाँ तुम्हें किस बातका दुःख है? बनारसका मकान तो मैं एक राष्ट्रीय स्कूलको भाड़ेपर देनेके लिए बात-

चीत कर चुका हूँ।"

चन्द्रकलाने कहा—"नहीं, ऐसा न करो। यदि ऐसा ही है तो इसे भाड़ेपर दे दो, उसे नहीं।"

राजेन्द्र—"अब यह कैसे हो सकता है ? लोग मुझे क्या कहेंगे ? व्यर्थ ही झूठा बनना पड़ेगा।"

पक्ष निर्बल होनेके कारण चन्द्रकला नाराज होकर चुप रह गयी।

३३

जेठका महीना प्रारम्भ हो चुका था। लू जोरोंसे चल रही थी। पवनदेव रास्तेकी धूल उठा-उठाकर घरोंमें रख रहे थे मानो उनके लिए कूड़ा-करकट रखनेके निमित्त ही सब मकान बने हुए हैं। राजेन्द्रके मकानमें भी पवनदेवकी कृपा कम नहीं थी। दरवाजे अधिक होनेके कारण पवनदेवको इस घरमें और भी सुविधा थी। किवाड़ोंपर, टेबुलोंपर, आलमारियोंपर और पुस्तकोंकी जिल्दोंपर सब जगह कपड़ेसे छनी बारीक मिट्टी लदी हुई थी। नौकरोंपर बक-झककर चन्द्रकला स्वयं एक कपड़ेका टुकड़ा लेकर सफाई करनेमें लग गयी। राजेन्द्र इस काममें बड़े ही आलसी थे। सफाई तो अवश्य पसन्द करते थे, पर सफाईके लिए कुछ भी यत्न करना उनके स्वभावके विरुद्ध था। वह कभी इस कामके लिए नौकरोंको बोलतेतक न थे। मालिकका ऐसा स्वभाव पाकर भला नौकर क्यों सफाई करनेमें परिश्रम करते ? क्या उनके शरीरमें पीड़ा होती थी ? सुतरां चन्द्रकलाके कमरेको छोड़कर और कहीं वे कभी देखने भी न जाते थे, झाड़नेको कौन कहे। चन्द्रकलाके कमरेमें सफाई इसलिए होती थी कि नौकरोंकी जरा भी असावधानी देखनेपर वह तुरन्त उन्हें फटकारने लगती थी। आज अनायास ही चन्द्रकला एक पुस्तक लेनेके लिए स्वामीके एकान्त कमरेमें

चली गयी। देखा, कागज इधर-उधर फेंके हुए हैं। धूलका तो मानो यह कमरा अड्डा हो रहा है। मालिकिनको सफाई करते देखकर घरके सब नौकर सुन्न हो आडमें खड़े थे। चन्द्रकलाके सामने जानेके लिए किसीकी भी हिम्मत नहीं पड़ती थी। चन्द्रकलाकी नजर नौकरोंपर पड़ गयी। फिर वह सबको फटकारने लगी। थोड़ी देरतक बिचारे खड़े रहे। उसने तड़पकर कहा—"क्या आज तुम लोगोंको घरमें कोई काम-धन्धा नहीं है? यहाँ क्यों खड़े हो?" इतना सुनते ही सब नौकर वहाँसे खिसक गये। चन्द्रकला कागज वगैरह समेट चुकी। देखा तो दो दावातोंमें स्याहीकी जगह लाल और काली मिट्टी भरी हुई थी। दावातोंकी स्याही सोखकर ही मिट्टीने लाल और काला रूप धारण कर लिया था। कई होल्डर बिना निबके ही पड़े हुए थे। स्वामीके इस कोढ़ीपनपर वह झुँझलाती जाती थी और सफाई भी करती जाती थी। अन्तमें वह टेबुलपर रखी हुई चिट्ठियोंको तारकी फाइलमें नत्थी करने लगी। अचानक एक लिफाफेपर उसकी दृष्टि पड़ी। चिट्ठी बनारसके मकानका पता काटकर यहाँ आयी हुई थी। इस लिफाफेपर मिर्जापुरके पोस्ट-आफिसकी छाप थी। चन्द्रकलाने और पत्रोंको छोड़कर इसे ले लिया। उसका हृदय जोरसे धड़कने लगा। शीघ्रतासे पत्र निकालकर पढ़ने लगी। पत्रमें यही लिखा हुआ था—

"पूज्यवर पिताजी,

प्रणाम। कदाचित् अभीतक आपको यह ज्ञात न हुआ होगा कि मैं एट्रेंसकी परीक्षामें प्रथम श्रेणीमें पास हो गया हूँ। आप मेरा भक्ति-पूर्ण प्रणाम ग्रहण करें, अधिक क्या लिखूँ। यहाँ सब कुशल ही है। इति।

सेवक—

सुशील"

पत्र पढ़नेके बाद चन्द्रकला टेबुलपर हाथ रखकर बहुत देरतक चुपचाप खड़ी रही। सोचने लगी, पास हो गया। वही नव-किसलय-तुल्य-किशोर! विद्याकी गरिमासे समुज्ज्वल मुखवाला वह बालक जिस समय

मनोरमाको "माँ" कहकर पुकारता होगा, उस समय मनोरमाका हृदय कितना आनन्द-विह्वल हो उठता होगा ! क्या इस आनन्दमें स्त्री-जातिको कभी स्वामीका विछोह क्लेशकर हो सकता है ? उस दरिद्र-कुटीमें आज कितना आनन्द होगा ! और उसका यह राज-प्रासाद यहाँ भाँय-भाँय कर रहा है ! यहाँ कुछ भी उत्सवकी और आनन्दकी सामग्री नहीं !

जहाँ पहले पत्र रखा था, वहींपर उसे रखकर चन्द्रकला उस कमरेसे चली तो आयी, किन्तु उसका चित्त दिनभर उसी पत्रमें लगा रहा। रह-रहकर उस पत्रकी याद आया करती थी। उसके मनमें यह बात भी उत्पन्न होती कि हे भगवान् ! उस लड़केको तुमने मेरे पेटमें क्यों नहीं स्थान दिया ? फिर सोचती, ओफ् ! मैं कैसी राक्षसी हूँ ! उनके स्वामीको छीनकर भी मैं सन्तोष नहीं कर रही हूँ !

राजेन्द्र किसी आवश्यक कामसे दो दिनके लिए बनारस गये थे। लौटनेपर दो-तीन दिन बीत जानेके बाद एक दिन चन्द्रकला चिट्ठीकी बात कह बैठी, पर स्पष्ट नहीं। उसने कहा—"सुशील एन्ट्रेंस पास हो गया"—कहनेका ढंग ऐसा था कि निश्चयपूर्वक यह कहना भी कठिन है कि उसने राजेन्द्रसे पूछा अथवा कहा।

राजेन्द्र इसे सुनकर भी ऐसे भावसे भोजन करते रह गये, मानो उन्होंने कुछ सुना ही नहीं। चन्द्रकला थोड़ी देरतक उत्तरकी लालसासे स्वामीके मुँहकी ओर देखती रही। अन्तमें कहा—"मालूम होता है कि अब वह इलाहाबादमें ही आकर पढ़ेगा ?"

राजेन्द्रने कहा—"बनारसमें भी तो कालेज हैं।"

चन्द्र०—"वहाँ इतना सुभीता नहीं हो सकता। रास्तेमें ट्रेन बदलने आदिकी झंझट रहेगी। यहाँसे तो सीधे बैठकर मिर्जापुर चला जाया करेगा।"

यह भी ठीक प्रश्न नहीं था। राजेन्द्र अपना भोजन करते रहे, कुछ नहीं बोले।

इधर कई दिनोंसे चन्द्रकला तरह-तरहकी बहुत-सी बातें सोच रही थी।

उसके दिलमें यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि अबकी बार सुशीलके पिता अवश्य उसे अपने पास बुला लेंगे। लड़केके आनेपर उसकी माँ भी जरूर ही आवेगी। पर उसकी माँ भी तो ऐसी-वैसी नहीं, सुशील-जैसे बच्चेको पैदा करनेवाली माँ है! पुत्रवती होनेके कारण क्या उसका सम्मान स्वामीके घरमें सौगुना अधिक नहीं होगा? बनारस जानेका और काम ही क्या था। निश्चय ही वह स्त्री-पुत्रको लेनेके लिए ही गये थे।

अच्छा उस समय चन्द्रकला क्या करेगी। यह सोचते ही उसका दिल भर आया। छोटी उम्रमें तो झगड़ा करना और प्रेम करना दोनों ही शोभा देता है, पर इस उम्रमें दोमेंसे एकका भी होना अच्छा नहीं। तो क्या सौतकी आज्ञाकारिणी बनकर रहना पड़ेगा? किन्तु इतनी उदारता भी तो चाहिये! चन्द्रकलामें इतनी क्षमता कहाँ?

यह सब सोचकर भी वह शान्त न रही। उसके दिलमें तो कुछ और ही बात थी। यद्यपि स्वामीका ऊपरी भाव सुशील और उसकी माँके प्रति बिलकुल ही रूठा था, तथापि क्या चन्द्रकलासे उनकी भीतरी बातें छिपी रह सकती थीं? चन्द्रकलाने पूछा—"उस पत्रका उत्तर दे दिया? नहीं न?"

राजेन्द्रप्रसाद चन्द्रकलाकी ओर एक बार गम्भीर दृष्टिसे देखकर भोजन करनेमें ही निमग्न रह गये। उन्होंने उत्तरमें एक शब्द भी नहीं कहा।

एक शब्द मुँहसे न कहनेसे क्या हुआ, चन्द्रकलाको तो साश्चर्य-दृष्टिसे ही उनका भीतरी भाव मालूम हो गया। क्या चन्द्रकलासे उत्तर छिपा हुआ था? उसने कहा—"सभ्य-समाजमें तो एक अपरिचित आदमीका पत्र आनेपर भी उत्तर दे दिया जाता है। क्या उस बच्चेके पत्रका उत्तर दिया जाना अनुचित है? भला उसका दिल पत्रोत्तर न पानेसे कितना छोटा होगा? यह समझकर कलेजा दहल जाता है।"

राजेन्द्रने कहा—"तुम्हारा कलेजा दहल जाता होगा, पर मैं कुछ नहीं समझता। क्या यह बात तुम्हें मालूम नहीं है कि मैं उसके लिए अपरिचितकी अपेक्षा भी अधिक अपरिचित हूँ?"

चन्द्र०—“इस तरहकी बातें करनेसे तुम उस लड़केसे अपना सम्बन्ध नहीं हटा सकोगे। जब संसार उसे तुम्हारा पुत्र कहता है, तब तुम्हारे कहनेसे क्या होगा ? क्या तुम्हारे कहनेसे वह अपरिचित हो जायगा ? क्या तुम सच्चे हृदयसे उसे कभी अपरिचित कह सकते हो ?”

राजेन्द्रने अत्यन्त शान्त भावसे उत्तर दिया—“संसारके कहनेसे क्या मैं भी कह दूँगा ? किसीके कहनेपर मेरा क्या वश है ? लोग तरह-तरहकी बातें कहें, इससे क्या ?”

राजेन्द्रके इस कथनका अभिप्राय चाहे जो कुछ भी रहा हो, पर चन्द्रकलाने इसे व्यंग्य ही समझा। उसने कहा—“सौतेली माँ यदि कुकीर्त्ति फैलावे तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; किन्तु जिस तरहका सौतेला बाप मैं सुशीलका देख रही हूँ, उस तरहका मैंने कहीं नहीं देखा। अच्छी बात है, जब तुम्हारा लड़का है और तुम्हीं इस तरहकी बातें कर रहे हो, तो फिर मुझे क्या गरज है ! मैं जो कुछ कह रही थी, धर्म-भावसे कह रही थी। इतना कहकर चन्द्रकला चुप हो गयी। उसका दिल बहुत दुखी हुआ।”

राजेन्द्र भोजन कर चुके थे। हाथ-मुँह धोकर पान लिया और बिना कुछ कहे बाहर चले गये। इस सम्बन्धमें न तो और कुछ बातें ही हुई और न राजेन्द्रको इसपर अधिक बातें करनेकी आवश्यकता ही प्रतीत हुई। बल्कि वह तो इस बातको टालना ही चाहते थे।

३४

मनोरमा घरमें चिन्तित बैठी हुई थी। माँकी तेरही करनेके लिए रुपये कहाँसे आवेंगे ? कौन देगा ? कुटुम्बियोंने महाजनोंको भी तो मना कर दिया है। क्या माँका काम-काज न होगा ? देशमें लोग क्या कहेंगे !

हाँ, यह भी तो निश्चय नहीं कि लोग मनोरमाके यहाँ भोजन करेंगे या नहीं। वह यह सोच ही रही थी कि इतनेमें देवीदत्त आ गये। मनोरमाने बड़े ही सम्मानसे उन्हें बिठाया।

देवीदत्त, श्रीनिवास महाशयके निकटवर्ती कुटुम्बी थे। आज-कल मुहल्लेमें इनकी अच्छी उन्नति है। देश-कोममें पूरी प्रतिष्ठा है। इधर सुभद्राकी बीमारीसे ही इनका आना-जाना मनोरमाके यहाँ विशेष हो गया था। यह अच्छे पढ़े-लिखे थे। बड़े ही शान्त स्वभावके और दयालु थे। समाजपर इनकी सच्चरित्रताकी धाक जमी हुई थी। मनोरमासे अवस्थामें ७-८ वर्ष छोटे थे। मनोरमा इन्हें छोटे भाईके समान मानती थी। आकर मनोरमासे कहा—"क्यों मानू बहन, आज फिर उदास क्यों दिखाई पड़ती हो? क्या मेरी बातोंसे तुम्हें कुछ भी सन्तोष नहीं हुआ? चाची मर गयीं तो इसमें दुःख काहेका? उनका तो अब मरना ही ठीक था। मैं जानता हूँ कि कुटुम्बवालोंकी नजर तुमपर अच्छी नहीं है; किन्तु मैं तो तुम्हारे लिए तैयार हूँ। किसकी हिम्मत है जो तुम्हारी तरफ नजर उठाकर देखे? जितने रुपयेकी तुम्हें जरूरत पड़ेगी, सब मैं दूँगा।"

मनोरमाकी आँखोंमें आँसू भर आया। उसने आर्त्तभावसे कहा—"भैया, मुझे यह भी डर है कि लोग मेरे यहाँ भोजन करेंगे या नहीं। यदि कोई न आवे तो मैं व्यर्थ ही इतना बखेड़ा क्यों करूँ।"

देवीदत्त—"पगली कहींकी। ऐसी किसकी हिम्मत है, बतला तो सही? जो नहीं खायगा, उससे मैं पीछे अच्छी तरहसे समझूँगा। क्या मुझसे किसीका कोई काम न पड़ेगा? मुहल्लेमें एक भी आदमी तो ऐसा नहीं है जिसके यहाँ मेरा पाँच सौ रुपयेसे कम पावना हो। वाह! क्या रुपयेका दबाव कोई चीज ही नहीं? हाँ, तुम यह तो बतलाओ कि कितने रुपयेमें अच्छी तरह तुम्हारा काम चल जायगा?"

मनो०—"मैं समझती हूँ कि पाँच सौ रुपये बहुत होंगे।"

देवीदत्त—"तुम्हारे पास कितने रुपये हैं?"

यद्यपि मनोरमाके पास एक पैसा भी नहीं था, तथापि उसने कहा कि—मैं काम चला लूँगी। मनोरमा किसीके सामने हाथ पसारना नहीं चाहती थी। यदि देवीदत्त जमीनपर रुपये देते तो वह ले लेती; किन्तु इसके सम्बन्धमें वह बिलकुल अस्वीकार कर चुके थे। वह यों ही उसको रुपये देना चाहते थे। इसीसे उसने यह उत्तर दिया। पर मनोरमाकी स्थिति देवीदत्तको अच्छी तरह मालूम थी, इसलिए उन्होंने फिर पूछा—"कैसे पाँच सौ रुपये जुटा सकोगी?"

मनोरमाने कहा—"सुशीलके पास एक अँगूठी है, उसीको बेच देनेसे काम चल जायगा।"

देवीदत्तने झुँझलाकर कहा—"ऐसी क्या पड़ी है कि लड़केके हाथकी अँगूठी बेचोगी? मैं रुपये लेता आया हूँ। यह लो सात सौ रुपये हैं। इससे काम निकालो।"

मनोरमाने लज्जित होकर कहा—"नहीं भैया, इसे मैं कैसे ले सकती हूँ।"

देवीदत्त—"क्या तुम मुझे दूसरा समझती हो? ऐसा ही है तो जब तुम्हारे पास रुपये आ जायँ, तब लौटा देना। इसमें संकोच करनेकी क्या जरूरत?

मनोरमा इस दयालुतापर पानी-पानी हो गयी। फिर 'नाहीं' न कर सकी। रुपयोंको हाथमें लेकर नीचे सिर करके कुछ सोचने लगी। इतनेमें देवीदत्तने कहा—"मैं सुशीलके पितासे मिल आया हूँ। आज रातमें उन्होंने आनेको कहा है। तुम दरवाजा खुला रखना, ताकि उन्हें आवाज देनेकी जरूरत न पड़े। क्योंकि वह चुपचाप तुमसे भेंट करके चले जायँगे। दरवाजा खुला न रहनेसे सम्भव है कि वह लज्जाके मारे पुकारे बिना ही वापस चले जायँ। अच्छा, अब आठ बज चुके हैं, मैं जाता हूँ।" यह कहकर देवीदत्त चले गये।

अनहोनी बातको सुनकर मनोरमा चकित हो गयी। बार-बार उसके हृदयमें इच्छा उत्पन्न हुई, कुछ और पूछनेकी; किन्तु संकोचके

कारण वह कुछ भी न पूछ सकी। इस सम्बन्धमें देवीदत्तसे मनोरमाकी कोई भी बात कभी नहीं हुई थी, इसीसे उसे पूछनेमें इतना संकोच मालूम हो रहा था। फिर भी संकोच छोड़कर वह पूछनेका साहस कर ही रही थी कि देवीदत्त घरसे बाहर हो गये।

रातके ग्यारह बज चुके थे। सुशील दस बजेतक पढ़नेके बाद अपने कमरेमें एक चटाईपर सो गया था। मनोरमाको यह ख्याल था कि अभी सुशील पढ़ता होगा। इसीसे उसने लड़केको नहीं बुलाया और कमरेमें एक चारपाईपर लेट रही। बारह वर्षके बाद आज स्वामीसे भेंट होगी। देवीदत्त सचमुच बड़े दयालु हैं। अच्छा, उन्होंने बिना कुछ कहे ही उन्हें क्यों बुलाया? सम्भवतः वह सारी बातें जानते हैं। कौन जाने वह न आवें? नहीं, असम्भव है। यदि जरा भी आनेमें द्विधा होती तो देवीदत्त मुझसे आज कभी आनेके लिए न कहते। बुलानेके पहले भी तो उन्होंने कुछ नहीं कहा। अच्छा बुलाने कब गये थे? शायद परसों वहां गये थे। पर मुझसे परसों ही क्यों नहीं कह दिया? समझा होगा, मनोरमाको सुनकर व्यर्थ ही पहलेसे आशा करनेके कारण कष्ट होगा। वाह! सचमुच ही देवीदत्त देवमूर्ति हैं! देवीदत्तसे मैं कभी उऋण न हो सकूँगी। यही सब सोचते-सोचते मनोरमाको स्मरण हो आया कि आज बत्तीमें तेल बहुत कम है। अब बुझा देना ठीक है। क्योंकि ऐसा न हो कि उनके आनेपर तेल ही न रहे। इतनी रातको अब बाजारमें भी तो तेल नहीं मिलेगा।

यही सोचकर वह उठी और बत्तीका पेच ऐंठकर रोशनी धीमी करके फिर पहलेकी भाँति सोचने लगी। अब तो आ जाना चाहिये। गाड़ी गये तो १५-२० मिनटसे अधिक हो चुके होंगे। सम्भव है, स्टेशनसे पैदल ही आते हों! नहीं; वह कभी पैदल चले हैं कि आज ही चलेंगे? इतनेमें ही किसीके आनेकी आवाज सुनाई पड़ी। मनोरमा चौंककर झटसे पलँगसे उठकर नीचे बैठ गयी। छाती धक्-धक् करने लगी। पूर्ण शक्तिके साथ मनोरमाके हृदयपर हर्ष और शोककी चढ़ाई

हुई। आगन्तुक कमरेमें आया और अँधेरेमें पलँग टटोलकर बैठ गया। पलँग कमरेके दरवाजेके सामने ही थी। रोशनीके अत्यन्त मन्द प्रकाशमें भी ढूँढ़नेमें दिक्कत नहीं पड़ी। बगलमें ही मनोरमा आधा घूँघट काढ़े, सिर नीचे किये आँसूसे पृथिवीका कलेजा सींच रही थी। वह एक प्रकारसे बेसुध हो गयी थी। थोड़ी देरतक निस्तब्धता छायी रही। मनोरमाने अभीतक स्वामीकी ओर एक बार भी नहीं देखा। इतनेमें आगन्तुकने धीरेसे उसका हाथ पकड़कर पलँगपर बैठनेके लिए संकेत किया। यद्यपि आगन्तुकने मुँहसे एक भी शब्द नहीं कहा, तथापि मनोरमासे उसका भाव छिपा न रहा; किन्तु स्पष्ट रीतिसे नहीं। कुछ देरमें उसको होश हुआ। सँभलकर बैठी और आगन्तुकके पैरोंपर गिरी। आगन्तुकने मनोरमाको हृदयसे लगाना चाहा, पर वह स्वामीका अच्छी तरह दर्शन करनेके लिए बत्तीकी रोशनी तेज करनेकी इच्छासे हट गयी। बत्ती तेज करके पीछे फिरी। देखा, गौर मुख, युवावस्थाका अद्भुत कान्तिधारी व्यक्ति प्रसन्नतापूर्वक पलँगपर बैठा है। मनोरमाकी आखें आँसूसे अन्धी-सी हो रही थीं। संकोचके मारे वह अच्छी तरह अर्द्धान्ध नेत्रोंसे अभीतक देख भी न सकी थी। पलँगपर आगन्तुकके बगलमें बैठते हुए आँचलसे आँसू पोंछ ही रही थी कि अचानक उसे उसकी सूरत दिखाई पड़ गयी। तुरन्त मनोरमा बाण-विद्धा हरिणीकी भाँति चौंक पड़ी और पलँगसे उठकर दो-तीन हाथ दूर जा खड़ी हुई। उसकी आँखें आगकी तरह जलने लगीं। मुँह लाल हो आया। कड़ककर बोली—"कौन, देवी?"

देवी०—"वाह! क्या अब पहचान रही हो? आओ बैठो, भाग क्यों गयी?"

मनो०—"नीच! मैं तुझे ऐसा स्वप्नमें भी नहीं समझती थी।"

देवी०—"अच्छा, अच्छा, आओ बैठो। अब तो समझ गयी न!"

मनो०—"बस, अब तुम यहाँसे चले आओ।"

देवीदत्त अभीतक तो हँस-हँसकर बातें कर रहे थे; किन्तु मनोरमाकी

इस अन्तिम बातपर लाल हो गये। उन्होंने समझा कि बिना कुछ भय दिखाये काम न बनेगा। तमककर बोले—"इतनी पतिव्रता क्यों बन रही हो ? क्या मैं सारी बातें नहीं जानता ?"

इतना सुनते ही मनोरमा और भी जोरसे बोली—"क्या जानता है रे नीच ?"

देवी—"देख मानू, तू बहुत कड़े शब्दोंका प्रयोग कर रही है। लेकिन अभीतक मैंने कुछ भी नहीं कहा। अगर ऐसा बोलेगी, तो ठीक न होगा। मेरे सामने बनने चली है ? क्या मैं नहीं जानता, जो बिहारी नाईसे तेरे ससुरने कहला भेजा था ?"

मनोरमाका हृदय क्रोधसे जल रहा था। सारा शरीर उसी आवेशमें थर-थर काँपने लगा। वह देवीदत्तकी यह बात बिलकुल न सुन सकी। खड़ी कुछ सोच रही थी।

मनोरमाको खड़ी देखकर उत्तर न पानेपर देवीदत्तको बहुत-कुछ आशा हो गयी। उन्होंने फिर हँसकर कहा—"आओ बस हो चुका। अब भी मुझसे दूर रहना चाहती हो ? इतना भेद-भाव ठीक नहीं, मेरे साथ आओ और सुखसे अपना जीवन—"

बात पूरी भी न होने पायी कि मनोरमाने कहा—"तुम सीधेसे जाते हो यहाँसे या नहीं ?"

देवी०—"नहीं।"

"क्या तू मेरा सतीत्व नष्ट कर सकेगा नीच ?" इतना कहकर मनोरमा बक्समेंसे उसके दिये हुए सात सौ रुपयोंके नोट निकाल लायी और उसके सामने फेंककर बोली—"यह ले अपना नीच-भावसे दिया हुआ रुपया !"

देवीदत्त कुछ और कहना चाहते थे कि इतनेमें सुशील आ गया। उसे देखते ही देवीदत्त रुपयोंको चुपकेसे उठाकर वहाँसे खिसक गये। सुशीलने कहा—"क्यों मामा, इतनी रातको आज कैसे आये ?" पर इसका भी उत्तर देवीके मुँहसे कुछ न निकला। उसके चले जानेपर

मनोरमा जाकर मकानका बाहरी फाटक बन्द कर आयी।

सुशीलने कहा—"माँ, आज तो मैं पढ़ते-पढ़ते वहीं सो गया।"

मनोरमा—"अच्छा बेटे, कोई हर्ज नहीं, सो जाओ।"

सुशील नींदमें तो था ही, माँके कहनेपर सो गया। थोड़ी ही देरमें वह घोर निद्रामें निमग्न हो गया।

मनोरमाको रातभर नींद नहीं आयी। जरा-सी आँख लगते ही उसे उसी आगन्तुक नीचकी मूर्ति दिखाई पड़ने लगती थी। पड़े-पड़े वह संसारकी लीलापर विचार करने लगी।—संसारकी कैसी विचित्र-लीला है! मानव-स्वभाव कितना स्वार्थी है! खासकर पुरुषोंका ही स्वभाव इतना पतित क्यों होता है? स्त्रियाँ भी तो मनुष्य ही हैं। ओफ्! समझ गयी। उस दिन नूरा ठीक कहती थी। देवी, जबसे शृंगार-रसकी कविताएँ पढ़ने लगा है, तबसे उसकी बुद्धि भ्रष्ट होने लगी है। धीरे-धीरे वह इतना पतित हो गया कि अब उसे अपनी ही बहन-बेटीका ज्ञान नहीं रह गया। सचमुच ही शृंगार-रसको कवियोंने इतना दूषित कर दिया, जिसका कुछ ठिकाना ही नहीं। जिस शृंगार-रसको वेदोंने रसोंमें सर्वोच्च स्थान दिया, लोगोंने उसी शृंगार-रसका कैसा विकृत अर्थ कर डाला? कालिदास और बिहारी जैसे महाकवियोंने भी शृंगार-रसका अर्थ नहीं समझा! इसीसे उन लोगोंने भी स्त्रियोंके कटि, ऊरु, कपोल आदि कहाँतक कहूँ गुह्याति-गुह्य अंगोंका भी वर्णन कर डाला है। उन्होंने इसीको शृंगार-रस समझा। भला युवक सम्प्रदायपर उन काव्य-ग्रन्थोंका बुरा प्रभाव पड़े बिना कैसे रह सकता है? इसीसे लोगोंका हृदय विवेक-शून्य हुआ जा रहा है। क्या इसीका नाम शृंगार-रस है? कभी नहीं! यदि इसीका नाम शृंगार-रस है तो मैं कहूँगी कि शृंगार-रस साहित्य-ग्रंथोंसे निकाल देनेके योग्य है। जिस रससे मानव-स्वभाव बिगड़ता हो, उस रसको प्रधानता कैसे दी जा सकती है? पर वास्तवमें शृंगार-रस यह है ही नहीं। शृंगार-रस असलमें वह है, जिसमें रूखीसे-रूखी बात भी रस-पूर्ण ढंगसे दिखाई जाय। शृंगारका तो अर्थ ही है, बनावट। उदाहरणके लिए जब यह

कहा जाता है कि अमुक स्त्रीने खूब सुन्दर शृङ्गार किया है, तब उसका मतलब यही होता है कि उसने सुन्दर आभूषण और वस्त्र पहन-ओढ़ रखा है—नकि यह कि वह नग्न हो गयी है। शृङ्गारका स्वरूप तो नग्न हो ही नहीं सकता। शृङ्गारमें पूर्ण सलज्जता है। किसी बातको सुन्दर रीतिसे सजाकर उसमें मधुरताका स्रोत बहाना ही शृङ्गार-रस है। गुप्त अंगोंका वर्णन करनेमें शृङ्गार-रस कदापि नहीं आ सकता। क्योंकि ऐसे वर्णनमें तो पर्दा रह ही नहीं जाता—नग्नता आ जाती है। यही सब सोचते-विचारते मनोरमाने किसी तरह करवटें बदलकर रात बितायी।

अन्तमें उसने अपनी माँका अन्त्येष्टि संस्कार तो विधि-पूर्वक शास्त्रोक्त रीतिसे किया, पर ब्राह्मण-भोजन नहीं कराया। उसने यही उचित भी समझा। तेरही समाप्त हो जानेके बाद सुशील स्कूल जाने लगा, क्योंकि परीक्षाका समय बिलकुल निकट था। अब मनोरमा घरमें अकेली रहनेके कारण भय-युक्त रहने लगी।

३५

इस आकस्मिक दुर्घटनाके बाद मनोरमा चिन्तित रहने लगी। जिसे उसने गोदमें लेकर खिलाया था, जिसकी लोग इतनी प्रशंसा करते थे, तथा जो देखनेमें साधु मालूम होता था, उसीकी इतनी बड़ी नीचता! चिन्ताकी बात एक और थी, वह यह कि जो मनुष्य इधर महीनोंसे दिन-भरमें तीन-चार बार आया करता था, उसका एक बार भी न दिखाई पड़ना, मनोरमाके लिए चाहे सह्य हो, पर मुहल्लेके लोगोंके लिए क्या सन्देह-जनक बात नहीं हो सकती? इस बातपर भी मनोरमा बहुत-कुछ सोचती थी। क्या संसारमें पुरुष-स्त्रीका साथ ही बुरा है? कदापि नहीं। फिर ऐसा क्यों हुआ? मालूम होता है, सृष्टिमें अपनी रक्षाके लिए

मनुष्यमात्रको सरलतापूर्वक हमेशा गम्भीर बुद्धिसे विचार करके काम करनेकी ही आवश्यकता है। यदि मनोरमा पहले ही इसपर विचार करती, तो ऐसा धक्का उसे न खाना पड़ता। यह व्यर्थकी चिन्ता भी उसे आकर न घेरती। जो मनुष्य पहले कभी मनोरमासे मुँहभर बोलता भी नहीं था, वह अचानक बिना कोई कारण उपस्थित हुए क्यों इतनी घनिष्ठता बढ़ाने लगा? क्या यह बात मनोरमा-जैसी पंडिताके लिए विचारणीय नहीं थी? पर अब तो गल्ती हो चुकी। फल तो भोगना ही पड़ेगा।

नित्यकी तरह आज भी मनोरमा उदास होकर घरमें बैठी थी। इतनेमें सुशील जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाता हुआ समीप आकर बोल उठा—"अगर एक खुशखबरी सुनाऊँ तो मुझे तू क्या देगी, बोल?" मनोरमाने मानो यह कहनेके लिए एक ठंढी साँस ली कि 'तेरी माँके समान गरीब और अबला इस भू-भारतमें और कौन है सुशील?' पर उसने अपना यह आन्तरिक भाव प्रकट नहीं किया। ऐसी कोई भी बात मनोरमा मुँहसे कभी नहीं निकालना चाहती थी, जिससे सुशीलके हृदयमें चिन्ता उत्पन्न हो। उसने हँसकर कहा—"पास हो गये क्या? क्यों, यही कहना चाहते थे न?"

सुशील पास होनेकी प्रसन्नतामें माँकी चिन्ताको बिलकुल लख न सका। उसने प्रसन्नतापूर्वक कहा—"हाँ, फर्स्ट हुआ हूँ।"

सुशीलके और भी बहुत-से सहपाठी पास हुए थे, कई फेल भी हुए थे। इन दोनों दलवाले सहपाठियोंने सुशीलको एक दिन आमंत्रित करनेके लिए बुरी तरहसे घेरा था। जो पास हुए थे, उनसे सुशीलने कहा—"देखो भाई, तुमलोगोंको भी आमंत्रित करना चाहिये न! सिर्फ मैं ही तो पास नहीं हुआ हूँ।"

पास हुए लड़कोंने कहा—"दुत्, हमलोगोंका पास होना भी कोई पास होना है? हमलोगोंकी तो युनिवर्सिटीकी दयासे तरक्की हो गयी है। अगर तुम्हारी तरह हमलोग पास हुए होते, तो कमसे-कम एक महीनेतक रोज सबको अपने घर बुलाकर खिलाते!"

सुशील कहना चाहता था कि—"मैं बड़ा आदमी नहीं हूँ।" किन्तु कह न सका।

अन्तमें लड़कोंने मिलकर यह निश्चय किया कि गजटमें सिलसिलेवार जैसा नाम निकला है, वैसा ही खिलानेका नम्बर रखा जाय। इस फैसलेके अनुसार भी सबसे पहले आमंत्रित करनेका भार सुशीलपर ही पड़ा।

सुशीलने माँसे कहा—"सब लड़कोंको एक दिन खिलाना होगा माँ, कबके लिए कहूँ?"

मनोरमाने खिन्न चित्तसे कहा—"सो अभी किस तरह होगा बेटे, अभी तो माँके मरे दो महीने भी नहीं हुए; सालभर गमी न मनानेसे लोग क्या कहेंगे?"

सुशील थोड़ी देरके लिए चुप हो गया; किन्तु लड़कोंकी शैतानीका स्मरण करके उसने संकोच भावसे कहा—"यह सब मैं उनसे कहकर हार गया, पर वे मेरी एक बात भी सुनना नहीं चाहते।"

मनो०—"अच्छी बात है, तो फिर एक दिन बाजारसे दो रुपयेका नमकीन और मिठाई मँगवा दूँगी, खिला देना।"

संकोचसे सुशीलने फिर कहा—"इस तरहकी चीजोंसे वे नहीं मानेंगे माँ। सब लड़के कहते हैं, दो स्कालरशिप क्या अकेले ही खाओगे। हम-लोगोंके लिए खैर दस रुपये तो खर्च करो। दे ना माँ, एक रोज अच्छी तरह सब लड़कोंको खिला दूँ।"

लड़केकी इस बातसे मनोरमाका जी भर आया। पर उससे होता ही क्या? बिचारी धन-हीन, मातृ-पितृ-विहीन और पति-परित्यक्ता मनोरमाके पास दस रुपयेकी जगह दस पैसे भी तो नहीं हैं। उसने ऊपरसे अप्रसन्न होकर कहा—"घरमें गमी पड़ी है बेटा, तू कैसी बातें कर रहा है! उन लड़कोंसे कह देना, मानेंगे क्यों नहीं? आखिर उन-लोगोंके घर भी तो दो-चार प्राणी होंगे?"

मनोरमाने सब-कुछ समझाया, किन्तु सुशील प्रसन्न नहीं हुआ। उसका सारा उत्साह, सारी आकांक्षाएँ जाती रहीं। धीरे-धीरे उसका मुँह

लटकने लगा। दुखियाके घरमें जन्म होनेपर भी अभीतक वह यह बात नहीं जान सका था कि घरमें किन चीजोंका कैसा अभाव है। पहले तो मनोरमाके पास कुछ गहने थे, उनको बेचकर वह काम निकालती थी, किन्तु अब तो वे भी नहीं। सिर्फ गलेमें आठ तोले सोनेकी एक सिकरी और लड़केके हाथकी अँगूठी तथा सिकरी, बस इन्हीं तीन चीजोंकी जमा-पूँजी है। लड़केका गहना तो बेचना नहीं चाहती थी; हाँ अपनी सिकरी जरूर बेचना चाहती थी। सो उसे सुशील ही नहीं हटाने देता था। कहता था—"माँ तेरा गला बिलकुल सूना-सा मालूम होगा।" इसलिए उसे हटाते ही मनोरमाकी इतने दिनोंकी छिपायी हुई दरिद्रता सुशीलको मालूम हो जाती। विद्यार्थी-जीवन किस तरह होना चाहिये, किस तरह सांसारिक चिन्ताओंसे अलग रहना चाहिये, यह मनोरमा अच्छी तरह जानती थी। इधर जमीन भी परती पड़ी हुई थी। दो वर्षोंसे कुटुम्बवालोंने सब असामियोंको मना कर दिया था। मजदूर भी नहीं मिलते थे कि मनोरमा उससे अन्न पैदा कराती। इन जटिल समस्याओंमें वह पहलेसे ही व्याकुल थी। विश्वनाथ, विन्ध्यवासिनी देवी, महावीर स्वामी आदि लोक-पूज्य देवी-देवताओंसे वह रोज सबेरे उठकर प्रार्थना किया करती थी कि अब आगे किसी तरह सुशील अपने पढ़नेका खर्च चला ले, नहीं तो वह किस तरह उसके पढ़नेका खर्च देगी। और खर्च न देनेसे पढ़ना छूट जानेके कारण उसका भविष्य—राम राम, भला यह बात मनोरमा कैसे सहेगी? ईश्वरकी कृपासे मनोरमाकी यह प्रार्थना सफल हुई। सुशीलने पचीस और पन्द्रह, ये चालीस रुपये मासिककी दो वृत्तियाँ प्राप्त करके माँकी दुश्चिन्ता दूर कर दी। सभी विपत्तियोंके रहनेपर भी इस अवलम्बनको पाकर मनोरमाका हृदय गद्गद् हो उठा।

सुशील एक पत्र लिखकर उसके गीले अक्षरोंको सुखानेके लिए फूँकता हुआ आकर बोल उठा—"बाबूजीको यह पत्र लिखा है, भेज दूँ?"

मनोरमा पहले चौंक उठी। पीछे आग्रहसे पत्रको हाथमें लेती हुई बोली—"क्या लिखा है देखूँ।" पढ़नेके बाद थोड़ी देरतक कुछ विचार

करके उसने कहा—"भेज दो।"

कई दिनोंतक मनोरमा इसी बातको सोचती रही। किन्तु सोचकर भी वह कुछ स्थिर न कर सकी। सुशीलके मनमें भी यही चिन्ता थी। क्या पिताकी ओरसे बालक सुशीलको पत्रका उत्तर न मिलेगा ?

दिनपर दिन बीतते गये। मकानके बाहरी कमरेमें, जो उसके पढ़नेका कमरा था—खिड़कीके सामने बैठकर सुशील प्रतिदिन पोस्टमैनकी बाट जोहता था। यहाँसे बहुत दूरतकके आदमी दिखाई पड़ते थे। पोस्ट-मैन नित्य आता दिखाई पड़ता। उसे देखते ही सुशीलके शरीरका रक्त प्रत्याशासे चंचल गति धारण कर लेता था; किन्तु अधीर प्रतीक्षा सफल नहीं होती थी। किसी-किसी दिन व्यग्र होकर वह कमरेसे बाहर आकर पोस्टमैनसे पूछता भी था—"वंशी ! मेरी चिट्ठी है ?" उत्तरमें जब यह सुनता कि—"नहीं साहब, आपकी तो कोई चिट्ठी नहीं है" तब वह निराश हो जाया करता था।

अचानक ही एक दिन जब कि सुशील पत्रकी आशा छोड़कर चुप-चाप बैठा हुआ था, बाहरसे आवाज आयी—"बाबू साहब ! आपकी चिट्ठी आयी है।"

सुनते ही बालक सुशील शीघ्रतासे पत्र लेनेके लिए दरवाजेपर आ गया।

उसे हाथमें लेकर देखने लगा कि यह पत्र किसका लिखा हुआ है ? लिफाफेपर अंग्रेजी अक्षर देखकर ही उसके दिलमें सन्देह उत्पन्न हुआ। पत्र बाहर निकालनेपर सन्देह और भी दृढ़ हो गया। उसके दिलमें यह बात पैदा हुई कि बाबूजीका लिखा पत्र नहीं है। यद्यपि उसके मनमें उत्पन्न उत्साहका ज्वार भाटेमें बदल गया, तथापि कौतूहलसे उसने पत्रका पढ़ना आरम्भ किया। वह पत्र उसके किसी भी परिचितका लिखा हुआ नहीं था। सुशीलको सन्देह हुआ कि यह पत्र स्वर्गीया बुआका लिखा हुआ न हो; पर डाककी गड़बड़ीसे क्या पत्रके आनेमें बरसों लग जायँगे ? असम्भव है ! पत्र इस प्रकार था—

"प्रिय वत्स,

शुभाशिषः सन्तु। तुम परीक्षामें सर्वप्रथम हुए हो, यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। ईश्वर तुम्हें दीर्घ-जीवी और कीर्त्तिमान् करे। मेरी धारणा है कि अब तुम इलाहाबादमें ही पढ़नेके लिए आओगे। यहाँके कालेजोंमें पढ़ायी भी अच्छी होती है। कब आओगे? आशा करती हूँ, बहन और तुम सकुशल होगे। आशीर्वाद स्वीकार करो। और अधिक मैं क्या लिखूँ?

तुम्हारी—छोटी माँ"

पत्रोत्तर देनेके लिए दो बार लिखकर काटा हुआ था। सुशील पत्र पढ़कर किसी गहरी चिन्तामें पड़ गया। उसको उस दिनकी बात भी स्मरण हो आयी, जिस दिन बुआके यहाँ इस अपरिचित स्त्रीने बड़े प्रेमसे अपनी गोदमें बैठाकर सुशीलसे बातें की थीं; पर किशोरा-वस्थावाला सुशील अब सौतेली माताओंके विद्वेषसे अपरिचित नहीं। अपने हृदयमें अंकित उस घृणा-पूर्ण मुखको मातृ-मूर्तिकी कसौटीपर कसकर तुलना करने लगा। दोनोंके बीचका वैषम्य भी उसे अच्छी तरह मालूम होने लगा। सुशीलकी माँ मनोरमा यथार्थमें मातृ-स्वरूपिणी है। उसकी दृष्टिमें वास्तविक मातृ-दृष्टिका भाव है, अधरोंसे वात्सल्य टपकता है, कण्ठमें करुणा और ममताका सुधा-रस भरा हुआ है। किन्तु छोटी माँ? सोचते ही सुशील व्याकुल हो गया।

मनोरमाने आकर देखा कि सुशीलके मुँहपर कोई गहरी चिन्ता छायी हुई है। उसके मुँहका हँसमुख भाव कोसों दूर भाग गया है। वह बिना कुछ पूछताछ किये ही वापस चली गयी।

आजसे सुशीलमें विचित्र परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा। चाल-चलन, रहन-सहन सबमें एक अस्वाभाविक भव्यता पायी जाने लगी। जो सुशील आते ही रेलके इंजिनकी भाँति जोरसे दरवाजेपर धक्का मारकर घरमें घुसा करता था और माँके नाराज होनेपर भी अपनी आदतसे बाज नहीं आता था, वही सुशील अब अनायास ही पूर्ण शान्तिके साथ

माँके पास जाने लगा। मनोरमाके प्रति वह अपनी ऐसी भक्ति और नम्रता दिखाने लगा कि उसकी भक्ति और नम्रता देखकर मनोरमा जबर्दस्ती अपनी हँसी इसलिए रोकती थी कि सुशीलका भीतरी भाव कुछ जाना नहीं जाता था। एक दिन बात-ही-बातमें मनोरमा पूछ बैठी, अरे हाँ सुशील, उस दिन जो चिट्ठी लिखकर भेजी थी, उसका कुछ उत्तर आया? माँ यह बात किसी-न-किसी दिन अवश्य ही पूछेगी, यह बात सुशील पहलेसे जानता था। आज यह प्रश्न सुनते ही उसका हृदय-संचित कष्ट चंचल हो उठा। मुँह फेरकर सिर नीचा किये हुए सुशील बगलके कमरेमें चला गया। पेड़के पत्तोंपर लदा हुआ जल जिस तरह डाली हिलते ही झर जाता है, उसी प्रकार माँकी इस बातसे उसकी छिपी हुई संचित अभिमानाश्रु-राशि बाहर होनेके लिए प्रबल वेगसे उद्यत हो गयी। जीवनकी इस सर्व-प्रथम सफलताके आनन्दमें कष्ट पहुँचानेके लिए सौतेली माँसे पत्र लिखवाकर भेजनेमें जिस पिताका हृदय जरा भी संकुचित नहीं हुआ, जिस पिताको उसने अपने हृदयमें देवताओंसे भी ऊँचा स्थान दे रखा था, जिसके जन्मभर किये हुए अपमानोंको, लाञ्छनाओंको, उसने अपने हृदयमें स्थानतक नहीं दिया, उसी पिताका यह निष्ठुर व्यवहार वह किस तरह सहन करके माँसे कहता? मामूली कागजके टुकड़ेपर यदि दो-चार लाइनें लिखकर भेजनेमें भी उनका व्रत भङ्ग होता था तो न भेजते। इस पत्रके भेजनेकी आवश्यकता ही क्या थी? जिसके कारण सारे दुःखोंकी सृष्टि हुई, उसीके हाथका लिखा हुआ पत्र सुशीलके पास भेजकर तिरस्कारकी पराकाष्ठा दिखलानेके सिवा और क्या प्रयोजन था?

३६

जहाँनाराके पिताकी मृत्यु हो गयी। अब घरमें केवल जहाँनारा, हमीद और तसीर बस ये ही तीन आदमी रहते हैं। तसीर जहाँनाराके चचेरे भाई हैं। वह एम० ए० पास करके डिप्टी मैजिस्ट्रेटीकी परीक्षा देकर नौकरी-की प्रतीक्षा कर रहे थे। यह विचार पहले ही तय हो चुका था कि यदि तसीर परीक्षोत्तीर्ण हो जायँगे तो जहाँ उन्हें सरकारी जगह मिलेगी वहाँ सबको लेकर चले जायँगे। और यदि पास न हुए तो पुराने विश्वासी नौकर करीमकी देखरेखमें जहाँनाराको यहींपर रखकर एक वर्ष और पढ़नेके लिए चले जायँगे।

आषाढ़का महीना था। आकाश काले बादलोंसे घिरा था। नूरा अपने कमरेमें बैठकर एक मखमलके हरे टुकड़ेपर फूल काढ़ रही थी। क्षण-क्षणपर उकताकर उन दिगन्त-प्रसारी मेघोंपर उसकी दृष्टि पड़ जाया करती थी। भावसे मालूम होता था जैसे वह किसीकी प्रतिक्षा कर रही है।

जूतेकी मचमचाहट सुनाई पड़ी। नूरा सिर घुमाकर उसी ओर देखने लगी। मालूम हुआ जूतेका शब्द बगलके घरकी ओर चला गया। वह बैठी न रह सकी। जल्दीसे उठकर उसने आवाज दी—"हमीद !"

उत्तर मिला—"ओ ! तुम इस जगह हो !" हमीदकी जगह तसीर दिखाई पड़े। बिना कुछ बोले नूरा मुँह फेरकर कपड़ेपर गुलाबके फूलके अंगकी योजना करने लगी।

तसीरको नूराका भाव मालूम हो गया। इस अपमानसे उनका रक्त खौल उठा। हृदयमें तीव्र व्यथा उत्पन्न हुई। फिर भी उन्होंने अपनी व्यथा प्रकट न करके जरा खिसककर नूराके सामने होकर कहा—"मेरे आनेसे तुम्हें दुःख हुआ, न ?"

नूरा अपना काम करती हुई बोल उठी—"हुआ तो, पर इसे दूर करनेका उपाय ही क्या है ?"

मुँहपर इतना खरा और रूखा उत्तर पाकर तसीरके सुन्दर गोरे मुख-मंडलपर कुछ उदासी झलक उठी। उन्होंने थोड़ी देरतक चुप रहनेके बाद कहा—"किन्तु वहाँ क्या मेरा सुखसे समय बीतता था, इसपर भी तुमने कभी ध्यान दिया नूरा ?"

जहाँनाराने इस बातको टालकर पूछा—"तुम्हारा कुछ खाना-पीना अभी हुआ है या नहीं ?"

तसीरने ऊँची साँस लेकर कहा—"हुआ हो या न हुआ हो तुम्हारा इसमें क्या आता-जाता है ? आते ही तो इतनी रंजगी दिखाई पड़ी। दो दिनके बाद जब—"

आकाशमें छाये हुए बादलोंकी कालिमा घरमें भी अँधेरा कर चुकी थी। दिखाई न पड़नेके कारण नूराकी सिलाई बन्द हो गयी। वह शीघ्र उठी और खानेकी तश्तरी लेकर जब लौटी, तो देखा कि तसीर ठीक पहलेकी भाँति उसी जगह बैठे हुए गौरसे खिडकीकी ओर देख रहे हैं। उनका मुँह धुँधला पड़ गया है। देखते ही नूराका स्वाभाविक ममतापूर्ण हृदय भर आया। खानेकी तश्तरी तसीरके सामने रख दी और हँसकर कहा—"अच्छा लो, इतना खफा न हो जाओ ! लो इसे।"

तसीरने कहा—"नहीं, मुझे भूख बिलकुल नहीं है।"

नूरा—"खैर भूख न सही; थोड़ा-सा तो है ही कुछ तो खा लो। बिना भूखके ही सही।"

तसीर एक ठण्ढी साँस लेकर खाना खाने बैठ गये। पेटकी ज्वाला कुछ-कुछ शान्त हुई। अभिमानकी यन्त्रणा भी पेटकी ज्वालाके साथ कम हुई। धीरे-धीरे तश्तरीका खाना बिना भूखके ही हड़प गये। नूराके मुँह-पर हँसीका आभास देखकर तसीरको अपनी उस बातकी याद आ गयी,—उन्होंने अभी थोड़ी ही देर पहले कहा था कि भूख नहीं है। लज्जित होकर वह हाथ-मुँह धोने लगे। नूराने हँसकर कहा—"और कुछ लाऊँ ?"

तसीरने लज्जित भावसे कहा—"नहीं !"

तसीर खाना खाकर कुर्सीपर बैठ गये। नूरा पास ही बैठकर पान लगाने लगी। तसीरने कहा—"आज तुमसे कई बातें करनी हैं। पहले मुझे बात कह लेने देना, फिर जो कुछ कहना हो, कहना। बीचमें ही बात न काट देना!"

मन-ही-मन विरक्त होनेपर भी अपना भीतरी भाव प्रकट न करके नूराने हँसकर कहा—"तुम्हारा तो बस वही पुराना पचड़ा रहता है। और तुम बात ही क्या कहोगे? रोज-रोज सुननेसे मैं तो हार गयी।"

तसीर पहले तो हँस पड़े। बाद हँसी रोककर कहने लगे—"बड़ी अच्छी बात कहूँगा। देखना तुम्हें मुनासिब जँचेगी। देखो, कुरान न-जानें किस जमानेका लिखा हुआ है, मगर आज भी मुसलमान कौम उसका हुक्म मानती है और उसीके मुताबिक काम करती है। सभी बातें बदला करती हैं, मगर मजहबी खयालात नहीं बदलते।"

नूरा—"तो क्या तुम मुझे कुरान शरीफकी आयतें सुनाना चाहते हो? अच्छी बात है, मैं खामोश रहकर जरूर सुनूँगी, तुम सुनाओ! यह लो! बारिश होने लगी, हमीद अभीतक घर नहीं आया। ऐसा पाजी लड़का है कि मैं क्या बताऊँ।"

तसीरने बड़ी-बड़ी बूँदोंकी ओर देखकर कहा—"यह बारिश तो जल्द नहीं रुकेगी। वह गया कहाँ है?"

नूरा—"सुशीलके यहाँ होगा। सुशील फर्स्ट डिवीजनमें पास हुआ है, इसीसे आज उसके यहाँ सब लड़कोंकी दावत है। हमीद भी एक दिन अपने दोस्तोंके पास फल वगैरह भेजेगा और पाँच-सातको घरपर बुलाकर खिलावेगा—कहता था।"

तसीरने कहा—"अच्छी बात है"—तो फिर अब और देर करनेकी जरूरत नहीं है। मुझे बहुत जल्द यहाँसे जाना होगा। एक हफ्तेके भीतर ही मुझे जौनपुर पहुँचना चाहिये।"

पानका बीड़ा मोड़ना बन्द करके जहाँनाराने विस्मित दृष्टिसे तसीरकी ओर देखा। उसके नेत्रोंके घन-पल्लवमें उस विस्मित लिखावटका

अवलोकन करते ही तसीरकी मुग्ध दृष्टि कुण्ठित हो गयी, निर्जन-कानन-विहारिणी इस अपरूप उद्यानलताके अलौकिक परिमलमें अन्ध-भ्रमरवत् व्याकुल हो गयी।

थोड़ी देरतक जहाँनारा तसीरकी दृष्टिका भाव देखती रही। बाद उसने चकित होकर अपना मुँह नीचे कर लिया। मन-ही-मन सोचने लगी—"इस बदनसीबकी अक्लमें क्या भर गया, खुदा ही जाने।" ऊपरसे उसका भाव जाननेके लिए नूरा यह कहना चाहती थी कि "जौनपुर क्या करनेके लिए जाओगे? वहाँ क्या है?" पर न-जानें क्या समझकर उसने हँसकर कहा—"बीबीको बुलानेके लिए जौनपुर जाओगे?"

तसीरके चेहरेकी गम्भीरता और भी गम्भीर हो गयी। उसने व्यथित हृदयसे कहा—"तुम्हारे मुँहसे यह ऊटपटाँग बात शोभा नहीं देती नूरा!"

नूरा—"मुझे छोड़कर और किसके मुँहसे शोभा देती है?"

तसीर—"सो मैं नहीं जानता; मगर तुम सारा दास्तान जान-बूझकर भी ऐसी बेरहमीसे बातें क्यों करती हो, बतलाओ तो जरा? क्या रहमदिली और इंसानियत तुमने अपने दिलमें बिलकुल ही नहीं रहने दी?"

नूरा—"नहीं। रहने कैसे दूँगी? खोद-खोदकर तुम्होंने तो मेरे दिलको इतना सख्त बिना दिया। मुलायम रहने देते, तब तो रहमदिली और इंसानियत रहती।"

तसीर—"तुम मुझे और क्या बनाना चाहती हो, साफ बतला दो।"

नूरा—"तुम्हें? तुम्हें मैं क्या बनाऊँगी? कुछ नहीं! खुदाने ही मुझे तो नेकी चाहनेवाली तुम्हारी बहन बनाया है, मैं आज भी वही हूँ। तुम अपनी अक्लकी कमजोरीसे समझ नहीं रहे हो तो इसमें मेरा क्या कसूर? कसूर तुम्हारी अक्लका है।"

तसीरने सिर नीचा कर लिया। मन-ही-मन न-जानें क्या सोचकर फिर साहस करके कहा—"तुम्हारी यह समझ हिन्दुओंके साथ से हो गयी है नूरा! इसके अलावा और कुछ भी नहीं है कि अपनेको बहन

कहकर तुम मुझे शर्मिन्दा करना चाहती हो। क्या मैं यह नहीं समझता हूं ? मगर हमलोगोंका और हिन्दुओंका मजहब एक नहीं है; क्या तुम इस बातको भी भूल गयी हो ? मजहबकी बातें इन्सानको हर्गिज न भूलनी चाहिये। विधवा-विवाह करना, अपने खानदानमें ही ब्याह करना मुसलमान कौममें नफरतकी निगाहसे नहीं देखा जाता, यह तुम्हें अच्छी तरह मालूम है। फिर तुम इतना क्यों हिचकिचा रही हो, समझमें नहीं आता।"

नूरा—"जरूर जानती हूं। आत्मीय-विवाहके सम्बन्धमें मैंने किसी दिन कोई बात तुमसे कही भी नहीं। मगर जो तुम यह कह रहे हो कि विधवा-विवाह हमारी कौममें नफरतकी निगाहसे नहीं देखा जाता, सो मैं माननेके लिए तैयार नहीं हूँ ! मैं तुमसे पूछती हूँ कि तुमने कितनी शाहजादियोंको, कितनी शाही बेगमोंको और कितने मौलवीकी औरतोंको दो बार ब्याह करते सुना है ? छिः छिः ! तसीर, छिः छिः ! तुम्हें ऐसी मजहबी बातें करनेमें शर्म नहीं आती ? इस तरह मजहबको बदनाम करनेमें शर्म आनी चाहिये ! मैं तो तुम्हारी इन बातोंसे शर्मके मारे गड़ी जाती हूँ, मगर तुम्हारे मुँहसे न-जानें कैसे ये बातें निकलती हैं ? तोबा ! तोबा ! हाँ एक बात और तुमसे कहे देती हूं। मैं आत्मीय विवाह भी पसन्द नहीं करती। हाँला कि मैं दूसरोंको न पसन्द करनेकी तालीम नहीं देना चाहती; मगर मेरा ख्याल ऐसा ही है। सोचनेकी बात है कि जिनमें एक दिन भाई और बहनका नाता रहा हो, उनमें ही जोरू और खसमका नाता ? भला बताओ तो सही, जिस कौममें इस नातेसे नफरत नहीं है, उस कौमके लोग अपनी बहनपर बुरी निगाह करनेके गुनाहसे क्या कभी बच सकते हैं ? अगर ऐसा ही है तो फिर इन्सान और जानवरमें मैं कोई फर्क नहीं समझती।"

कहते-कहते जहाँनाराका चेहरा तमतमा उठा। उसके चेहरेपर क्रोध था या शान्ति, पुरहिम्मती थी या भीरुता, बेरहमीसे नफरतकी आभा थी अथवा रहमदिलीसे मुहब्बतकी बू, कहा नहीं जा सकता।

जहाँनाराकी बातोंका तसीरपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। उसकी बातोंसे मानो जलते हुए लाल लोहेसे तसीरका शरीर छौंक उठा। अधिक देरतक नूराके चेहरेकी ओर ताकनेकी हिम्मत तसीरमें न रही। बहुत देरके बाद जब मूसलधार वृष्टिका वेग क्रमशः शान्त होने लगा, जन-विहीन स्तब्ध पुरीमें पानीकी रिमझिमाहट मधुर स्वरमात्र रह गयी, बादलोंका जमघट छिन्न-विछिन्न होकर आकाशमें कहीं-कहीं नीलिमा झलकने लगी, और धीरे-धीरे तसीरके चेहरेका भाव बहुत-कुछ बदल गया, तब उसके पांडु-वर्ण मुखकी ओर चकित कटाक्ष-क्षेप करके जहाँनाराने पानका सजाया हुआ बीड़ा उसको दिया। इसके बाद उठनेका विचार करके फिर एक बार तसीरके मुँहकी ओर देखकर जोशीले भावसे कहने लगी—"तसीर! तसीर! मेरा और तुम्हारा भूलना मुमकिन है, मगर तवारीखमें उलट-फेर हरगिज नहीं हो सकता। अगर हकीकतमें तुम टीपू-सुल्तानके खूनसे पैदा हुए हो, तो तुम्हें इस तरह नाचीज जिन्दगीपर गरूर नहीं करना चाहिये। तुम अपनेको सँभालनेकी कोशिश करो। मुझे अफसोस है कि जब हमलोगोंमें इस तरहकी बदनीयती भरी हुई थी, तो नाहक ऐसे खानदानमें जनम हुआ! इसे खुदाताला ही जानें कि ऐसा क्यों हुआ। क्या जरूरत थी ऐसे ऊँचे खानदानमें हमलोगोंको पैदा करके इतनी इज्जत देनेकी?"

मनुष्यका स्वभाव विचित्र होता है। मानव-स्वभावमें क्षण-क्षणपर विचित्र परिवर्तन हो जाया करता है। नूराकी यह बात तसीरके दिलमें चुभ गयी। सारे शरीरमें लज्जाकी बिजली दौड़ गयी, उसने आरक्त मुख-से "नूरा"—तो कहा, पर लज्जाके मारे वह जो कुछ कहना चाहता था, न कह सका। नूराके अनेकों उपदेश, अनुभव, भर्त्सना और धिक्कारसे भी तसीर उसके पीछे दीवाना ही बना रह गया था, उसकी आशा भङ्ग नहीं हुई थी; किन्तु आज अकस्मात् ही उसके दिलपर गहरी चोट लगी। न-जानें कहाँसे उसमें लज्जा आ घुसी। सचमुच ही धर्मकी विजय हर जगह होती है, दृढ़तामें अपूर्व शक्ति है। किसी कविने बहुत

ही ठीक कहा है—'बातन हाथी पाइये, बातन हाथी पाँव।' जहाँनाराकी बातोंसे दीवाना तसीर कैसे रास्तेपर आ गया ? क्या जहाँनाराकी बातोंमें जादू था ? कोई दैवी शक्ति थी ? कुछ भी नहीं, केवल वाणीका प्रभाव है। राजा इन्द्रजीत सिंहकी वेश्या 'रायप्रवीण' भी तो अपनी वाक्चातुरीसे ही अकबरके चंगुलसे छूटकर अपने प्रेमी इन्द्रजीत सिंहके पास चली आयी थी। क्या बादशाह अकबर जैसे सुचतुरको रायप्रवीणके केवल एक दोहेसे इस तसीरकी अपेक्षा कम लज्जित होना पड़ा था ?

किन्तु जहाँनाराको तसीरके इस भावका कुछ भी पता न चला। चलता ही कैसे ? वह तो न-जानें कितनी बार तसीरको बात कहते-कहते रुक जाते देख चुकी थी; फिर आज तसीरके रुकनेमें वह कैसे सन्देह कर सकती ? उसने क्रुद्ध होकर कहा—"हाँ ! न-जानें क्यों उन्होंने सूअरके पाँवमें मोती पहना दिया ! जो इन्सान इस कदर अपने शरीर और जिगरको दुनियादारीमें गर्क करना चाहता है, उसकी पैदायश ऐसी जगह ? 'बहिश्त' अल्फाजकी फिर जरूरत ही क्या थी ? जो शख्स अपनी बहनकी मुहब्बत और हमदर्दीको नाचीज समझकर उसके शरीरकी लालच करता है, मेरे खयालसे खून और माँसके लालची बाघ और भालूके यहाँ उसका पैदा होना लाख दर्जे बेहतर होता है। आज अगर अंग्रेजी सलतनतका खौफ न होता, और मुसलमानी सलतनतकी तवारीख भी न होती, तो आज मुझे इस दुनियाके अन्दर किस कौमी दोजखमें जगह मिलती तसीर ? अगर आज हैदरअलीकी सलतनत यहाँ कायम होती, तो क्या तुम इस तरह अपनी विधवा बहनसे ब्याह करनेकी बात कहनेकी हिम्मत कर सकते ? जो अपनी इज्जतका हकीकतमें इस कदर हतक करना चाहता है, बाप-दादोंकी आबरू को मिट्टीमें मिलाना चाहता है—"

तसीरने बात काटकर कहा—"सचमुच ही वह जहन्नुममें जानेके काबिल है।—नूरा ! नूरा ! हकीकतमें तू शाहजादी है। आज कलेजेमें घुसनेवाली तेरी बातोंको सुनकर मुझे अपने बाप-दादोंकी इज्जत-आबरू साफ दिखाई पड़ गयी ! और मैं उसी इज्जतके तख्तपर बैठा हुआ तुझे

भी देख रहा हूँ। दरअसल आज मुझे अपनी बेवकूफी और नासमझी जाहिर हो गयी। शर्मसे मुँह छिपानेके लिए मुझे इस दुनियामें कहीं जगह भी नहीं दिखलाई पड़ती नूरा ! मेरी इतने दिनोंकी बेहयाई मुआफ कर बहन ! आजसे मैं तेरा भाई और तू मेरी बहन है। कोई भी नालायकी आजसे तू अपने इस नालायक भाईकी न देख पायेगी।"

नूरा—"तसीर, क्या तुम सच कह रहे हो ?"

तसीर—"मेरे बदनमें भी तो टीपू-सुल्तानका ही खून है न !"

नूरा—"भाई तसीर ! मेरे मुँहसे बहुतसे कड़े अल्फाज निकले हैं, तुम भी मुझे मुआफ करो ! तो फिर अब जकी साहबको खत लिख दूँ, तुम्हारी शादीके लिए ?"

अत्यन्त विषण्ण हँसीसे तसीरका कमनीय मुख प्लावित हो गया। कहा—"ओ ! समझा ! अभीतक मुझपर तेरा यकीन नहीं हुआ, न ? तो फिर तुझे जिस तरह यकीन हो, उस तरहसे आजमाइश करके देख ले। मुझे कोई एतराज नहीं। मैं इससे जियादा और कुछ भी नहीं कहना चाहता।"

नूरा—"खुदाताला जरूर ही तुम्हारी भलाई करेंगे, तसीर भाई ! आज तुमने मेरे जिगरमें घुसे हुए तीरको निकालकर मुझे आजाद कर दिया। मैं अपने लिए तुम्हें हमेशा दुखी देखते-देखते, सच कहती हूँ तुमसे अपनी जिन्दगीसे हाथ धोनेकी उम्मीद कर चुकी थी।"

हँसते-हँसते खड़े होकर तसीरने कहा—"अच्छा, मुझे जौनपुरकी डिप्टी कलेक्टरीका हुक्म मिल चुका है, हफ्तेके भीतर ही वहाँ जाना पड़ेगा, इसलिए सब इन्तिजाम कर लेना !"

नूरा भी हँसती हुई उठकर खड़ी हो गयी। "खैर भाई, बड़ी खुशी-की बात है। क्यों रे हमीद, आ गया ? ओ हमीद ! सुने जा, तसीर पास होकर जौनपुरके डिप्टी हो गये।"

हमीद मारे खुशीके छलाँगें मारता हुआ तसीरके पास आकर खड़ा हो गया। कहने लगा—"तो फिर अब मुझे एक साइकिल ला दो मामू।

तुमने पास होनेपर देनेके लिए कहा था।"

तसीर—"अभी देनेके लिए तो मैंने कहा नहीं था। दो महीनेके बाद कलकत्ते जाऊँगा तब तुम्हारे लिये खूब बढ़िया साइकिल खरीदकर लेता आऊँगा। क्यों ! खुश हो न !"

हमीदने जरा सिर नीचा करके उदास भावसे कहा—"तब मैं साइकिल हर्गिज न लूँगा।"

तसीर—"क्यों !"

हमीद—"इसलिए कि तुम महात्मा गांधीका हुक्म टालकर इस्लाम-के खिलाफ सरकारी नौकरी करते रहोगे।"

तसीरके दिलमें यह बात पहलेसे ही थी। वह तो अपनी स्थिति देखकर ही नौकरी करनेके लिए लाचार हुए थे। उन्होंने हँसकर कहा—"मैं नौकरी ज्यादा दिनोंतक हर्गिज न करूँगा, हमीद ! नेकनीयतके साथ पाँच-सात महीनेतक काम करके कुछ रुपये रोजगार करनेके लिए इकट्ठा करके मैं अंग्रेजी सल्तनतकी नौकरी जरूर छोड़ दूँगा। महात्मा गांधी भी तो यही कहते हैं कि पहले जिन्दगी बसर करनेके लिए कोई काम ठीक करके तब सरकारी नौकरोंको नौकरियाँ छोड़नी चाहिये।"

हमीद—"मैं भूखों मर जाना कबूल करता हूँ, पर लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, लाला लाजपतराय सरीखे लोगोंको जेलमें ठूँसनेवाली अंग्रेजी सरकारके पास नौकरी करना या उसकी सल्तनतको मजबूत बनानेवाला कोई काम पसन्द नहीं करता।"

बालककी बातपर जहाँनारा और तसीर दोनोंको हँसी आ गयी। तसीरने हमीदका प्यारसे मुँह चूम लिया और बिना कुछ उत्तर दिये ही वह वहाँसे चले गये।

३७

घरका सुख सुशीलको स्वप्न हो गया। किन्तु अवस्थाके प्रभावसे इसका कोई प्रत्यक्ष असर उसके चेहरेपर नहीं दिखाई पड़ता था। अवस्था बिलकुल कम रहनेपर भी पुस्तकोंके शिक्षा-ज्ञानसे उसमें बहुत-कुछ प्रौढ़त्व आ गया था। वह जिस दिन माँको छोड़कर जगनके साथ बिस्तरा, बुआका दिया हुआ ट्रंक और कुछ आवश्यक वस्तुएँ लेकर इलाहाबादके-कोलाहल मुखरित होटलमें पहुँचा, उस दिन उसके हृदय-में एक विचित्र भाव पैदा हो गया। क्षणभरमें समय-समयपर दी हुई माँकी शिक्षाएँ उसे याद आ जातीं, क्षणभरमें माँकी प्रतिमूर्ति आँखोंके सामने दिखाई पड़ने लगती और क्षणभरमें ही स्नेह-मयी जननीका विच्छेद उसके कलेजेमें सूल पैदा करने लगता था। सुशीलके लिए यहाँकी सारी चीजें अपरिचित और बिलकुल नयी थीं। साथमें रहनेवाले तथा अगल-बगलके कमरोंमें रहनेवाले लड़के भी अपरिचित थे। कितने ही लड़के चकित होकर उसे देखने आते थे। लड़कोंके चकित होनेका एक खास कारण था; सुशीलका नाम प्रान्तभरके छात्रोंको मालूम हो गया था। क्योंकि उसने बारह वर्षकी अवस्थामें ही एन्ट्रेन्स पास किया था। दिनभरकी रोकी हुई अश्रुधारा रातमें सोनेके वक्त अँधेरा होते ही सुशीलकी आँखोंसे प्रवाहित होने लगती थी। माँके ध्यानकी तन्मयताके अन्तमें अश्रु-प्रवाह रुक जाता था। हृदय भी उस समय शान्त हो जाता था। बस रातभरमें यही थोड़ा समय सुशीलके लिए आरामका रहता था। इसमें वह बहुत देरतक स्वप्नमें माँसे बातें करता था। वह स्वप्न-की भाँति रहस्यमयी माँ नहीं रहती थी, वरन् वह सचमुच ही सुशीलकी असली माँ रहती थी। नींद उचटनेपर भी वह नहीं समझ पाता था कि यह स्वप्न था या साक्षात्। कमरेमें रहनेवाले सब लड़के तो कुछ देरतक पढ़नेके बाद नियमित समयपर सो जाते थे, पर सुशीलको सोनेके समय भी रोज इतना काम अधिक करना पड़ता था। किस दिन किसने क्या

कहा था, किस बातपर माँने नाराज होकर क्या कहा था, इस वक्त माँ क्या करती होगी आदि बातोंकी याद सुशीलको आया करती थी। पढ़ते समय भी कभी-कभी माँकी याद सुशीलको व्याकुल कर देती थी। उस समय आँसू-भरे नेत्रोंको छिपानेके लिए उसे हाथकी पुस्तकको मुँहके सामने कर लेनेके अतिरिक्त और कोई भी यत्न न सूझता था। मन जिस समय कोतल घोड़ेकी तरह रास सुर्काकर मिर्जापुरके परिचितोंमें जाना चाहता था, उस ससय स्नेहके साम्राज्यमें अटल धैर्यमयी माँकी दृष्टि लज्जाका चाबुक मारकर उसे रोक देती थी।

पहले कुछ दिनोंतक अपने मनकी असह्य व्यथाके कारण माँकी व्यथाका कुछ भी स्मरण नहीं हुआ; किन्तु जब हुआ, तब सुशीलको अनुभव हुआ कि माँका दुःख उसकी अपेक्षा कहीं अधिक होगा। वह तो दस बजेसे चार बजेतक, अच्छा लगता था चाहे नहीं लगता था, फिर भी प्रोफेसरोंका कथन सुननेमें बिताता था; माँके लिए तो ऐसा भी कोई आधार नहीं!

भोरमें नींद टूटते ही उसे यह बात याद आ जाती थी कि "मिर्जापुरमें माँके बीसों बार चिढ़कर पुकारनेपर भी मैं नहीं उठता था और यहाँ न-जानें क्या हो गया!" माँके सस्मित मुखका यह तिरस्कार, "यह लड़का ऐसी नवाबी नींदमें सोता है, भगवान्! मैं तो हार गयी इसकी नींदसे"—मनोरमाके इकलौते लाडले पुत्र सुशीलको स्मरण हो आता था।

समयके फेरसे सब शोक-दुःख भूल जाता है। मनुष्य-स्वभाव ही ऐसा है कि कितना ही बड़ा दुःख क्यों न हो, अधिक दिन बीत जानेपर वह सह्य हो जाता है। सुशीलकी विच्छेद-वेदना भी दिनपर-दिन, महीनेपर महीना बीतनेके कारण कम हो गयी। प्रातःकाल उठते ही माँकी स्मृतिमें तप्त आँसूका उपहार देना बन्द हुआ; अब यह समय अंग्रेजी साहित्यके अध्ययनमें बीतने लगा। मनोरमा बहुत दिनोंसे यह चाहती थी कि सुशील तड़के उठकर पढ़ा करे; सुशील बचपनमें ही अपनी माँसे सुन चुका था कि सुबह पढ़नेसे चित्त स्थिर रहनेके कारण बहुत लाभ होता है। पाठ शीघ्र

याद होता है। वह अपनी माँसे व्रतबन्धके बाद सन्ध्योपासन भी सीख चुका था। दोनों वक्त स्नान करनेके बाद सन्ध्योपासन भी किया करता था। उसका नाक दबाकर प्राणायाम करना और माला लेकर जप करना देखकर कितने ही पाश्चात्य शिक्षाधारी लड़के हँसते थे; किन्तु वह इसपर बिल्कुल ध्यान न देता था। उसे अच्छी तरह मालूम हो गया था कि सन्ध्योपासनसे शान्ति मिलती है। देवी-देवताओंको सन्तुष्ट रखनेके लिए वह सन्ध्योपासन करता भी नहीं था; वह तो इसे नित्यकर्म और पूर्व-पुरुषोंकी आज्ञा समझकर तथा प्रत्यक्ष शान्ति-लाभ करके ही करता था। चारों ओरकी तरह-तरहकी बातें सुननेके कारण सुशील अब पिताका भी विशेष चिन्तन नहीं करता था। तथापि अपरिचित पिताका व्यवहार उसके हृदयमें ओछा अवश्य प्रतीत होने लग गया था। वह यह जानता था कि यदि इस मानसविद्रोहका हाल माँको ज्ञात हो जायगा तो उसे बहुत दुःख होगा। माँको छोड़कर आनेपर भी सुशील अपनी माँको चीन्हता था। सीधा और भोला सुशील क्या जटिल संसारमें कदम रखते ही कुटिल हो गया?

वार्षिक परीक्षा होनेके बाद गर्मीकी छुट्टी आ गयी। घर लौटकर सुशीलने माँको प्रणाम किया। हर्षपूर्वक आशीर्वाद देकर मनोरमाने विस्मयसे कहा—"क्यों सुशील, तुम तो एक वर्षमें ही बहुत बड़े हो गये! बापरे बाप! इतने दुबले कैसे हो गये? क्या खाने-पीनेका इन्तिजाम ठीक नहीं रखते थे?"

सुशीलने हँसकर कहा—"इन्तिजाम तो सब ठीक था; किन्तु परदेशमें घरकी तरह आराम नहीं रह सकता न! पढ़ाईमें भी मेहनत ज्यादा करनी पड़ती है।—क्यों माँ सचमुच दुबला हो गया हूँ क्या?"

मनो०—"नहीं, बड़े मोटे होकर आये कि! लेकिन हाँ, अब तो तुम्हारे मुँहपर जैसे बड़ी गम्भीरता-सी आ गयी।"

माँकी बात सुनकर सुशीलको हँसी आ गयी; किन्तु वास्तवमें मनोरमाने व्यंग्य नहीं कहा था।

३८

सुशीलके आनेसे मनोरमाकी तबीयत बहल गयी थी। कालेज खुलनेके समय सुशील जब चला गया, तब मनोरमाकी फिर वही दशा हो गयी। उसके दुःख-सुखमें सम्मिलित होनेके लिए यहाँ बाल-सखी जहाँनाराको छोड़कर और कोई नहीं था। एक तरफ तो पुत्रकी अनुपस्थिति और स्वामीकी जुदाईका दुःख और दूसरी ओर पारिवारिक अपमान : तीसरी तरफ जीवन-निर्वाहकी चिन्ता। इन्हीं त्रिदोषोंसे मनोरमाका जीवन घिरा हुआ था। पारिवारिक अपमानमें देवीदत्तका कुटिल व्यवहार और भी दुःखदायी था।

यद्यपि मनोरमाकी अवस्था अब तीस वर्षकी हो चली थी, तथापि उसका रूप-यौवन, कमनीयता और हाव-भाव देवीदत्तको किसी भी अनुपम सुन्दरी सर्वगुण-सम्पन्ना मुग्धा स्त्रीसे कम नहीं जँचता था। उस रातमें मनोरमाकी कड़ी फटकार सुननेके बाद भी उसके हृदयकी लोलुपता कम नहीं हुई। उस रूपसी तरुणीका अधरामृत-पान किस तरह किया जा सकता है, उसका प्रेम-कटाक्ष क्योंकर अपनी ओर लाया जा सकता है, बस इन्हीं बातोंके यत्नमें वह लगा रहता था। सुशीलके गर्मीकी छुट्टीमें घर आनेके पहले ही वह एक दिन मनोरमाके पास आकर बड़ी नम्रतासे क्षमा भी माँग गया था। मनोरमाके सरल और कोमल हृदयसे उसे क्षमा भी मिल गयी थी। तभीसे इसका आना-जाना फिर होने लगा था।

पर मनोरमा-जैसी पण्डिता क्या फिर देवीदत्तके पंजेमें आ सकती थी ? हाँ, इतना जरूर था कि उसे हर वक्त भय अवश्य लगा रहता था।

अचानक मनोरमा बीमार पड़ी। घरमें कोई उसे पानी देनेवाला नहीं था। बिचारी जहाँनारा दिनभरमें पाँच-छः बार देखनेके लिए आती थी। इसीसे मनोरमाको भी कुछ शान्ति मिलती थी। इस अवस्थामें देवीदत्त भी दो-तीन बार आ जाया करता था। यद्यपि उसका ऊपरी भाव तो ठीक रहता था, पर उसके मानसका कलुषित भाव मनोरमासे

छिपा हुआ नहीं था। वह उसके आते ही देवी-देवताओंका स्मरण करने लगती थी। एक दिन जहाँनाराने सुशीलको बुलानेके लिए तार भेजनेकी बात कही। मनोरमाको भी यह बात अपनी रक्षाके लिए उचित जँची। किन्तु उचित जँचनेसे क्या होता है? तार देनेके लिए बारह आने पैसे भी तो चाहिये! मनोरमाके पास यदि इतने पैसे ही होते, तो वह सम्भवतः बीमार ही न पड़ती। पाँच दिन निराहार रहनेके कारण ही बिचारी धनहीना मनोरमापर ज्वरका धावा हुआ था। तुरन्त ही मनोरमाने कहा—"तार देनेकी क्या जरूरत है नूरी, एक चिट्ठी लिख देनेसे ही तो काम चल जायगा।"

जहाँनाराने कहा—"नहीं, तार देनेसे सुशील जल्द आ जायगा। चिट्ठीसे शायद देर करे। तुम्हारे अच्छा हो जानेपर फिर चला जायगा।"

मनो०—"नहीं रहने दे, मैं अच्छी हो जाऊँगी। बीमारीकी खबर पाकर उसे व्यर्थ ही दुःख होगा।"

मनोरमा अपने पेटका तुच्छ प्रश्न नूरासे भी करनेमें संकोच करती थी। वह अपनी वेदना सुनाकर सखीको कष्ट नहीं पहुँचाना चाहती थी। किन्तु क्या जहाँनारासे यह बात कभी छिपी रह सकती थी? जिसके पास किसी तरहकी आमदनी नहीं, कर्ज भी जिसे नहीं मिल सकता, कोई ऐसी निर्वाह करनेके लिए पैतृक सम्पत्ति भी नहीं जो बेची या गिरो रखी जा सके, उसका खर्च कैसे चल सकता है? क्या पड़ोसमें थोड़े फासलेपर रहनेकी वजहसे जहाँनारा यह बात न जानती? किन्तु वह बिचारी जानकर करती क्या? जबर्दस्तीसे देनेपर भी तो मनोरमा कोई चीज नहीं लेती थी। जहाँनाराने कहा—"क्यों री मानू, मैं तो तुझसे कुछ भी फर्क नहीं रखती, परन्तु तू मुझसे अपनी सच्ची बात कहनेमें क्यों संकोच करती है?"

मनो०—"मैंने तुझसे कौन-सी बात छिपा रखी है?"

नूरा—"उस दिन तेरा मुँह सूखा हुआ देखकर मैंने कहा कि आज तुमने कुछ खाया नहीं है, मगर तुमने छिपाया। मैंने जो रुपया दिया, उसे

भी तुमने लौटा दिया।" यह कहकर जहाँनारा अपनी आँखें पोंछने लगी।

मनोरमा भी पलँगपर लेटी हुई आँसू बहाने लगी। थोड़ी देरतक दोनों चुप रहीं। बाद नूरा एक घंटेमें आनेका वादा करके अपने घर चली गयी। घर जाते ही उसने सुशीलको तार भेज दिया।

सुशील तार पाकर घर तो आ गया, पर यह तार उसे मिला बड़े बुरे समयमें। जिस दिन उसका 'फर्स्ट आर्ट इग्जामिनेशन' था, ठीक उसी दिन सबेरे उसे यह तार मिला—

"Your mother ill come soon.

Hamid."

उस समय किसी ट्रेनके आनेका समय नहीं था। एक बजे और तीन बजेकी गाड़ीसे वह मिर्जापुर जा सकता था। इसलिए उसने तीन बजेतक परीक्षा देकर जानेका निश्चय किया। किसी तरह वह परीक्षा देकर अपने घर आया। देखा घरमें मनोरमा पड़ी हुई थी। सुशील आकर उसके पास बैठ गया। धीरे-धीरे दो ही चार दिनमें मनोरमाकी तबीयत एकदम अच्छी हो गयी।

यद्यपि सुशीलके आनेके पहले ही जहाँनाराने आटा, चावल, दाल आदि खानेकी चीजें भेज दी थीं, तथापि सुशील अब अबोध बालक नहीं रह गया था। उसे घरका भेद मालूम हो गया। किन्तु इस विषयमें उसने माँसे कुछ भी नहीं पूछा। अन्ततः सुशीलके जानेका समय नजदीक आ गया। रोज माँसे कहनेका विचार उसके मनमें उत्पन्न होता था, किन्तु यह दुःखप्रद समाचार वह माँके सामने प्रकट न कर सकता था। मनोरमा भी अपने मानसिक विप्लवमें इस तरह पागल हो गयी थी कि उसके मुँहसे भी कोई बात नहीं निकलती थी।

इस प्रकार दो-चार दिन बीतनेके बाद, एक दिन सुशीलने माँके पास आकर कहा—"इस हफ्तेके भीतर ही मुझे जाना पड़ेगा माँ। अगले सोमवारको कालेज खुल जायगा।" इतना सुनते ही मनोरमाका मुँह उतर गया। लड़केके माथेपर हाथ फेरती हुई बोली—"क्या करोगे

सुशील, मेरी किस्मत ही ऐसी है। एक दिन भी जी भरकर तुम्हें देख न सकी"। इसके बाद बहुत देरतक दोनोंके हृदयोंमें निस्तब्धता छायी रही। पश्चात् मनोमाने ठंढी साँस लेकर फिर कहा—"मुझे भी तू अपने साथ ही लेता चल सुशील। यहाँ रहकर मैं क्या करूँगी?"

माँ किस तरह इस उदास जगहमें अपना जीवन बितावेगी, यह बात सुशील पहलेसे ही सोच रहा था। किन्तु माँको अपने साथ लेकर इलाहाबाद जानेमें जो कठिनाइयाँ थीं, उन्हें भी वह अच्छी तरह जानता था। माँकी बात सुनकर वह और गहरी चिन्तामें पड़ गया। सुशीलकी संकट-पूर्ण जीवन-यात्रा आरम्भ हो गयी। माँके गलेकी सिकरी भी वह पहले ही बेचकर पढ़नेकी पुस्तकें खरीद चुका था। ट्यूशनके लिए भी वह इलाहाबादमें यत्न करके हार गया था, पर कोई भी ट्यूशन उसके हाथ नहीं आया था। दो-एक जगहका आया भी तो उन लोगोंने सुशीलको चौदह वर्षका छोकरा देखकर टालमटोल कर दिया था। इस प्रकार उसकी सारी आशाएँ पहले ही भंग हो चुकी थीं। घबराकर बार-बार सुशील अपने मनसे प्रश्न करने लगा—"तो फिर क्या मुझे पढ़ना छोड़ना पड़ेगा? कालेजका खर्च भी तो कम नहीं है! कहाँसे लाकर मैं खर्च चलाऊँगा? माँके हाथमें अब एक अधेलेको चीज भी नहीं है, यह उसकी बीसों चकतियाँ लगी हुई धोतीसे मालूम हो रहा है। मेरी अँगूठी भी खो गयी।"

ऐसी जटिल समस्या उपस्थित रहनेपर भी सुशीलने माँको हताश नहीं किया। आशा-भरे शब्दोंमें कहा—"इस वक्त मैं जाता हूँ, वहाँ ठीक-ठाक करके तब मैं तुम्हें ले चलूँगा माँ!"

माँसे आशा-पूर्ण बातें तो कर आया, पर यहाँ कुछ भी प्रबन्ध ठीक नहीं हुआ। कालेजकी फीस बारह रुपये मासिक थी; खाने-पीनेका खर्च भी गरीबी हालतमें पन्द्रह रूपयेसे कम नहीं हो सकता था। सत्ताईस रुपये-से कममें सुशीलकी पढ़ाई किसी हालतमें भी नहीं हो सकती थी। एक पैसेकी आमदनीका ठिकाना नहीं रह गया था। अबकी बार आर्ट

इग्जामिनेशनमें अकृतकार्य होनेके कारण वृत्तिकी आशा भी टूट गयी थी। यह अकृत-कार्यता सुशीलके बुद्धि-विपर्यय-दोषसे नहीं बल्कि उसके भाग्य-दोषसे हुई थी। उस दिन परीक्षाके पहले यदि उसे माँकी बीमारीका तार न मिला होता, तो निश्चय ही वह तृतीय श्रेणीमें पास न होकर प्रथम श्रेणीमें पास होता और वृत्ति-लाभ करता रहता। किन्तु हाय रे दुर्भाग्य! उसी समय सुशीलका मस्तिष्क विकृत करनेवाला समाचार मिला। ऐसा कौन मनुष्य है जिसकी बुद्धिमें ऐसे समाचारसे व्यग्रता नहीं उत्पन्न हो सकती? यदि कहा जाय कि लोकमान्य पं० बालगंगाधर तिलक अपने ज्येष्ठ पुत्रका देहान्त होनेके बाद भी 'केसरी' के लिए लेख लिखते ही रह गये थे, जरा भी चिन्तित नहीं हुए थे, तो क्या वह मनुष्य थे! जिस मनुष्यमें इतनी धीरता हो, वह मनुष्य नहीं, देवता है। बिचारा सुशील यह सोचनेसे हताश था। अब वह माँके सामने कैसे जायगा? इस धक्केसे सुशीलको एक बातका दृढ़ अनुभव हो गया। मनुष्यको बहुत ही सोच-समझकर बात करनी चाहिये। पहले भी सुशील बिना सोचे-समझे माँसे बाबूजीकी भेंट करानेका वादा करके भोग चुका था। आज फिर वैसी ही घटना उपस्थित हो गयी। इस चिन्तासे वह क्लासमें भी बहुत कम-जोर पड़ गया। फिर भी उसे आशा थी कि यदि किसी तरह बी० ए० की पढ़ाई किसी प्रोफेसरके समीप हो जाती तो सब काम ठीक हो जाता। एक दिन अनायास ही उसके प्रिंसिपलने स्वयं उसकी अवनतिपर दुखी होकर अपने पास बुलाया और कहा—"सुशील, तुम शामके वक्त हमारे घरपर आकर पढ़ जाया करो। हम तुम्हें खुद पढ़ावेंगे।" उसी दिनसे सुशील बराबर उनके पास जाने लगा और द्वितीय वर्षकी परीक्षामें फिर वह प्रथम श्रेणीमें पास हुआ। सुशीलकी इस उन्नतिसे प्रिंसिपल बड़े ही प्रसन्न हुए और दूने उत्साहसे निर्धन बालकको पढ़ाने लगे। गत वर्षका सारा खर्च भी प्रिंसिपल साहबने अपने पाससे दे दिया।

अब बी० ए० पास करनेमें दो वर्षकी और देर रह गयी। यदि किसी तरह इन दो वर्षोंकी शिक्षा भी सुशील प्राप्त कर लेगा तो वह अपने

स्वर्गीय पितामहके निष्ठुरतापूर्ण कार्यका बदला ले लेगा। उस स्वर्गीय व्यक्तिको यह बतला देगा कि दरिद्र कन्याके गर्भसे भी भाग्यवान् और विद्वान् पुरुषोंका जन्म हुआ करता है। किन्तु हाय! निर्धन बालक सुशील क्या अपने धनी पितामहके पास स्वर्गमें अपना यह सन्देशा कभी भेज सकेगा? क्या भिखारिणी-पुत्र सुशीलका यह सोचना राज-सिंहासनपर बैठनेका स्वप्न देखना नहीं है?

कालेजमें एक गरीब लड़का नया भर्ती होकर आया था। इस लड़के-से सुशीलकी खासी मैत्री हो गयी थी। इस लड़केने गणितमें प्रथम स्थान प्राप्त किया था। एक दिन बात-ही-बातमें उस लड़केने सुशीलसे कहा कि—"मेरा क्या कुछ भी पढ़ना-लिखना होता? सौभाग्यसे मेरे मकानके पास ही पं० राजेन्द्र त्रिपाठी रहते हैं, उन्होंने ही मुझपर कृपा की और मेरी सहायता की।"

सुशील थोड़ी देरके लिए निस्तब्ध हो गया। बाद प्रसन्नता-पूर्वक मित्रकी ओर देखकर पूछा—"वे ही तुम्हारे पढ़नेका सब खर्च देते हैं? बड़ी खुशीकी बात है।"

लड़केने बड़े उत्साहसे कहा—"जैसे वह दयालु हैं, वैसी ही दयालुता-की मूर्ति उनकी स्त्री भी हैं। मुझे ही नहीं, मेरे-जैसे न-जाने कितने लड़के उन्हींके खर्चसे पढ़ रहे हैं। विद्यार्थियोंकी वह बहुत सहायता करते हैं, सिर्फ उन्हें मालूम भर हो जाना चाहिये। उनके यहाँसे कोई भी लड़का निराश होकर नहीं लौटता। स्त्री भी उनकी ऐसी ही हैं। उन्होंने अपनी ओरसे एक कन्या-पाठशाला खुलवा दी है। किन्तु इधर तो कई महीनेसे त्रिपाठीजी यहाँ नहीं हैं। शायद कहीं गये हैं। बड़े आदमी हैं, कहीं घूमने-फिरने गये होंगे।"

सुशीलने मित्रकी स्नेह-भरी बातोंपर बड़ी कृतज्ञता प्रकट की। किन्तु उसके हृदयमें इस बातसे बड़ी गहरी चोट लगी। क्या सुशील अपने पिताके दरवाजेपर हाथमें आवेदनका भिक्षा-पात्र लेकर जायगा? इसमें हानि ही क्या है? पिताके सामने लड़केको माथा झुकानेमें संकोच ही

किस बातका ? किन्तु यह बात भी क्या कभी सम्भव है ? जिस पिताने कभी लड़केकी सुध नहीं ली, उस पिताके दरवाजेपर सुशील-जैसा स्वाभिमानी लड़का क्या भिक्षा-प्रार्थी होगा ? सुशील तीर्थराज प्रयागकी पुरीमें घर-घर भीख माँगेगा, भूखों रहकर अपना जीवन समाप्त कर देगा; किन्तु अपने पिताके राज-प्रासादमें कदापि न जायगा—न जायगा—न जायगा !

सुशीलको भिक्षा-पात्र लेनेकी आवश्यकता नहीं पड़ी। सौभाग्यसे प्रिंसिपल साहबकी कृपासे उसे तीन ट्यूशन मिल गये। तीनोंसे पैंतीस रुपये मासिककी आमदनी होने लगी। यद्यपि इन तीनों लड़कोंको भिन्न-भिन्न जगहपर जाकर पढ़ानेमें तथा कोर्सकी पुस्तकें पढ़नेमें सुशीलका परिश्रम बहुत बढ़ गया, तथापि उसकी आर्थिक चिन्ता बहुत-कुछ दूर हो गयी।

३९

मनोरमा ताक लगाये बैठी थी कि सुशील अभीतक नहीं आया तो क्या, गर्मीकी छुट्टीमें जरूर आवेगा; किन्तु उसकी वह आशा भी पूर्ण नहीं हुई। केवल उसने एक पत्रसे पास होनेकी खबर माँके पास भेज दी थी। इधर मनोरमा अपना भविष्य बिलकुल अन्धकारमय देख रही थी। इतने दिनोंतक तो वह महात्मा गांधीकी कृपासे चर्खेपर सूत कातकर जहाँनाराके द्वारा उसे बिकवाकर अपना उदर-पोषण करती थी, पर अब दो-तीन दिनमें ही उसका वह काम भी बन्द होनेवाला है। तीन दिनके बाद जब जहाँनारा तसीरके साथ जौनपुर चली जायगी, तब मनोरमा किसके जरिये अपना काता हुआ सूत बाजारमें बिकवायेगी ? और जब वह बिकेगा ही नहीं, तो उसका खर्च किस तरह चलेगा ? एक तरफ

तो यह चिन्ता और दूसरी तरफ सुशीलके न आनेकी चिन्ता। इन्हीं दोनों चिन्ताओंको लेकर मनोरमा अपने घरमें उदास बैठी थी। इतनेमें जहाँनारा आ गयी। उसने मनोरमाका उदास मुख देखकर पूछा—"मानू, आज फिर तू इतनी उदास क्यों है ?"

मनोरमाने हँसकर कहा—"कुछ नहीं, यों ही तो बैठी थी। इस वक्त तो जरा सुशीलकी याद आ गयी थी। क्या जानें उसकी तबीयत कैसी है ?"

नूरा—"उसके लिए इतनी चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं है! बी० ए० की पढ़ाई है, फुर्सत न मिलनेके कारण न आ सका होगा। उसने पास होनेकी सूचना तो भेज ही दी थी, चिन्ता काहेकी।"

मनोरमा—"जी बड़ा पापी है नूरी। बहुत समझाती हूँ, तसल्ली नहीं होती; इधर तेरे जानेकी याद आते ही तबीयत न-जानें क्यों घबराने लगती है।"—यह कहकर मनोरमा रोने लगी।

सखीकी जुदाईका दुःख-सागर जहाँनाराकी आँखोंमें भी उमड़ पड़ा। थोड़ी देरमें उसने हृदयको थामकर कहा—"मानू, अगर जिन्दगी बितानेके लिए यहाँ कोई भी जरिया होता तो मैं तुझे छोड़कर हर्गिज वहाँ न जाती। कुछ—"

"मनोरमा देवी !" की आवाज फाटकपर सुनाई पड़ी।

जहाँनाराने चौंककर पूछा—"कौन ?"

आवाज आयी—"रजिस्ट्री चिट्ठी आयी है।"

दोनों ही शीघ्रतासे उठकर चिट्ठी लेनेके लिए फाटकपर आ गयीं। मनोरमाने हस्ताक्षर करके लिफाफा ले लिया। डाकिया चला गया। फाटक बन्द करके दोनों भीतर चली आयीं। पत्र खोलकर देखा, तो उसमें पाँच रुपयेका एक नोट और एक कागज था। कागज चौपता रहनेपर भी यह मालूम होता था कि उसके भीतर कुछ लिखा हुआ है। जहाँनाराने उकताकर पूछा—"किसकी चिट्ठी है मानू ?"

मनोरमा चिट्ठी खोलकर नूराको सुनाने लगी—

"माँ, प्रणाम। मैं तेरे सामने स्वयं लज्जित हूँ। तू समझती होगी, सुशील भूल गया; पर मैं अपने हृदयका हाल किससे कहूँ! हर वक्त मेरी आँखोंके सामने तेरा भूखसे व्याकुल चेहरा नाचा करता है! मैं लाचार था। अभीतक मेरे पास एक पैसेका भी ठिकाना नहीं था, यह बात मैं पिछले पत्रमें लिख चुका हूँ। इधर मुझे तीन ट्यूशन मिल गये हैं। अपना खर्च बाद देकर मेरे पास पाँच रुपये बचे थे, उसे मैं इस पत्रके साथ ही तेरे पास भेज रहा हूँ। इतनेसे अपना काम चलाना, तबतक मैं दूसरे महीनेमें यदि काम इसी तरह बना रहा तो फिर कुछ भेजूँगा। यहाँ शीघ्र ही साहित्य-सभा होनेवाली है, इसीसे मैं गर्मीकी छुट्टीमें भी नहीं आ सका। माँ, मुझे क्षमा करना। अबकी छुट्टी होते ही आकर दर्शन करूँगा। अज्ञ पुत्र—

सुशील"

रो-रोकर मनोरमाने पत्र समाप्त किया। इस रजिस्ट्रीसे उसे बहुत कुछ शान्ति मिली। जहाँनाराके दिलमें भी जो मनोरमाके प्रति चिन्ता थी, वह कम हो गयी। दोनोंके चेहरेपर प्रसन्नताकी झलक फिर दिखलाई पड़ी।

४०

कालेजके विद्यार्थियोंकी साहित्य-सभाका वार्षिक अधिवेशन बिलकुल नजदीक था। यह सभा कई वर्षोंसे अपना काम करती आ रही थी। इस सालका अधिवेशन बड़ी धूमधामसे होनेवाला था। गर्मीकी छुट्टीमें इस साल सब लड़के यहीं रहकर सभाकी तैयारीमें लगे हुए थे। बाहरके कौन-कौन सज्जन आमंत्रित किये जायँगे, उन लोगोंके ठहरनेका प्रबन्ध कैसा किया जायगा, टिकट वगैरहका प्रबन्ध कौन करेगा, आदि तमाम

कामोंका विभाग करके सब लड़के उसी सभाके काममें तन्मय थे। और लड़कोंकी भाँति सुशील भी उसीमें लगा हुआ था । ट्यूशनकी फीस मिलते ही उसने कालेजकी फीस तथा अपना खर्च बाद देकर बाकी पाँच रुपयेका नोट माँके नामसे रजिस्ट्री चिट्ठीमें भेज दिया था। इस सालकी सभाके सभापति पंडित बालनाथ विद्यालंकार होनेवाले थे। यह सभा इन्हीं महाशयकी स्थापित की हुई थी। छात्रोंकी कविताओंका निरीक्षण करके पुरस्कार निश्चित करनेके लिए प्रबन्धक समितिने कई काव्य-मर्मज्ञोंको चुन रखा था।

सभा होनेके कई दिन पहले ही विद्यालंकार महाशय बहुत बीमार पड़ गये। लड़कोंकी सभाका वार्षिक अधिवेशन कुछ आगे बढ़ाना उचित न समझकर उन्होंने अपने एक योग्य और अनुभवी काव्य-मर्मज्ञ शिष्यकी अध्यक्षतामें सभाका कार्य होनेकी सूचना लड़कोंके पास भेज दी। उनके शिष्यका नाम क्या है? किसीको कुछ मालूम नहीं हुआ। विद्यालंकारके निश्चित करनेसे भविष्यमें होनेवाले नये सभापति महाशयके ऊपर सब लड़कोंकी अटूट श्रद्धा हो गयी थी।

उसी दिन वर्षाके अन्तका प्रभात था। पक्षियोंकी चहचहाहटसे आकाश गुञ्जरित हो रहा था। परिश्रमी छोटे बालक अपने-अपने घरोंमें ब्रह्म-बेला समझकर अपना-अपना पाठ घोख-घोखकर सरस्वती देवीका अनुशीलन कर रहे थे। वृद्ध-मंडली सारे दिनके कल्याणसूचक प्रभुके नामोच्चारणमें तत्पर थी, भिखमंगे भोरही अलापते जहाँ-तहाँ जा रहे थे। आज साढ़े दस बजे साहित्य-सभाकी बैठक होनेवाली थी। सब लड़के अपने-अपने काममें तन्मय थे। सुशील इलाहाबादमें पद्मकोट मुहल्लेमें अपने एक मित्रके मकानसे बाहर हुआ। देखा, पौ फटते ही अपनी प्रेयसी निशा-नायिकाका वियोग समझ चन्द्रमाकी मुखच्छवि मलिन हो रही थी। तारागण भी एक-एक करके अदृश्य हो रहे थे—ऐसा मालूम होता था मानो सूर्य लक्का कबूतरकी भाँति अपनी काबुकसे निकलते ही चावलकी बड़ी-बड़ी किनकी-रूपी उन ताराओंको एक-एक करके चुँग रहा है, अथवा

यों कहिये कि कालकैवर्त आकाश-रूपी महासरोवरमें निशा-रूपी जाल बड़ी दूरतक प्रसारित करके मछलियोंको एक साथ समेट रहा है, या प्रातः-सन्ध्या अपने रक्तोत्पल-सदृश हाथको चारों ओर फैलाकर अपनी प्रिय-सखी वासर-श्रीका उसके कान्त दिनमणि-दिवाकरके मिलनेका समय जानकर इन तारा-मौक्तिकोंका हार उसके निमित्त गुन्थन करनेके लिए इन्हें बटोर रही है। इस दृश्यसे सुशीलका हृदय पुलकित हो उठा। उसके अधरोंपर मधुर हँसीकी रेखा खिंच गयी थी। उसका रोम-रोम प्रफुल्लित हो गया था। गत वर्षकी सभाका स्मरण करके उसका सारा दुःख भूल गया। यद्यपि पिछले सालमें सुशीलकी कविता कोई उच्च-कोटिकी नहीं हुई थी, तथापि मानव-स्वभावके चित्रणकी पटुता देखकर प्रवीण निर्वाचकोंके मुखसे यह भविष्य-वाणी निकल पड़ी थी कि "अंकुर देखकर वृक्षका निर्णय सरलतापूर्वक किया जा सकता है। आगामी वर्ष अवश्य ही यह लड़का पहला स्थान ग्रहण करेगा, इसमें जरा भी सन्देह नही है।" वही बात इधर कई दिनोंसे सुशीलके मनमें उमड़ रही थी।

सभाके प्रबन्धका भार अन्यान्य लड़कोंपर था। सुशील सब झंझटोंसे बिल्कुल अलग था। वह संस्कृतके बाल्मीकि, भवभूति, भारवि, कालिदास, श्रीहर्ष, जयदेव, तथा पश्चिमी देशोंके शेक्सपीयर, मिल्टन, होमर··· आदि महाकवियोंकी रचनाओंमें विलीन रहता था। अभीतक उसे भी नये सभापतिका नाम नहीं मालूम हुआ था। हाँ, यह बात जरूर मालूम हो गयी थी कि इस वर्षकी काव्य-परीक्षामें उत्तीर्ण प्रथम श्रेणीके लड़केको स्वर्ण-पदक और द्वितीय श्रेणीके लड़केको रौप्य-पदक दिया जायगा।

सभा-मंडपमें नये सभापतिके प्रवेश करते ही सब लड़के आपसमें एक दूसरेसे फुस-फुस करने लगे कि सभापति महाशयका कितना सुन्दर चेहरा है! कोई कहता था कि 'ऐसा सुन्दर पुरुष मैंने अभीतक नहीं देखा था।' सभा-भवनमें पूर्ण शान्ति विराज रही थी। प्रस्ताव और समर्थन हो जानेके बाद सभापति महोदय अपने आसनपर बैठ गये। सुशीलने भी सभापतिका दर्शन किया। देखते ही उसके हृदयमें जो उज्ज्वल मध्याह्नकालके सूर्यकी

किरणका प्रकाश जगमगा रहा था, वह सन्ध्याके अन्धकारमें लोप हो गया। सभापतिका स्वरूप ऐसा नहीं था कि लोग एक-दो बार उनकी तरफ देखकर दूसरी ओर देखने लगते। उनका विशेषतापूर्ण उन्नत शरीर, धवलगिरि-सन्निभ शुभ्र वर्ण, शान्त-गम्भीरमयी दृष्टि और सुडौल मंडलाकार मुख देखते ही बनता था। किन्तु सुशीलके मनमें ऐसा हो उठा कि इस संसारमें तो दो-एकके पाससे उसे जो एक वस्तु मिली है, उसका भी अपहरण करनेके लिए यह सभापति महाशय यहाँ बैठे हैं। उसके मनमें अपरिचितके प्रति अकारण ही कुछ द्वेष-सा उत्पन्न हो आया।

एक-एक करके बहुतसे लड़कोंने अपनी-अपनी कविता पढ़ सुनायी। सुशीलकी भी बारी आ गयी। सुशीलताकी मूर्ति सुशील लज्जित भावसे अपनी कविता पढ़कर सुनानेके लिए खड़ा हुआ। यदि यह कविता उसकी बनायी हुई न होती तो सम्भवतः उसे इतना संकुचित न होना पड़ता। अपरिचित सभापति महाशयको यह कविता न-जानें कैसी जँचेगी, यही बात सुशीलके हृदयमें रह-रहकर पैदा होती थी।

सभापतिके बगलमें ही काव्य-निरीक्षक समितिके सभासद बैठे थे। उनमेंसे एक सज्जन सभापतिके साथ आये थे। सुशील अपनी कविता पढ़कर ज्यों ही चुप हुआ, त्यों ही उन्होंने कहा—"इसे एक बार और पढ़िये तो—बड़ी प्यारी और मनोहारिणी कविता है। वाह भाई वाह! कवितामें ओज, माधुर्य और भावुकताकी तो पराकाष्ठा है!"

सुशीलका चेहरा भर आया था। किसी तरह उद्वेलित कण्ठ-स्वरपर अधिकार जमानेकी पूर्ण चेष्टा करके सुशीलने फिर पढ़ सुनाया।

"जीते रहो, भाई, जीते रहो! त्रिपाठीजी इस 'मातृ-वन्दना' शीर्षक कवितापर ही प्रथम पुरस्कार दीजिये। यह बड़ा ही भावुक लड़का है। इस कवितामें अपूर्व गम्भीरता है। एक भी कविता इसके टक्करकी सुननेमें नहीं आयी।"

सभापति महाशयने बाकी और कविताओंपर बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया। सुननेमें उनका दिल ही नहीं जमा। अन्यमनस्क भावसे

वह एकटक न-जानें क्यों सुशीलके मुखकी ओर निहारने लगे। यदि किसी कामसे एकाध बार उनकी दृष्टि दूसरी तरफ जाती थी, तो व्यग्रतापूर्वक तुरत ही लौटकर सुशीलके चेहरेपर आ जाती थी। सुशील भी रह-रहकर उनकी ओर देखता था, पर उन्हें अपनी ओर गौरसे देखते देखकर सिर नीचा कर लेता था। सुशीलकी तरफ गम्भीर दृष्टि गड़ानेका एक कारण और भी हो सकता है। क्योंकि सुशीलकी सुन्दरता भी शतमुख सराहना योग्य थी। कोई भी अपरिचित व्यक्ति एक बार उसे नजर भरकर देखे बिना सन्तुष्ट नहीं हो सकता था। घबराहटके कारण सुशीलका शरीर पसीनेसे तर हो गया था। पसीनेकी बूँदें उसके गालोंपर कुछ-कुछ खिले हुए सफेद सिंधुवारकी मंजरीके समान सुशोभित हो रही थीं। पन्द्रह वर्षकी अवस्थावाले सुशीलकी अपूर्व भावुकता, वास्तवमें सभापति महाशयको हिला देनेकी वस्तु थी। थोड़ी ही देरमें परीक्षार्थी बाकी चार-पाँच लड़कोंकी भी कविताएँ समाप्त हो गयीं। परीक्षक समितिने आपसमें परामर्श करके प्रथम श्रेणीका स्वर्ण-पदक 'मातृ-वन्दना'की कवितापर देनेके लिए सभापतिसे कहा।

सभापति महाशयने मित्रोंकी ओर देखकर कहा—हाँ, मैंने भी यही स्थिर किया है। अच्छा आपलोग द्वितीय श्रेणीमें कौन-सी कविता समझते हैं?

परीक्षक समितिकी रायसे एक सज्जनने कहा—"यह देखिये हरएकपर सिलसिलेवार नम्बर लगा दिया गया है, अब आपको जो जँचे, उसे चुन लीजिये।" यह कहकर आत्माराम महाशयने सब कविताएँ सभापतिको दे दीं। उन्होंने सबपर दृष्टि डालकर कहा—"द्वितीय पुरस्कार 'राष्ट्रीय झण्डे' की कवितापर देना चाहिये। अवश्य ही इनमेंसे चार-पाँच कविताएँ और भी प्रशंसाके योग्य हैं, एवं हमें यह भी आशा है कि भविष्यमें किसी-न-किसी दिन इन कविताओंके रचयिताओंसे हिन्दी-साहित्यकी अवश्यमेव वृद्धि होगी। इस सम्बन्धमें हमें जो कुछ और कहना है वह पीछे कहेंगे। इस समय तो सबसे पहले दोनों पुरस्कृत छात्रोंका सम्मान करना ही हमारा

कर्त्तव्य है। प्रथम पुरस्कृत 'मातृ-वन्दना' पर कविता करनेवाले छात्रका नाम क्या है? पदकपर और सब लिखा हुआ है, केवल नाम खोदनेके लिए जगह छूटी है। उसे इसी समय खुदवा दिया जायगा।"

पुरस्कार ग्रहण करनेके अभिप्रायसे समीपमें एवं सामने आया हुआ सुशील श्रद्धाकी दृष्टिसे नवीन सभापतिके मुखकी ओर देख रहा था। नाम क्या है, सुनते ही प्रसन्न-मुख सुशीलने सभापतिके सामनेकी टेबुलपर हाथ रखकर कहा—"सुशीलकुमार त्रिपाठी।"

नाम सुनते ही सभापति महाशयके हाथसे पदक जमीनपर गिर पड़ा। उपसभापति आत्माराम महाशयने निहुरकर पदकको उठाकर सभापति महाशयके हाथमें दे दिया। कहा—"राजेन्द्रजी, मैं देखता हूँ कि इसमें पिन भी नहीं है। पहनाया किस तरह जायगा? खैर, कोई हर्ज नहीं, लड़केके हाथमें ही दे दीजिये।"

जिस तरह वीणाकी तानसे कुरंग उत्कर्ण होकर फिर जाता है, उसी तरह "राजेन्द्रजी" शब्द सुनते ही सुशील आमंत्रित सभापतिकी ओर चकित नेत्रोंसे देखने लगा। थोड़ी देरके लिए बहुत दिनोंसे सोयी हुई उत्कट अभिलाषाकी पूर्त्तिसे उसके हृदयमें आनन्दधारा उमँड़ पड़ी। उसका शरीर एक बार जोरोंसे काँप उठा। मस्तक झुक गया। कौन जाने अविश्वासके कड़े तापसे झुलस जानेके कारण उसका माथा झुका, अथवा किसीके चरणोंपर गिरनेकी लालचसे। किन्तु हाय! यह भाव केवल क्षणमात्रके लिए ही था। क्षणभर बाद ही सुशीलके हृदयमें अँधेरा छा गया। उसका कमलके फूलके समान विकसित चेहरा मुरझा गया। हाथसे जरासा स्पर्श होते ही सुशील न-जानें जान-बूझकर या बिना जाने—यह कहना कठिन है—अपना हाथ शीघ्रतासे खींचकर दो कदम पीछे हट गया। ऐसा मालूम हुआ, मानो यह स्पर्श बिच्छूके डंकका था। क्या होते क्या हुआ—बुद्धिमें समझनेकी या करनेकी कुछ भी शक्ति उनमें नहीं रह गयी। सुशीलको इतना मालूम हुआ कि आत्माराम महाशयके बार-बार अनुरोध करनेसे राजेन्द्रका थरथर काँपता हुआ हाथ

उसे पारितोषिक देनेके लिए उद्यत होकर आ रहा है। मालूम होता है, उनमें बैठ जानेकी भी शक्ति नहीं रह गयी थी। किन्तु यह सब कोण्ड किसके लिए और क्यों हुआ, कहा नहीं जा सकता। हठात् वह धमसे बैठ गये और तुरन्त ही मूर्छित होकर जमीनपर गिर पड़े। लोगोंने उन्हें गिरनेसे बचानेकी पूरी चेष्टा की, पर वह सँभल न सके।

४१

चन्द्रकला घरमें नहीं थी। गृहलक्ष्मी कार्यालयके निमंत्रणमें गयी थी। वहाँ स्त्रियोंकी सभामें गाना-बजाना, हँसी-दिल्लगी हो रही थी। उसकी एक सहपाठिनी गोरखपुरसे आयी हुई थी। बहुत दिनोंके बाद भेंट होनेके कारण वह उसीके साथ गपाष्टक कर रही थी। इतनेमें उसे दुःसम्वाद मिला।

घर आकर देखा कि नौकरों-सहित आत्माराम महाशय एक तरफ उदास खड़े हैं और डाक्टर साहब रोगीको देख रहे हैं। अच्छी तरह चिकित्सा कर चुकनेके बाद डाक्टरने कहा—"इनके शरीरमें तो कुछ भी नहीं हुआ है!"

स्वामीकी दशा देखते ही चन्द्रकलाको अपने शरीरकी कुछ भी सुध नहीं रह गयी। सबलोगोंके सामने होनेमें जरा भी संकोच उसके हृदयमें पैदा नहीं हुआ। व्यग्रतापूर्वक पूछा—"तो फिर ऐसी हालत क्यों हो रही है?"

डाक्टर—"मालूम होता है, यह किसी चीजसे अधिक डर गये हैं। पर ठीक बात क्या है, कुछ समझमें नहीं आती। जरूर इनके हृदयपर गहरा धक्का पहुँचा है।"

इतनी बात होते ही एक डाक्टर और आ गये। रोगीको देख चुकने-पर इन्होंने भी पहलेके डाक्टरकी तरह ही अपना विचार प्रकट किया।

रोगीका दुःख दूर करनेके लिए दोनों डाक्टर यत्न सोचने लगे। किसी तरहके आकस्मिक आघातसे ही यह दशा हुई है। सम्भव है मूर्छित हो जानेके कारण मस्तिष्कमें चोट आ गयी हो। किन्तु इस तरह मूर्छित होकर गिरनेका कारण क्या है ? कहा नहीं जा सकता। हृदयपर किसी तरहकी चोट लगनेके कारण चक्कर आ गया होगा, अथवा अधिक देरतक बैठे रहनेके कारण सिरमें गर्मी आ गयी होगी। जो भी कारण हो, यह निश्चय है कि गिरनेके कारण ही इनकी यह हालत हो रही है। किन्तु है यह दशा बहुत ही शोचनीय।

दो लड़के सहायता करनेके लिए साथमें आये थे। जब ये दोनों आज्ञा लेकर जाने लगे, तब चन्द्रकलाने बाहर आकर उनसे पूछा—"वहाँ क्या हुआ था इन्हें ?"

लड़कोंको जो कुछ मालूम था उन्होंने कह दिया। इस अभावनीय घटनाके पहले इनका जैसा स्वास्थ्य था, उसे देखकर सब लड़के आपसमें आलोचना कर चुके थे। कहाँपर किसके कारण क्यासे क्या हो जाता है, अल्पज्ञ मनुष्य-बुद्धि क्या उसे कभी समझ सकती है ? लड़कोंने इनकी पहलेकी स्वस्थताका वर्णन करते हुए कहा—"इन्होंने ज्यों ही पदक देनेके लिए हाथ बढ़ाया, त्यों ही वह न-जानें क्यों घबराकर पीछे हट गया और यह भी कुर्सीपर बैठते-बैठते जोरोंसे पछाड़ खाकर गिर पड़े। डाक्टर कहते थे कि जरूर यह किसी भयसे गिर पड़े, किन्तु मेरा खयाल है कि यह बात नहीं है; क्योंकि इनका हाथ कुछ पहलेसे ही थर-थराने लग गया था। तुमने देखा न विजय ! पहली बार ही जब यह पदक देना चाहते थे, तब पदक हाथसे जमीनपर गिर पड़ा था और इनका हाथ कैसा गनगन काँप रहा था ?"

चन्द्रकलाके माथेपर मोतीके दानेकी तरह पसीनेकी बूँदें गुँथ गयीं। यह भय उसके मनमें पहलेसे ही था। उसने फिर पूछा—"उस लड़केका नाम क्या है ?"

"किसका ?—अच्छा, क्या आप सुशीलका नाम पूछ रही हैं ?

सुशीलकुमार त्रिपाठी। किन्तु उसके कारण इन्हें कुछ नहीं हुआ है। उसका कोई भी व्यवहार ऐसा नहीं हुआ था ! उसके प्रति आप किसी तरहकी बात अपने मनमें न लावें। वह देखनेमें बड़ा ही सुन्दर और सब लड़कोंसे अधिक सुशील तथा नम्र है। सुशील सचमुच ही बे-जोड़ बालक है।"

दूसरे लड़केने कहा—"बिचारा बहुत गरीब लड़का है।"

बहुत देरतक किसीके मुँहसे कोई शब्द नहीं निकला। देखते-देखते अँधेरा होने लगा। पश्चिम-दिशाका लाल-वर्ण कमलवत् सूर्य-मंडल जब अलक्ष्य हो गया, गगन-सरोवरकी विकसित कमलिनीके समान सन्ध्या दीखने लगी, काले अगरुकी पत्र-लताके समान तिमिर-रेखाएँ दिशाओंके मुखमें फैलने लगीं और कुबलय वनके समान अन्धकार रक्त कमलाकरके सन्ध्या-रागको दूर करने लगा, तब दोनों लड़के वहाँसे रवाना हुए। पाँच-सात सीढ़ियाँ उतरते ही पीछेसे आवाज आयी—"आपलोग जरा सुनकर जाइयेगा। एक जरूरी काम है।"

चन्द्रकलाने लड़कोंके समक्ष जाकर कहा—"उस लड़केको एक बार यहाँ नहीं भेज सकते ?"

"सुशीलको ? क्या वह आवेगा ? वह कहीं भी आता-जाता नहीं। वह हमलोगोंसे भी बहुत ही कम बातें करता है। पहले वह ऐसा नहीं था; किन्तु पिछले वर्ष परीक्षामें तृतीय श्रेणीमें पास होनेके कारण अब उसका स्वभाव ही बिलकुल बदल गया है। इसके अलावा उसे समय भी तो नहीं है ! तीन जगह उसे पढ़ानेके लिए जाना पड़ता है।"

चन्द्रकलाने व्यग्र होकर कहा—"यह काम आपलोगोंको करना ही पड़ेगा ! जाकर डाक्टरोंकी राय सुना देनेसे काम ठीक हो जायगा। इनका जीवन कितना संकटमय हो रहा है, यह खबर पानेपर ऐसा कौन आदमी है, जो नहीं आवेगा ? गाड़ी तैयार करा देती हूँ, सुपरिण्टेण्डेण्टसे कहकर उस लड़केको भेजवा दीजियेगा। भूलियेगा नहीं।"

इस तरह गिड़गिड़ाकर धनी-कन्या चन्द्रकलाने क्या और कभी

किसीसे बातें की थीं ? किन्तु आज उसपर ऐसा ही समय आ गया है। कैसा कुसमय है, वही जान सकती है। स्वामीका हृदय अपनी ओर खींच न सकनेपर भी वह अपनी मान-मर्यादाके ऊपर दृष्टि डालकर सब बातें अच्छी तरह समझती थी। और फिर अब क्या चन्द्रकलाका स्वभाव पहलेकी तरह रह गया है ?

जब वह स्वामीके पास लौटकर आयी तो उनके मुँहकी ओर देखते ही उसका कलेजा गल-गलकर आँखोंके रास्ते आँसू-रूपमें गिरने लगा। जिस तरह नया शिकारी अपने शिकारकी तरफ अखंड दृष्टि लगाये रहता है, उसी तरह चन्द्रकला पलँगपर लेटी हुई स्तब्ध स्वामीकी मूर्त्तिकी तरफ देखने लगी। क्या भीतरकी ज्वाला उसका कलेजा पिघलाकर भी शान्त न होगी ?

राजेन्द्र आँखें खोलकर इधर-उधर अपनी कोई खोयी हुई चीज ढूँढ़ते-से मालूम हुए। किन्तु डाक्टर लोग वहीं मौजूद थे। उन्होंने कहा—"आइसबैग अभी बन्द नहीं करना होगा।"

बाहरसे किसीने आवाज दी। चन्द्रकलाने जाकर देखा कि और कोई नहीं है सिर्फ उसका मोटर-ड्राइवर है और उसके हाथमें एक पत्र है। वह पत्र उन्हीं दोनों लड़कोंमेंसे किसीके हाथका लिखा हुआ था। पत्र लेकर चन्द्रकलाने पढ़ा—

"श्रीमतीजी,

सादर प्रणाम ! सुशीलको भेजना, हमलोगोंके वशकी बात नहीं है: यह बड़ा ही हठी है। कहता है कि 'बड़े आदमियोंके यहाँ मेरे जानेकी क्या जरूरत है ?' आपकी इस छोटी आज्ञाका पालन भी न कर सकनेके कारण हमलोग बड़े लज्जित हैं। किन्तु आप विश्वास करें, हमलोग पूरी चेष्टा करके हार जानेपर यह पत्र आपको लिख रहे हैं। आशा है आप क्षमा करेंगी।

प्रार्थी—
विजय"

चन्द्रकला कमरेमें आयी और कपड़ेमें बर्फ लपेटकर स्वामीके माथेपर फेरने लगी। राजेन्द्रकी एक बार फिर आँखें खुलीं। उस शीतल स्पर्शसे खोयी हुई वस्तुके आनेका समाचार मालूम हुआ। सुश्रूषा करनेवालीके मुँहकी ओर उन्होंने देखा—पर इच्छा पूर्ण न होते ही फिर आँखें पूर्ववत् ढँक गयीं। चन्द्रकलाने बड़े ही आर्त्तभावसे पूछा—"अब कैसी तबीयत है ?"

राजेन्द्रने इस प्रश्नका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। उनकी आँखें भी उसकी ओर नहीं फिरीं। बहुत देरके बाद लम्बी साँस लेकर अपने-आप ही कहने लगे—"यह तो लड़केके हाथका लिखा हुआ नहीं है, वरन् उसके महान् हृदयकी यह सच्ची आवाज शरीरके खूनसे अंकित है ! कैसा यह लड़का है ? कौन है,—रे ? ओह ! क्या सच्चा और साफ चित्र है !"

चन्द्रकला दाँतोंके नीचे ओठ दबाकर हिम्मत करके बैठी हुई थी। डाक्टरोंकी कही हुई बात उसके हृदयमें रह-रहकर लहरकी तरह उत्पन्न होती थी !

डाक्टरोंने फिर कहा—"अच्छा अब रोगीकी हालत कुछ सुधर रही है; लेकिन इतने सुधारपर अभी विश्वास नहीं किया जा सकता।"

विपत्तिकी काल-रात्रि धीरे-धीरे बीत चली, आकाश बूढ़े कबूतरके पंखेकी भाँति धूमिल हो गया और तारागण भी झिलमिलाते हुए मंद-मंद दीखने लगे। एक बार रोगीके मुँहकी ओर देखकर चन्द्रकला व्याकुल हो गयी। गम्भीर और अव्यक्त दुःखसे उसका हृदय भस्म होने लगा। स्वामीकी इस अवस्थाके लिए वह आज न तो दृढ़तापूर्वक भाग्य-विधाताको ही दोष दे सकती थी और न परमात्माके समीप आरोग्य-भिक्षा ही माँग सकती थी। उसके हृदयमें यह आवाज गूँज रही थी—"तेरे इस दुर्भाग्यके लिए भाग्य और भगवान् नहीं, तू ही जिम्मेदार है।" जोरसे चिल्लानेकी इच्छा हुई; किन्तु कण्ठसे आवाज निकली ही नहीं। ज्यों-ज्यों सूर्योदयकी लाली दिशा-विदिशाओंमें प्रसारित होकर अन्धकारको टूक-टूक करती जा रही थी, त्यों-त्यों चन्द्रकलाका अन्धकारमय हृदय

स्वामीके दुःखकी ज्वालासे चूर-चूर होने लगा। उस ज्वालाके दहकनेसे आवाज पैदा होती थी—"पति-घातिनी! छुरी भोंककर ही हत्या की जाती है, सो नहीं है; ले अच्छी तरह असपत्न आधिपत्यका भोग कर!" सामने मुँह करके देखनेपर डाक्टर, नौकर एवं मित्र-मंडली दिखाई पड़ी। फिर संकोचके मारे कुछ न कह सकी, बैठी हुई नीचे सिर करके जमीनकी ओर निहारने लगी। मुँह फेरकर फिर किसीकी ओर न देख सकी।

४२

भोरमें करीब चार बजे रघुनाथ सिंह सुशीलके दरवाजेपर जोरसे धक्का देकर पुकारने लगा—"बाबू साहब! ओ सुशील बाबू!! आपके नामकी चिट्ठी है। दरवाजा खोलिये।"

रघुनाथ सिंहकी आवाज सुनकर थोड़ी देरतक तो सुशील मठेसकर भीतर पड़ा रहा, अन्तमें इससे छुटकारा होनेकी कोई आशा न दिखाई पड़नेपर उसने तेजीसे उठकर दरवाजा खोल दिया और बड़े क्रोधसे कहा—"बात क्या है जी! मैंने क्या किसीके घरमें डाका डाला है कि भोर होते ही इस तरह आफत मचा रहे हो?"

रघुनाथ सिंहकी तबीयत ठीक नहीं थी। सुशीलकी यह बात सुनते ही उसने डपटकर कहा—"डाका मारा है कि नहीं मारा है सो हमको क्या मालूम? इतना गरम क्यों होते हो। हमको तो यह आदमी पकड़कर ले आया, नहीं तो हम क्यों आते।"

इतना कहकर रघुनाथ सिंह अपने स्थानपर चला गया। सुशील भी लौटकर दरवाजा बन्द करने लगा। इतनेमें हरिहर सिंहने जेबसे एक लिफाफा निकालकर सुशीलके सामने धर दिया और कहा—"यह चिट्ठी बहू-माँने आपको भेजी है।"

सुशीलने कहा—"किसी दूसरेको भेजा होगा—यह चिट्ठी मेरी नहीं है।"

हरिहर सिंहने कहा—"नहीं, हुजूर आपकी ही है। सुशीलकुमार आपका ही तो नाम है!" यह कहकर वह चिट्ठी सुशीलको देने लगा। जब सुशीलने हाथ फैलाकर पत्र नहीं लिया, तब उसने उनके मुड़े हुए हाथपर अटकाकर लिफाफा रख दिया और हाथ जोड़कर कहने लगा—"बेअदबी मुआफ कीजियेगा, बहू-माँने कहा है कि आज आपको जरूर चलना चाहिये। सरकारकी तबीयत बहुत खराब है, आपको खोजते थे। आप—"

हठात् उसने देखा कि दरवाजा बन्द हो गया। सुशीलने भीतरसे सिकड़ी बन्द कर ली। बहुत देरतक हरिहर दरवाजेपर खड़ा आवाज देता रहा, किन्तु भीतरसे कुछ भी आवाज उसे न मिली। लाचार होकर वह वापस चला गया। विजय और श्रीकृष्ण भी उसकी सहायता करनेके लिए आये थे; किन्तु भीतरसे कोई उत्तर न मिलनेपर वे भी क्रुद्ध होकर चले गये।

इसके पहले भी शामके वक्त एक बार इसी तरहका नाटक हो चुका था। उस बार भी विजय और श्रीकृष्णने बड़ी कठिनाईसे दरवाजा खुलवाया था। किन्तु अपनी दौत्य-चेष्टामें सफल न हो सके। तीव्र हँसी और रूखी बातोंसे सुशीलने दोनोंको उदास कर दिया था। वह कलसे खानेके लिए भी बाहर नहीं निकला। नौकरके पुकारनेपर उसने यह कहकर टाल दिया था कि—"तबीयत ठीक नहीं है, आज मैं कुछ भी न खाऊँगा।"

सबेरे रविवारका दिन था। इधर-उधर झाँककर छातेकी आड़में मुँह करके सुशील चुपकेसे घरके बाहर हो गया। बहुत देरतक इधर-उधर भटकनेके बाद अन्तमें वह एक ऐसी जगहपर पहुँचा; जहाँ मध्याह्नकालमें ही सूर्य प्रायः अस्तागामी हो रहे थे। चारों तरफ दृष्टि डालकर देखा कि इलाहाबादकी जनता और कोलाहल यहाँ बिलकुल ही नहीं है। न तो यहाँपर विशाल भवनोंकी पंक्तियाँ ही हैं और न गाड़ियोंकी भरमार ही।

जहाँ-तहाँ बँगले बने हुए हैं। सड़कपर बड़े आदमियोंकी एकाध गाड़ियाँ बहुत देरके बाद चली जाती हैं। यहाँ दूकानोंका तो कहीं नाम-निशान भी नहीं। वह यह दृश्य देखकर चकित हो उठा। यहाँ दूकानोंकी जगह वृक्षोंकी पंक्तियाँ थीं। जगह-जगह बगीचे भी थे, वे ऐसे थे, मानो उद्यान-रूपी दूकान सजाकर वृक्ष-रूपी दूकानदार पूरी आलमस्तीके साथ ऊँचा सिर करके बैठे हुए हैं। सुशील घूमते-घूमते थककर एक आमके पेड़के नीचे बैठ गया। हाय! आज उसे इस अपरिचित स्थानमें आनेके लिए किसने सलाह दी? सारा दिन आज भी समाप्त हो गया पर सुशीलकी अन्न-जलसे मुलाकात न हुई।

श्रान्त सुशील जहाँपर बैठा हुआ था, ठीक उसीके सामने पश्चिम तरफ एक बहुत बढ़िया रमणीय मन्दिर था। एक-एक दो-दो करके दर्शक मन्दिरमें प्रवेश कर रहे थे। उसके भीतर गाना-बाजाना हो रहा था। सुशीलको संगीतसे बड़ा प्रेम था। वह इतनी छोटी अवस्थामें ही संगीतके महत्त्वपर दो-तीन लेख लिख चुका था। वे लेख मासिक-पत्रोंमें प्रकाशित भी हो चुके थे। लोगोंने उन लेखोंकी बड़ी प्रशंसा भी की थी। किन्तु वही सुशील कौन-सा मुँह लेकर जायगा? क्या इसकी उदास मूर्त्ति-पर लोग टकटकी लगाकर नहीं देखेंगे? क्या मन्दिरमें दर्शन करनेके लिए सुशीलका कोई मित्र नहीं आ सकता? यदि किसीसे भेंट हो जायगी, तो वह क्या उत्तर देगा? थोड़ी ही देरमें सुशीलकी मन्दिरमें जानेकी इच्छा शान्त हो गयी। फिर उसी पुरानी चिन्तामें फँस गया। तो क्या जिसे वह 'बाबूजी' नामसे पुकारनेके लिए बचपनसे लालायित था, उसके पास जाकर अपनी इच्छा पूर्ण करना चाहता है? कदापि नहीं। जो उसकी आजतक इच्छा पूरी नहीं कर सका, जिसके कारण उसे इतना अपमानित होना पड़ा, उसपर उसका विश्वास ही कैसे हो सकता है? यदि वह यह कह देंगे कि इसे आँखोंके सामनेसे हटा दो, तो फिर सुशीलकी क्या गति होगी!

उसका यह रोष कुछ देरके बाद शान्त हो गया। स्तब्ध चिन्ता-मग्न

सुशील सहसा किसी पक्षीके कर्कश चीत्कारसे चौंक पड़ा। उस समय रवि-मंडल नीचे गिर चुका था। दिवसने नीचे लटकते हुए पल्लव-सदृश लाल सूर्य-बिम्बके कमल-रागको पोंछ दिया था। धीरे-धीरे सूर्यका अन्तिम चित्र भी लुप्त हो गया और उसके स्थानपर चिताकी आगकी भस्म लपेटे हुए रक्त-धूसरित कृष्ण पक्षकी द्वितीयाका चन्द्रमा पश्चिमाकाशमें दिखाई पड़ा। इसी समय सुशीलके हृदयकाशमें एक चित्र और उदय हुआ। लम्बी साँस लेकर वह उठकर खड़ा हो गया।

वह इस समय किसका विचार कर रहा था? वह जिस पिताका पुत्र है, उस पिताके समान भाग्यवान पुरुष इस संसारमें और कितने हैं? यद्यपि आज वह पितृ-कर्त्तव्यके स्वर्गसे गिर गया—किन्तु यदि पितृ-भक्तिका कोई भी अक्षय लोक होगा, तो वहाँके स्वर्ग-भोगसे क्या उसे देवलोक भी वंचित रख सकेगा? सुशील किसका लड़का है? माँकी शिक्षा क्या सुशील बिलकुल ही भूल जायगा? सुशील जिसका विचार कर रहा है, उसे कौन नहीं समझ सकता?

थोड़ी दूर आगे जाते ही 'पुराने फाटक' जानेकी सड़कका साइनबोर्ड दिखाई पड़ा। उसे देखकर सुशील चौंक उठा। इस अपरिचित स्थानमें किसकी प्रेरणासे वह भटक रहा है, यह जाननेसे वह वंचित नहीं रहा। एक बार स्मरण करके उसका हृदय दहल उठा।

इलाहाबादका वह मुहल्ला थोड़ी दूरमें नहीं है। धीरे-धीरे मुहल्लेभरमें सुशीलका चक्कर लग गया। जहाँ-तहाँ उसे उद्यानवाटिका दिखाई पड़ती थी, और जब-तब उसके हृदयमें किसी चीजका धक्का-सा लग जाया करता था। जहाँ कहीं वह मार्बिलपर खोदा हुआ अथवा लकड़ीपर किसी रंगसे कुछ लिखा हुआ देखता, खड़ा होकर पढ़ लेता और शोकाग्निसे जलती हुई साँस छोड़कर आगे बढ़ता था। इस तरह घूमते-घूमते वह दूसरे रास्ते-पर जा पहुँचा। उस समय चन्द्रमा उसके सिरपर आ गया था। उसका प्रकाश चारों तरफ छिटक रहा था। सुशील फिर थककर एक उद्यान-वाटिकाकी चहारदीवारीके बाहरी फाटकके छोटे चबूतरेपर बैठ गया।

सामनेकी उद्यान-वाटिकाके भव्य फाटकपर दृष्टि पड़ते ही संगमर्मरके ऊपर बड़े-बड़े सुनहले अक्षरोंमें लिखा हुआ उसे दिखाई पड़ा—"रायबहादुर पण्डित राजेन्द्रप्रसाद त्रिपाठी"—और भी न-जानें क्या-क्या नीचे लिखा हुआ था, किन्तु अक्षर छोटा होनेके कारण वह पढ़ा नहीं गया। देखते ही सुशील एकदम विकल और स्तम्भित होकर विह्वलता-पूर्ण व्याकुल नेत्रोंसे उसी लिखे हुए को पूर्ण मनोयोग-पूर्वक देखने लगा।

देखते-ही-देखते उसे मालूम हुआ कि मानो उसके चारों ओरकी पृथिवी करवट बदल रही है और सामने उसके पिताकी प्रकाण्ड अट्टालिकाके ऊपर एक निष्ठुर दैत्य खड़ा आँखें फाड़कर उसकी ओर घूर रहा है एवं उसके वेदनाहत हृत्पिण्डका रक्त पान करनेके लिए विकराल उल्लास-युक्त रुद्र ताण्डवसे अट्टहास कर रहा है। सुशीलने भयभीत होकर अपने नेत्र मूँद लिये।

अभीतक होस्टलके सुपरिण्टेण्डेण्ट सुशीलको बहुत अच्छा लड़का समझते थे। यद्यपि इन दिनों दो-चार लड़कोंके मुँहसे सुशीलकी तीव्र आलोचना भी सुन चुके थे, तथापि उनका पहला विश्वास टूटा नहीं था। आज जब सुशीलसे उन्होंने आधी रातके समय बोर्डिङ्गमें अनुपस्थित रहनेका कारण पूछा और सुशीलने कुछ भी उत्तर न देकर निष्कम्प दीपकके समान स्तब्ध रहकर नीची आँखें कर लीं, तब उनके दिलमें सन्देह पैदा हुआ। पहला अपराध होनेके कारण—अपराध बहुत बड़ा होनेपर भी कुछ जुर्माना करके सुपरिण्टेण्डेण्टने विरक्त भावसे सुशीलको शिक्षा देकर अच्छी तरह भले-बुरेका ज्ञान कराकर छोड़ दिया। यदि पहले कभी सुशीलके ऊपर इस तरह लांछन लगाया गया होता, तो वह कदापि न सह सकता; किन्तु आज जीवनके इस प्रथम धिक्कारको सम्भवतः अच्छी तरह जान न सकनेके कारण सुशीलने चूँतक नहीं किया। कमरेमें पहुँचकर बिछौनेपर पड़ रहा और असीम दैहिक और मानसिक श्रमके कारण निद्रित हो गया।

कई दिन बीत गये, चिन्ता दूर नहीं हुई। जो सुशील भोर होते ही

उठकर मातृ-वन्दना करता था, पश्चात् पाठ्य पुस्तकोंका अवलोकन करता था, स्नानादिसे निवृत्त हो भोजन करके सीधे कालेज चला जाता था, वहाँसे लौटकर ट्यूशन करने जाता था और ठीक समयपर वापस आ जाता था, जो एक सेकेंडका समय भी व्यर्थ नहीं खोता था और अपने गुण तथा स्वभावकी धाक सब लोगोंपर जमाये हुए था, वही सुशील एकाएक आज सब लोगोंका इतना बड़ा अविश्वासी हो गया कि लड़के उससे बोलनेमें भी घृणा करना चाहते हैं; स्वयं सुशीलको भी अपने कार्य-पर बड़ी घृणा मालूम होती है। पाँच दिनमें सिर्फ तीन दिनकी अनुपस्थिति ही क्या सुशीलके नाशका कारण हो गयी ?

४३

सन्ध्या होते ही फाटक बन्द हो जाया करता था। किन्तु उद्यानके चारों तरफकी चहारदीवारी अधिक ऊँची नहीं थी। कई दिनोंकी भयंकर चिन्ताके बाद अन्तमें एक दिन दृढ़व्रती सुशील मकानके पीछेकी चहार-दीवारीपर चढ़कर बागमें कूद पड़ा। उससे यहाँ आये बिना नहीं रहा गया। यहाँका स्नेह-रूपी चुम्बक उसके लौहवत् शरीरको पहलेसे ही धीरे-धीरे खींच रहा था।

उस समय आकाश बादलोंसे घिरा हुआ था। शुक्ल पक्षके चन्द्रमाका प्रकाश अन्धकारकी चादर ओढ़कर अपरिचित-सा बना हुआ था। गगन-स्पर्शी वृक्षोंकी कतारके नीचे वर्षाकालके काले बादलोंसे घिरी हुई अँधेरी रात विराज रही थी। वायु-स्पर्शकी आवाज गृह-रक्षकोंको जागते रहनेकी चेतावनी दे रही थी। फाल्गुन महीनेका अस्त होते हुए भी शीत बहुत अधिक था। मकानके दरवाजेपर खिले हुए फूलोंसे लदी हुई बेलोंकी कुंजोंमें मन्द-मन्द गुंजार करते मद-मत्त मधुकरोंसे प्रवेश-द्वार मुखरित हो

रहा था। ऐसा मालूम होता था मानो आगंतुकके आनेसे वे अपना कुछ वश चलते न देखकर सबके-सब भुनभुना रहे हैं।

मकानके ऊपर या नीचेकी किसी खिड़कीसे बिलकुल प्रकाश निकलता नहीं दीखता था। जिन्हें वह ढूँढ़ता है, वह इतने बड़े विशाल भवनके किस कमरेमें हैं, यह बात इस अनजान चोरको किस तरह मालूम हो सकेगी? सौभाग्यवश उस दिन मालीसे यह बात मालूम हो गयी थी कि वह ऊपर एकतल्लेपर हैं। बस इतनी ही जानकारी पर वह इतना बड़ा असाध्य काम करनेपर उतारू हुआ।

दबे पैर धीरे-धीरे वह ऊपर चढ़ गया; क्योंकि दरवाजेके बगलमें ही सीढ़ी थी और उसका मार्बिल कुछ-कुछ चमक रहा था। ऊपरके बरामदेमें एक आदमी शीतसे घुटने और नाकको एक करके गुड़मुड़ाकर नींदमें मस्त पड़ा हुआ था। साँसकी गति बन्द करके सुशील उस आदमीको पारकर बगलके एक खुले दरवाजेसे कमरेमें घुसा। देखा कि उस कमरेमें एक तरफ टेबुल और उसके आस-पास चारों तरफ कुर्सियाँ रखी हुई हैं। एक कतारमें शीशोंकी कीमती आलमारियोंमें पुस्तकें भरी हुई हैं। कमरेमें एक लैम्प जलता हुआ धीमा प्रकाश कर रहा है। कमरा बिलकुल सुनसान है। इस कमरेमें दक्खिन तरफ एक दरवाजा और खुला हुआ था। इस दरवाजेपर हरे कपड़ेका पर्दा टँगा था। पर्देके पास जरा ठहरकर अन्दाजा करके धीरेसे सुशील उस कमरेमें भी घुस गया। इस कमरेमें भी हरी चिमनीका एक लैम्प धीमे प्रकशसे जल रहा था। कमरेके बीचोबीच पलँगपर राजेन्द्रप्रसाद लेटे हुए थे। सुशीलने शान्त भावसे चारों तरफ देखा—समीपमें और कोई दूसरा आदमी नहीं था। केवल इसीके समान एक दरवाजा और था। पर्देकी फाँकसे उस कमरेमें भी पलँगके ऊपर कोई सोया हुआ दिखाई पड़ा;—उसने अनुमान किया कि यह 'छोटी माँ' (विमाता) होंगी।

सुशील चोरकी तरह आकर पिताके मस्तकके पास खड़ा हुआ। विस्मय-विह्वल दृष्टिसे उनके मुखकी ओर स्तब्ध भावसे निहारने लगा!

उस दिन मध्याह्नकालके सूर्यके समान दीप्ति-रंजित सौन्दर्य-प्रभा-पूर्ण सभापतिको उसने पिताकी दृष्टिसे नहीं देखा था; इसलिए उस समय देखनेसे उसकी दर्शन-पिपासा शान्त नहीं हो सकी थी। कई दिनोंकी कठिन यन्त्रणासे रक्त-हीन मुखच्छवि निहारकर आज उसे जो शान्ति मिली, वह इससे पहले और कभी नहीं मिली थी। यद्यपि यह मुख प्रभात-चन्द्रमाके समान निष्प्रभ हो गया है, तथापि सुशीलको ऐसा मालूम हुआ कि ऐसा मुख संसारमें दूसरा है ही नहीं। इस अपूर्व दर्शनसे उसका सारा पिछला दुःख दूर हो गया। पिताका शान्त और गम्भीर मुख देखकर सुशील अपनेको अत्यन्त हेय समझने लगा। इस संयत निष्ठाका पुण्यमय महत्त्व, भीतरकी ज्वालासे भस्मीभूत वह हतभागा क्या समझेगा ? पिताके पास जाकर करुणासे भरा हुआ सुशील बैठ गया। पश्चात् पलँगपर अपना माथा रखकर उसने पिताके पैरोंको उठाकर अपने माथेपर रख लिया। अब सुशीलको अपनी सुध बिलकुल नहीं रह गयी। आँखें वर्षाकालके बादलकी भाँति जल-वृष्टि करने लगीं। पिताका एक पैर उसके माथेसे छटककर पलँगपर गिर गया। रोते-रोते सुशीलकी घिग्घी बँध गयी।

शरीरके स्पर्शसे तो नहीं, पर आँखोंका तप्त अश्रु-प्रवाह पैरपर पड़ते ही राजेन्द्रकी नींद टूट गयी। चौंककर पैर खींचते ही उनका पैर सुशीलके मुँहपर जोरसे लग गया। पिताका पैर लगते ही सुशील कातर भावसे चीख मारकर उठ खड़ा हुआ। उसके इस यन्त्रणा-पूर्ण शब्दसे रोगीके हृदयपर जोरसे धक्का लग गया।

"आह रे ! कौन है ? मैंने किसे मारा ?" कहते-कहते राजेन्द्र करवट बदलनेकी चेष्टा करने लगे। सारी बातोंपर दृष्टि जाते ही भयके मारे सुशील काँप उठा। उसे इस समय क्या करना चाहिये और क्या नहीं, इसका कुछ भी निर्णय न कर सकनेके कारण थोड़ी देरतक वह स्तब्ध हुआ वहीं खड़ा रह गया। इसके बाद उसने लज्जासे चौंककर लैम्पकी सुइच घुमाकर अन्धकार कर दिया। पश्चात् वह जिस रास्तेसे होकर आया था, उसी

रास्ते कमरेके बाहर हो गया। आते समय उस रोगीकी दी हुई यह धीमी आवाज सुशीलके कानोंमें बाणकी तरह चुभ गयी—"क्यों भाई सो गयी हो ? बुद्धू ! ओ बुद्धू !"

मालूम होता है, बरामदेमें सोये हुए आदमीका नाम बुद्धू था। सुशील तेजीसे भाग रहा था। अँधेरा होनेके कारण उस सोये हुए आदमीके बदनसे टकराकर गिर पड़ा, किन्तु शीघ्रतासे उठकर लहमेभरमें सीढ़ीसे उतरकर बाहर निकल आया।

उस समय चारों तरफ सघन अन्धकार छाया हुआ था। हाथ पसारे नहीं सूझता था। बादलोंकी गड़गड़ाहट और हवाके प्रचंड वेगकी आवाजसे किसीका शब्द सुनाई पड़ना कठिन हो रहा था। रोगीकी आवाज इतने समीपमें सोये हुए लोग बिलकुल नहीं सुन सके थे, किन्तु सुशील कुछ दूर आ जानेपर भी नौकरोंका 'चोर-चोर' शब्द और कुत्तेका भूकना अच्छी तरह सुन रहा था। एक बार सुशीलके दिलमें यह बात आयी कि भागना ठीक नहीं है, यहीं ठहर जाना उचित है। यदि चोर समझकर कोई पकड़ भी लेगा तो क्या होगा ? वास्तवमें वह चोर तो है नहीं। उसे पकड़कर लोग उसके पिताके पास ही तो ले जायँगे। इलाहाबादके बहुतसे लखपतियोंके घरोंमें जब उसने आजतक चोरी नहीं की, किसीने इस सम्बन्धमें उसे दोषी नहीं ठहराया तो क्या आज वह अपने पिताके घरमें चोरी करनेके लिए आवेगा ? पर नहीं—दृढ़ता-पूर्वक यह बात भी नहीं कही जा सकती। कभी चोरी न करनेवाले मनुष्यपर क्या यह विश्वास किया जा सकता है कि वह भविष्यमें भी कभी चोरी नहीं करेगा ? दीन-हीन स्वरूपवाले सुशीलका यह अस्वाभाविक कार्य, उनके मनमें संशय पैदा नहीं कर सकता, इस बातपर सुशीलका मन भला क्योंकर टिक सकता था ? यह बात वह कैसे समझ सकेंगे कि सुशील चोरी करनेके लिए यहाँ नहीं आया है ? उनके मनमें यह बात कैसे नहीं उत्पन्न हो सकती कि सुशील अपने चिर-अपरिचित पिता-गृहके ऐश्वर्य-प्राचुर्यपर लुब्ध होकर चोरी करने आया है ?

सुशीलके हृदयमें जो यह जोरोंमें द्वन्द्व मचा हुआ था, उसकी ज्वालासे विद्रोहकी अग्नि-शिखा जल उठी। यदि वह क्षणभरके देखे हुए परित्यक्त इस अभागे पुत्रको न पहचानकर धिक्कारते हुए पुलिसके हवाले कर दें तो ! क्या उस समय यह अपना अविश्वास्य परिचय करावेगा ! कभी नहीं, जानसे मारा जानेपर भी नहीं। यह राक्षसी कार्य करनेवाला भिक्षुक, पण्डित राजेन्द्रप्रसाद त्रिपाठीका पुत्र सुशीलकुमार त्रिपाठी है, यह बात सुनकर क्या त्रिपाठी-वंशके पूर्वजोंका सिर लज्जासे झुक नहीं जायगा ! पुत्रके इस व्यवहारसे क्या राजेन्द्रप्रसादका गौरव मिट्टीमें नहीं मिल जायगा ! इसलिए ऐसी अवस्थामें क्या वह सुशीलको पहचानकर भी दसके सामने अपना पुत्र स्वीकार न करेंगे ! यही कैसे निश्चय हो सकता है कि वह अपना पुत्र स्वीकार कर लेंगे ! कुछ भी हो, हाजत, जेलखाना, द्वीपान्तरवास, सब-कुछ सुशील स्वीकार करके खड़ा रहा।

सहसा माँकी याद आ गयी; उस शान्तिमयी दुःखिनी माँको क्या सुशील एकदम ही भूल जाता ? याद आते ही सुशीलका सारा विचार रद्द हो गया। बस तुरत ही मनोरमाकी गोदका दुलरुआ खिलौना वहाँसे चम्पत हो गया।

इधर उसके पिताके कमरेमें प्रायः तीस आदमी, नौकर, दाई, ड्योढ़ीदार आदि मिलकर तरह-तरहके मनसूबे गाँठ रहे थे। बुद्धू कहने लगा कि "भागसे चोर साला हमरे देहसे ठोकर खाइके गिर पड़ा था। हम तो उसे एक तरहसे पकड़ ही चुके थे, लेकिन क्या करें, रघुबीर सिंह या और कोई उटा ही नहीं। इतने बड़े जंगी-पहलवान चोरको हमारे जैसा बूढ़ा आदमी कैसे पकड़ता, बोलो तो सही ? अगर वह छुरी चला देता तो हम क्या करते ? ऐसे समयमें चोर अकसर यही करते हैं। एक बार तो सोचा कि छुरी लगे तो लगे उसे हम धरैं, लेकिन मालिकके बेरामीका ख्याल करके मैया हम नहीं गये।"

राजेन्द्रने कहा—"ये लोग क्यों व्यर्थ बकबक कर रहे है ? उन लोगोंको रोक दो भाई, वह चोर तो था नहीं।"

चन्द्रकलाने चकित होकर स्वामीसे पूछा—"चोर नहीं था ? तो फिर था कौन ?"

राजेन्द्र कुछ देरतक चुप रहे। इसके बाद बड़े कष्टसे उन्होंने कहा—"स्वप्न !"

चन्द्र०—"स्वप्न ?"

राजेन्द्र—"हाँ स्वप्न !—क्या स्वप्न देखा था, तुम्हें मालूम है ? मानो एक थोड़ी उम्रका खूबसूरत लड़का मेरे पैरोंपर अपना माथा रखकर रो रहा है। उसके गरम आँसू मेरे पैरोंपर गिर रहे थे। अच्छा तुम जरा हाथ लगाकर देखो तो, यह बात ठीक है या नहीं ?"

चन्द्रकलाने विस्मित होकर स्वामीके पैरोंपर हाथ रखकर देखा। एक पैर कुछ गीला और ठण्ढा मालूम हुआ। ऊपरकी सफेद चादर भी भींगी हुई थी; किन्तु उसे इसपर विश्वास नहीं हुआ। उसके दिलमें यह बात पैदा हुई कि वह न चोर था और न कोई स्वप्नका मनुष्य ही था; इसमें बात ही कुछ और है। इसीसे वह बिना कुछ कहे चुप रह गयी।

इतनेमें एक गम्भीर और लम्बी साँस लेकर राजेन्द्र अपने आप ही कहने लगे—"तो फिर मालूम होता है कि यह स्वप्न ही था। ओफ—!"

चन्द्रकलाने कहा—"यदि स्वप्न ही था, तो फिर तुम्हारे पैर और चादरको गीला किसने किया ?"

राजेन्द्रने कहा—"ठीक—"

इतना कहकर राजेन्द्रने फिर एक लम्बी साँस ली. इस साँसमें व्यथा भरी हुई मालूम हुई।

४४

उस दिन सुशीलको बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ा। सघनान्धकार होनेके कारण सुशीलके शरीरमें कई जगह चोट भी लग गयी।

किसी तरह भींगता हुआ आकर बोर्डिंगके बाहर चबूतरेपर पड़ रहा। फाटक बन्द होनेके कारण दरवानको जगानेकी हिम्मत उसकी नहीं पड़ी। सबेरा होनेपर फाटक खुलनेसे पहले ही उसकी नींद टूट गयी। इधर-उधरसे घूमकर सात बजेके करीब वह अपने कमरेमें गया। यह उसका तीसरा अपराध था। सुपरिण्टेण्डेण्टके सामने इस अनुपस्थितिका कारण बतानेके लिए उसके पास कुछ भी नहीं था। उसका हृदय धकधका रहा था। अबकी बार क्या उसका अपराध क्षम्य समझा जायगा? लज्जाके मारे वह मन-ही-मन गड़ा जाता था। माँकी भी तो उसे कम चिन्ता नहीं थी। जिस सुशीलका अद्‌भुत चमत्कार प्रान्तभरमें फैला हुआ था, उसीकी निन्दा आज एक साधारण मनुष्य भी निर्द्वन्द्वतासे कर रहा है, यह बात उसकी माँ कैसे सहन कर सकेगी?

बोर्डिंगके संरक्षकोंने विशेष कुछ नहीं कहा; उन्हें जो कुछ कहना था, वह पहले ही कह चुके थे। उसे जो आज्ञा सुनायी जायगी, वह क्या उसे नहीं मालूम है? इसलिए पहलेसे ही जितनी जल्दी हो सके, यह स्थान छोड़ देना ही उचित है। बिखरे हुए बड़े-बड़े रूखे बाल, लाल आँखें, जगह-जगह खून लगा हुआ मैला-कुचैला वस्त्र और अधःपतनकी चरम सीमापर पहुँचा हुआ प्रभाहीन स्वरूप देखकर सुपरिण्टेण्डेण्टने कड़ी दृष्टि करके बड़े क्रोधसे कहा—"यह गँजेड़ी-भँगेड़ीका अड्डा नहीं है सुशील, यहाँ सभ्य और बड़े आदमियोंके लड़के रहते हैं। जब तुममें इतनी बड़ी निर्लज्जता घुस गयी, तो फिर तुम अब यहाँसे फौरन निकल जाओ। कालेजमें भी ऐसे गन्दे लड़कोंको स्थान नहीं मिल सकता।"

जब यह कहकर सुपरिण्टेण्डेण्ट महाशय चले गये, तब सब लोग आकर सुशीलकी तरफ कौतूहलकी दृष्टिसे देखने लगे। बोर्डिंगके जो लड़के सुशीलका मुँह जोहा करते थे, वे ही आज हँस रहे हैं। विधि-विडम्बना कुछ भी समझमें नहीं आती! सुशीलके कमरेके सामने खासी भीड़ लग गयी। सुशीलने किसीकी ओर देखा भी नहीं; नीचा सिर करके चुपचाप

बोर्डिंगसे उसी क्षण बाहर हो गया। किन्तु किसी तरफ न देखनेपर भी अपनेको अपूर्व वेष-भूसासे सुसज्जित समझकर उसे यह बात अच्छी तरह मालूम हो गयी कि इन लड़कोंको मेरा रूप कैसा जँचता होगा। उसके हृदयमें जहाँ अपनी दशा सोचकर ज्वाला उत्पन्न होती थी, वहाँ पिताके दर्शनका अपूर्व आनन्द-सागर उमड़कर उसे शान्त भी कर देता था। जिस पिताके दर्शनके लिए वह इतने दिनोंसे लालायित था, उसका दर्शन उसके लिए क्या साधारण आनन्दका विषय था? हाय रे कर्मकी गति! आज सुशीलको लोग पागल समझ रहे हैं! ठीक ही तो है, पागल छोड़कर और वह है ही क्या?

आते समय पीछेसे उसने तरह-तरहकी अपमान-जनक बातें भी सुनीं।

"ओफ! यह लड़का बिलकुल ही बह गया! इतना पढ़-लिखकर भी पशु बन गया! कुछ समझमें नहीं आता कि इसे क्या हो गया!"

"देखते-देखते चन्द दिनोंमे बहिष्कृत हो गया! क्या इसमें जरा भी हया नहीं रह गयी?"

"इतने शीघ्र यह पागल क्यों हो गया? यार बड़े आश्चर्यकी बात है! अवश्य यह कोकीन खाता है। नहीं तो ऐसी दशा इसकी कभी न होती।"

"अफसोस! विधवाका लड़का होकर भी यह अपनी दरिद्रतापर दृष्टि न डाल सका!"

यह अन्तिम बात सुशीलके हृदयमें बाणकी तरह लगी। माँ! सुशीलकी माँ, विधवा? सुशील अभागा है, अनाथ है, दरिद्रसे भी दरिद्र है—इसमें कोई सन्देह नहीं; उसकी माँ निस्सहाय है, यह भी ठीक है—किन्तु उसे विधवा कहनेका साहस? उसके माथेका सिन्दूर बाबूजीके रहते कौन हटा सकता है? नहीं, नहीं, ऐसा सोचना भ्रम है! माँ, विधवाके सिवा और क्या हो सकती है?

मोटिया बुलाकर वापस आनेपर कमरेमें घुसते ही उसने देखा, उसके

कमरेमें रहनेवाले लड़के उत्तेजित हो-होकर आपसमें बातें कर रहे थे। सम्भवतः बातें सुशीलके सम्बन्धमें ही हो रही थीं। सुशीलके आते ही दो लड़के हँसते हुए कमरेसे बाहर चले गये। एक लड़केने सुशीलसे बड़े आग्रहसे कहा—"तुम्हारे सम्बन्धमें ये लड़के तरह-तरहकी बातें कर रहे थे; किन्तु मुझे उनकी बातोंपर बिलकुल विश्वास नहीं हुआ। मैंने उन्हें फटकारा भी अच्छी तरह।"

सुशीलने भयानक भावसे कहा—"क्यों? तुम्हें क्यों नहीं विश्वास हुआ? जब सबलोग कहते हैं तो फिर तुम अविश्वास क्यों करते हो? मैं किसीकी व्यर्थ सहानुभूति नहीं चाहता, यह तो तुम जानते हो न?"

बिछौना और ट्रंक मोटियेके सिरपर उठाकर उस दिन जब सुशील बोर्डिंगसे बाहर हुआ, तब उसके दिलमें एक बार अपनी अवस्थाका स्मरण करके बहुत गहरी व्यथा उत्पन्न हुई। इस अपरिचित स्थानमें अब सुशील कहाँ जाकर रहेगा? उसकी जीविका कैसे चलेगी? ट्यूशन भी छूट गया है। तो क्या वह मिर्जापुर माँके पास जायगा? ठीक तो है, मिर्जापुरमें रहकर बीस रुपयेकी भी आमदनी अगर महीनेमें हो जाया करेगी, तो माँ-बेटेका खर्च आसानीसे चल जायगा। किन्तु माँके पास वह कौनसा मुँह लेकर जायगा? जब वह पढ़ना छोड़कर आनेका कारण पूछेगी, तो सुशील क्या उत्तर देगा? क्या झूठा बहाना करेगा? किन्तु संसारमें कोई भी बात अधिक दिनोंतक छिपी नहीं रहती। जब उसे पढ़ना छोड़नेका असली कारण मालूम हो जायगा, तो सुशीलको वह क्या कहेगी? उस समय सुशील माँके सामने कौनसा मुँह लेकर खड़ा होगा?

इधर-उधर बे ठिकाने-पतेके भटकते-भटकते परेशान होकर मोटियेने भुनभुनाना शुरू किया, "यह क्या तमाशा करते हो बाबू, कभी कहते हो स्टेशन चलो, कभी कहते हो, नहीं नहीं। एक दफे रामबाग जाते हो, तब फिर पीछे लौट आते हो! इस तरह करनेसे हमारा पेट कैसे भरेगा? बोझा लिये-लिये कपार तो चूर हो गया। बाप रे बाप! पागल, न सरेख!"

स्टेशनके पासकी धर्मशालामें जाकर सुशीलने सामान रखवाया।

जिस समय मोटियेको मजदूरीका पैसा देनेके लिए उसने जेबमें हाथ डाला, उस समय उसे अपने भिखारीपनकी याद आयी। पासमें एक पैसा भी नहीं। अन्तमें सुशीलने ट्रंकसे अपना एक कोट निकालकर मोटियेके हवाले किया। मोटिया जब असीसता हुआ चला गया, तब सुशील बिस्तरा खोलकर जैसे-तैसे करके बिछाकर उसपर लेट गया। थोड़ी ही देरमें जोरोंसे ज्वर आ गया। समूचे शरीरमें असह्य पीड़ा होने लगी। रातमें भींगनेके कारण शीतका अंश अधिक हो गया था। आह माँ! आह राम! करके कराहता हुआ मूर्छाके कारण चुप हो गया।

रोग बराबर बढ़ता ही गया। उसे बिलकुल बेहोश देखकर तीन दिनके बाद धर्मशालेके जमादारने मालिकसे खर्च लेकर खैराती अस्पतालमें भेजवा दिया। कई दिनोंके बाद सुशीलको होश हुआ। अपनेको रोगियोंके समूहमें देखकर चक्करमें पड़ गया। सोचने लगा—"मैं तो धर्मशालेमें ठहरा था; क्या यहाँ भी रोगी रखे जाते हैं? शायद मैं भूलकर अस्पतालमें चला आया। किन्तु यहाँ मुझे रहनेके लिए जगह कैसे मिली? क्योंकि मुझसे तो किसीने रोगका हाल पूछा नहीं!" कुछ देरके बाद उसे बगलके रोगीसे अपने आनेका सारा हाल मालूम हुआ। इस रोगीने सुशीलको यहाँपर लानेवाले लोगोंसे सारा हाल पूछ लिया था। अब सुशीलको फिर माँकी याद आयी। ज्यों-ज्यों समय बीतने लगा, त्यों-त्यों माँकी प्रबल उत्कण्ठाका स्मरण करके उसका हृदय व्यथित होने लगा। शारीरिक दशा सुधरनेके साथ-साथ मानसिक व्यथा बढ़ने लगी। पिता ही उसके जीवनके लिए शनैश्चर ग्रह हो गये। यदि उनसे साक्षात्कार न हुआ होता तो इस भद्र संतान सुशीलकी यह दशा कदापि न होती और न तो दातव्य औषधालयमें सैकड़ों मलिन और क्रिया-हीन रोगियोंके समूहमें उसे रहना ही पड़ता।

डेढ़ महीनेके बाद उसमें उठकर बैठनेकी शक्ति हुई। एक मास छब्बीस दिन बाद वह अस्पतालसे बाहर आनेपर सोचने लगा कि बल्कि भीतर रहना ही अच्छा था।

बड़े कष्टसे उठते-बैठते किसी तरह धर्मशालामें आया। अपने सामानके लिए जमादारसे पूछनेपर उसे कोरा जवाब मिला। इस निर्धन भिखारीके पास कुछ सामान रहा होगा, यह विश्वास ही कौन करेगा ? किन्तु सुशीलने इन बातोंपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। जमादारके इनकार करते ही उसका चेहरा तमतमा उठा। कहा—"जबतक तुम मेरा सामान नहीं दोगे, तबतक मैं यहाँसे नहीं हटूँगा। बात-विवाद बढ़ जानेपर जमादारने धक्का देकर निकाल दिया। सुशीलको यह अपमान बिल्कुल असह्य हुआ। अब वह यहाँपर अपना प्राण देनेके लिए उतारू हो गया। कोई वश न चलनेपर जमादारने दो गवाह खड़ा करके सुशीलको पुलिसके हवाले कर दिया। चोरीके मुकदमेमें उसकी तीन मासकी सजा भी हो गयी। सुशील लज्जाके मारे अपना नाम और पता भी ठीक नहीं बतला सका। पिताका नाम तो वह बतलाता ही कैसे ? क्या राजेन्द्रका लड़का इस दशामें कभी रहेगा ? यह विश्वास ही कौन करेगा ? इस प्रकार निरपराध सुशील चोरीके मामलेमें जेलमें ठूँस दिया गया। यहाँ कोई भी उसका सहायक नहीं। अभीतक वह अंग्रेजी राज्यका अनन्य भक्त था। वह समझता था कि इस राज्यमें शेर और बकरीको एक ही घाटपर पानी पिलाया जाता है। किन्तु आज उसका यह विश्वास अंग्रेजी राज्य परसे उठ गया। मन-ही-मन तरह-तरहकी बातें सोचने लगा। सचमुच क्या इसीका नाम न्याय है ? ऐसा न्याय एकके ही साथ हुआ होता तो दूसरी बात थी; किन्तु ऐसा न्याय तो जेलके बहुतसे कैदियोंके साथ किया गया है। भलेसे-भले, साधुसे-साधु और सज्जनसे-सज्जन मनुष्यको दो गवाह ठीक करके जेलखानेकी सैर करायी जा सकती है। इस राज्यमें बुद्धिकी शक्तिका दुरुपयोग कराया जाता है। वकील और बैरिस्टर झूठे मुकदमेको सच्च ठहरानेका प्रयत्न करके बुद्धिकी शक्तिका दुरुपयोग नहीं करते तो और क्या करते हैं ? इस राज्यमें प्रकृत-निर्णयकी आशा करना ही व्यर्थ है। महात्मा गांधी अदालतोंका बहिष्कार करनेके लिए इसीसे तो कहते हैं। ऐसी अदालतोंसे लाभ ? यदि कुछ लाभ ही होता तो सुशील-

को जेलमें क्यों जाना पड़ता ?

दिन जाते देर नहीं लगती। धीरे-धीरे तीन महीनेकी मीयाद पूरी होनेपर सुशीलकी जेलसे निवृत्ति हुई। अब वह बिना माँके पास पहुँचे अपनी शान्तिका कोई उपाय नहीं देख रहा है। किन्तु मिर्जापुर पहुँचनेके लिए रेल-भाड़ेके पैसे उसके पास कहाँ ? पैदल चलनेकी शक्ति भी तो उसके शरीरमें नहीं रह गयी है। उसकी माँ क्या इतने दिनोंतक पुत्रका पता न पानेपर बैठी होगी ? सुशीलके कर्मोंका पता क्या उसे अभीतक लगा ही न होगा ? माँके सामने जाकर सुशील कौनसा मुँह लेकर खड़ा होगा ? नहीं नहीं, सुशील अब इस जीवनमें माँको मुँह नहीं दिखावेगा। सुशील तरह-तरहकी बातोंपर विचार करता हुआ सड़कपर इधर-उधर भटक रहा था। इतनेमें एक आदमी उसे दिखाई पड़ा। सुशीलने आवाज दी—"कौन ! जगन—ओ जगन !"

जगन चकपकाकर पीछे फिरा और बोल उठा, "कौन भैया सुशील ! भैया इहाँ कहाँ ? इतने दिनसे रह्यौ कहाँ भैया ? हम घर गये रहे तबै मानू बहिन रोवत रहीं। इहाँ आइके बहुत खोजा तुमार कहूँ पतै न चला।"

इतना सुनते ही सुशील बचपनकी तरह जगनकी अँगुली पकड़कर रोने लगा। जगन भी सुशीलको देखकर करुणार्द्र हो गया था। बहुत देरतक किसीके मुँहसे बात न निकली। पश्चात् सुशीलने कहा—"यहाँ कहाँ हो ?"

जगनने रुद्ध कण्ठसे कहा—"का करी भैया ! ईस्वर जो चाहै सो करै। जबसे उहाँसे काम छुटा, तबसे इहैं नोकरी करी थै बारह रुपिया महिन्ना मिलता है।"

सुशील—"सो तो मुझे माँकी चिट्ठीसे मालूम हो गया था। यहाँ किस मुहल्लेमें रहते हो ?"

जगन—"इहाँ चौकमें रहित है। अच्छा, भैया चलौ डेरापर कुछ खाइ पी लेउ, तब बात होई।"

जगनके यहाँ जाकर उसका कुछ खर्च करानेमें सुशीलको संकोच

मालूम होता था; किन्तु उसके बार-बार आग्रह करनेपर उसे जाना ही पड़ा। रास्तेभर बातें होती ही गयीं। माँका पूरा हाल सुशीलको मालूम तो हो गया, किन्तु इधर दो महीनेसे जगनको भी कोई हाल मालूम न रहनेके कारण उसकी चिन्ता दूर नहीं हुई। हाँ खाने-पीनेके बाद अपने पुराने नौकर जगनके अद्भुत स्नेहसे सुशीलको शान्ति अवश्य मिली। सुशील चारों तरफ फिरते-फिरते एकदम थक गया था। जगनने अपनी कोठरीमें एक किनारे टाटका टुकड़ा बिछा दिया, सुशील उसपर पड़ते ही सो गया। कुछ भी हो, जेलखानेसे तो यहाँ उसे आराम ही था। और कुछ नहीं तो कमसे-कम यहाँ वह स्वतन्त्र तो है। किन्तु सुशीलके इस भावको बिना बताये बिचारा जगन किस तरह जान सकता था ? उसे क्या मालूम कि सुशील-जैसे सुकुमार बालकको भी जेलका भयंकर दुःख झेलना पड़ चुका है ? मन-ही-मन जगन गड़ा जाता था। घरपर सुशीलके सोनेका बिस्तरा वह अपने हाथसे ही तो बिछाता था। सुखमय बिस्तरेपर सोनेवाला सुशील आज जगनके घरमें जमीनके ऊपर टाटके टुकड़ेपर सोया हुआ है ! किन्तु यह सोचनेसे होता ही क्या है ? उसके पास बिछानेके लिए और था ही क्या ? सुशील जैसा पढ़ा-लिखा लड़का मानसिक भावों-पर लट्टू हो सकता है; न कि बाहरी सम्मानपर। आज जगनके बर्तावसे स्थिरता लाभ करके वह रह-रहकर माँकी जुदाईसे पीड़ित होने लगा। किसी तरह जी बहलाकर वह अन्यान्य बातोंपर विचार करने लगा। मानव-स्वभावानुसार उसका ध्यान अर्थ-लोलुप व्यक्तियोंपर भी गया। सुशीलको यह एक शिक्षा मिली। अंग्रेजी राज्यकी दूरदर्शिता और संघटनका महत्त्व वह अपनी जेलयात्राके समय अच्छी तरह समझ चुका था। सोचने लगा, संघटनके प्रभावसे ही तो दो आदमियोंसे झूठी गवाही दिलाकर मनमाना काम कर लेते हैं ! सुशीलकी सजा करानेमें भी तो संघटनका महत्त्व था। उसे इस बातका दृढ़ निश्चय हो गया था कि बाहरी संघटन करके मनुष्य संसारके बड़ेसे-बड़े और असाध्यसे भी असाध्य कामोंको सरलतासे कर सकका है। आज जगनका नम्रता-पूर्ण शब्द सुनकर

सुशीलको यह अनुभव हुआ कि—"निम्न श्रेणीके लोगोंमें स्नेहका भाव जितना अधिक है, उच्च श्रेणीके लोगोंमें उसका शतांश भी नहीं। इस दुःखमय समयमें उसके लखपती और करोड़पती घरोंके घनिष्ठ मित्र सहपाठी बिलकुल काम नहीं आये, पर निर्धन जगनने अपने आराध्यदेवकी तरह उसका सम्मान किया। अच्छा, क्या जमीनपर टाटके ऊपर सुलाना ही सम्मान है? अवश्य; स्नेह-पूर्वक टाटपर सुलाना मखमली बिस्तरेसे हजार-गुना बढ़कर है। 'प्रेम सहित मरिबो भलो, जो विष देइ बुलाइ। अमी पियावत मान बिन, रहिमन मोहिं न सुहाइ॥' रहीमका यह पद ठीक है। इसलिए अब तो यह कहना पड़ेगा कि वास्तवमें आजकल निम्न श्रेणीके लोग कहे जानेवाले ही उच्च श्रेणीके हैं और उच्च श्रेणीके लोग निम्न-श्रेणीके।

सुशील पाँच रुपये लेकर जगनके यहाँसे बिदा हुआ। पर हृदयमें यह दृढ़ संकल्प करके कि "यदि ईश्वर देंगे तो इन पाँच रुपयोंके बदले जगन-की जिन्दगी आरामसे बिताऊँगा, कभी भी इससे अपनेको ऋण-मुक्त न समझूँगा।"

जगनको नौकरीपर हाजिर होना था, इसलिए सुशीलने उसे अपने साथ स्टेशनतक नहीं आने दिया। ज्यों ही सुशील आगे बढ़ा त्यों ही जगनने न-जानें क्या सोचकर पीछेसे आवाज दी, "भैया सुशील!—ओ भैया! सुनौ सुनौ!" सुशील वापस आ गया। जगनने गिड़गिड़ाकर कहा, "भैया हमरे मालिक बड़े रहीस और दयावान हैं। हमार विचार है कि दो-चार दिनमें उनसे भेंट करके तब घर जाउ, माँके पास चिट्ठी लिखि देउ।"

पहले तो सुशीलने मिर्जापुर आनेके लिए कहा, पर जगनके बार-बार स्नेह-पूर्ण अनुरोधसे रुक गया। जगन जिनके यहाँ नौकरी कर रहा था, उनके नामसे सुशील भलीभाँति परिचित था। उसके दिलमें भी उनसे मिलनेकी प्रबल इच्छा उत्पन्न हो गयी।

वह अपने पुराने नौकर जगनके पास उस छोटी कोठरीमें रहने लगा।

कोई काम नहीं, धन्धा नहीं, दिल बहलानेके लिए कोई पुस्तक भी नहीं। दिनभर चुपचाप बैठा हुआ सुशील सड़ककी ओर देखता रहता था। यदि कोई परिचित सहपाठी उस रास्तेसे होकर गुजरता, तो सुशील दूसरी तरफ अपना मुँह फेर लिया करता था। जगनके स्नेहसे महीनों बीत गया, किन्तु सुशीलको किसीने भी नहीं पहचाना। संयोगसे एक दिन बन्द गाड़ी इसी रास्तेसे होकर गुजरी। गाड़ीका दरवाजा खुला हुआ था। देखते ही सुशीलका कलेजा धकधकाने लगा। गाड़ी, घोड़ा, साईस और कोचवान सबको सुशील अच्छी तरह पहचानता था। गाड़ीमें बैठे हुए सज्जन भी सुशीलसे अपरिचित नहीं थे। यद्यपि यह मुख उसका अल्प क्षणका ही देखा हुआ था, तथापि वह हजारोंमें इस मुखको ढूँढ़ सकता था।—यह मुख उसके पिताका था। उत्सुकता, आनन्द और न-जानें क्या-क्या उसके हृदयमें उमड़ने लगा। उसी क्षण पिताके कारण झेले हुए दुःखोंकी भी उसे याद आ गयी। अपरिसीम पुलकोच्छ्वास-चंचल सुशील एकटक उस गाड़ीकी ओर देखने लगा। थोड़ी देरमें वह नजरोंसे ओझल हो गयी; किन्तु सुशील इस आनन्दमें विभोर हो उसी ओर ताकता रहा कि उसने अपने पिताको जीवित देखा।

४५

राजेन्द्र अच्छे होकर उठे। क्रमशः वह चलने-फिरने लग गये। किन्तु पहलेकी-सी अवस्था—वह सबल स्वस्थ शरीर और चेहरेकी अलौकिक प्रतिभा, उन्हें अभीतक प्राप्त नहीं हुई। संसारकी बहुतसी चीजें ऐसी हैं जो एक बार खो जानेपर नहीं मिलतीं। उनकी दशा ठीक होनेके लिए डाक्टरों और वैद्योंने वायु-परिवर्तन करनेकी सलाह दी। राजेन्द्रको भी यह बात स्वीकार थी। डाक्टरोंने दो-चार आदमियों-

को साथ लेकर शिमला या दार्जिलिंग जानेके लिए कहा; किन्तु राजेन्द्रको अकेले लंधौर या मंसूरी जाना अधिक पसन्द आया। स्वामीके इस विचार-से चन्द्रकलाका हृदय बहुत उद्विग्न हुआ। उसने आपत्ति की कि इस अवस्थामें अकेले जाना ठीक नहीं है। राजेन्द्रने कहा, मैं कोई रोगी तो हूँ नहीं कि अकेले जाना ठीक न होगा।

चन्द्रकला चुप रह गयी। अब उसके हठ और मान करनेका समय जाता रहा, यह बात वह अच्छी तरह जान गयी थी। बीमारीके बाद राजेन्द्र बराबर अपनी इच्छाके अनुसार काम करते आ रहे थे। चन्द्रकला-की बात वह बिलकुल नहीं सुनते थे। इसीसे चन्द्रकलाने भयसे फिर कुछ नहीं कहा। उसका अभिमानी चित्त यद्यपि व्यथित और पीड़ित हो उठा, तथापि जी-जानसे पूरी चेष्टा करके उसने उसे रोक रखा। डाक्टरोंने कहा था कि रोगीके चित्तकी शान्ति ही इस रोगकी एकमात्र चिकित्सा है।

यात्रा करनेका सब प्रबन्ध होने लगा। राजेन्द्रने एक रसोईदार और दो नौकरोंको साथ ले चलनेका प्रबन्ध स्वयं कर लिया। किन्तु चन्द्रकला-को अपने साथ ले जायँगे या नहीं, इसकी कुछ भी चर्चा नहीं। चन्द्र-कला इसी चिन्तामें पड़ी हुई थी कि शायद चलते समय वह कह बैठें कि तुम यहीं रहो, तुम्हारे जानेकी जरूरत नहीं।

एक दिन चन्द्रकलाका दुस्स्वप्न ठीक हो गया। चन्द्रकलाके भाई, महादेवप्रसाद—जो बी० ए० में पढ़ते थे, आये हुए थे। बात-बातमें चन्द्रकलाने उनसे कहा, हमलोगोंके चले जानेके बाद तुम एकाध बार यहाँ आदमी भेजकर घर देखवा लिया करना। घर सुनसान रहेगा, तुम्हें छोड़कर और कौन देखभाल करनेवाला है।

महादेवप्रसादने कहा—"इसके लिए कोई चिन्ता नहीं है, मैं खुद देख-सुन जाया करूँगा। मेरे कालेजसे दूर तो है नहीं। शामके वक्त मैं एक बार जरूर आ जाऊँगा।"

राजेन्द्रने चन्द्रकलाकी ओर देखकर आश्चर्यके साथ पूछा—"तुम कहीं घूमनेके लिए जाओगी क्या?"

स्वामीके कहनेका अभिप्राय ठीक-ठीक न समझ सकनेके कारण चन्द्रकला अवाक् रह गयी। बाद कुछ सोचकर बोली—"हमलोग बाहर नहीं जायँगे ?"

राजेन्द्र—"तुम क्या करने जाओगी ?"

चन्द्रकला कुछ कहना चाहती थी, किन्तु भाईके सामने कुछ भी न कह सकी। स्वामीकी इस अवस्थामें स्त्रीका घर रहना ठीक हो सकता है ? उसकी तबीयत कैसे लगेगी ? राजेन्द्रको स्वयं ही सोचना चाहिये था। किन्तु इस बातपर उन्होंने कुछ भी ध्यान नहीं दिया। अन्तमें चन्द्रकलाने दबी जबानसे सिर्फ इतना कहा कि मैं यहाँ अकेली कैसे रहूँगी ?

राजेन्द्रने कहा—"यदि ऐसा ही है तो न हो कुछ दिनके लिए प्रभाको बुला लो। इस तरहसे—"

चन्द्रकला भीतर ही-भीतर जल-भुनकर खाक हो रही थी। अब वह अपना भाव अधिक देरतक छिपा न सकी। उसने तीक्ष्ण स्वरमें कहा,—"क्या नौकरोंसे तुम्हारी सेवा ठीक हो सकेगी ? अगर तुम्हें कोई तकलीफ न हो, और मेरे चलनेसे तुम्हें कोई लाभ न दीखे, तो अच्छी बात है,—ऐसा ही करो।"

यह कहते-कहते चन्द्रकलाका मुँह लाल हो गया। भाईके सामने कहीं बलबढ़ाव न हो जाय, इस भयसे वह तुरत वहाँसे उठकर चली गयी। आँखोंका अश्रु-प्रवाह भी वह नहीं रोक सकी। किन्तु स्वामी अब कहीं न जाकर प्रयागमें ही रहेंगे, इस बातपर भी उसे भरोसा नहीं था। ज्यों-ज्यों लोग मिलने-जुलनेके लिए आते थे, त्यों-त्यों उसका हृदय चिन्तासे परिपूर्ण होता जाता था; कहीं ऐसा न हो कि स्वामी अपना जाना स्थगित कर दें।

जिस रातमें चोर आया था, उसके दूसरे दिन घरमें दाइयों और नौकरोंकी बातोंमें एक बात सुनते ही चन्द्रकला विस्मित हो उठी थी। बालभद्रने चोरके वर्णनका विरोध करके कहा था कि, "चोर जंगी पहलवान नहीं था—वह एक रईसका नवजवान लड़का था। वह एक खनहन

पन्द्रह-सोलह वर्षका लड़का था। कई दिन बलिभद्र उसे अपने बागके आसपास घूमते हुए देख चुका था। यहाँतक कि एक दिन उसने पूछा भी था कि, "बाबूको कैसी तबीयत है, यहाँ किस मकानमें वह रहते हैं।"

गौर वर्ण, घुँघराले बाल और मकानका ठीक-ठीक पता सुनते ही चन्द्रकला आपादमस्तक आग्रह-चंचल हो उठी थी। उसकी जो आशा-लता उस दिन रघुबीर सिंहके नैराश्यपूर्ण निष्ठुर कम्पनसे मुरझा गयी थी, एवं हर समय अकारण ही उसके हृदयमें वेदना पैदा करती रहती थी, वह आशा-लता यह संवाद सुनकर आज फिर जीवित हो उठी। उसके स्वामी अवश्य ही भ्रान्त नहीं हुए थे। आँसूसे पैर और बिस्तरेका भीगना अवश्य ठीक था। गत रात्रिकी भयंकरता स्मरण करके चन्द्रकलाका हृदय सूना हो गया। जिस समय हाथ पसारे नहीं सूझता था, बादलोंकी कड़कड़ाहटसे घरमें भी कानका पर्दा फटा जाता था, उस समय एक लड़का—न-जानें उसके मनमें कैसी प्रबल उत्कण्ठा उत्पन्न हुई थी कि इतने बड़े दुस्साहसका काम करनेके लिए उद्यत हो गया था! अरे दुखियाके धन! तू किस नशेमें जीनेकी आशा छोड़कर ऐसा पागल हुआ था? क्यों पागल! यदि तेरे मनमें इतना ही था तो फिर क्यों, ना—ना, भूल है भूल! चन्द्रकलाके मनकी यह कैसी विषम भ्रान्ति!—इतने दिनोंके बाद भी क्या वह अपने स्वामीको नहीं पहचान सकी? इसी पिता-का ही तो वह पुत्र है! इतना कठिक स्नेह होते हुए भी जिस पिताने लड़केको देखकर ही अपने जीवन-प्रदीपको शान्त कर देनेकी तैयारी कर ली, उसी दृढ़व्रतीका पुत्र होकर सुशील अभिमान छोड़कर बुलानेसे पिताके घर कैसे आता? और फिर पिताके चरणोंका स्पर्श किये बिना वह शान्त ही कैसे रहता? क्या यमराजका पहरा भी उसका पितृ-दर्शन रोक सकता था? क्या वह कालके भयसे पिताके पास न आता?

चन्द्रकला यही सोचकर व्याकुल हो उठी। हाय उसके लखपती धनी-मानी ससुर यदि तीन हजार रुपयोंके लिए मायामें फँसकर पागल न हुए होते, लड़कीके गहनोंको देखकर यदि उसके बापपर कुपित न होते, तो

आज सुशीलके पिता इस यौवनावस्थामें ही जर्जरित होकर रोग-शय्यापर कदापि न पड़ते !—भगवान् ! तुम्हारी यह कैसी बिडम्बना है ?

उस दिन चन्द्रकला सुशीलकी चिन्तामें पागल हो गयी ! उसी क्षण उसने गुप्त रीतिसे एक आदमीको सुशीलका समाचार लानेके लिए भेजा भी। वह आदमी जो कुछ संवाद ला सका, उससे चन्द्रकलाका रहासहा सन्देह भी दूर हो गया। उसकी छातीमें मानों कोई घन लेकर पीटने लगा। 'दुश्चरित्रताके कारण सुशील बोर्डिंगसे निकाल दिया गया ! उसका कुछ भी हाल मालूम नहीं।' यह समाचार चन्द्रकलाको असह्य हो गया। सुशील बोर्डिंगसे निकाल दिया गया ! वह चरित्रहीन और उच्छृंखल है ! एक बार चन्द्रकलाके दिलमें घृणा उत्पन्न हुई, किन्तु तुरन्त ही विवेकके तीव्र आघातसे घायल होकर फिर उसका दिल पलट गया। व्याकुल होकर चन्द्रकला पलँगपर लेट गयी। मन-ही-मन सोचने लगी, 'जिस रातमें वह यहाँ आया था, उसी दिन अनुपस्थित रहनेके कारण नियमके अनुसार वह बोर्डिङ्गसे निकाला गया होगा। किन्तु इससे क्या सुशीलका चरित्र भ्रष्ट हुआ समझा गया है ? हे ईश्वर, कहाँ हो तुम ? क्या तुम भी मनुष्यकी तरह मनुष्यका बाहरी काम सन्देहात्मक दृष्टिसे देखते हो ? मानुषी-बन्धनको तोड़कर कोई अच्छा काम गुप्त रीतिसे करना क्या तुम भी बुरा समझते हो ? तो फिर किस तरह तुम्हारे भक्त संन्यासी जो गार्हस्थ्य-जीवनके सारे नियमोंको तोड़कर गृह-त्याग करते हैं और तुम्हारे लिए धन, जन, बन्धु, पत्नी, पुत्रके प्रति अपना कर्त्तव्य भूल जाते हैं, उन्हें तुम क्षमा करोगे ? भक्त बालककी उस निष्काम साधनाका यह पुरस्कार तुमने क्यों स्वीकार किया ? क्या उस बालकके प्रति इस विमाताकी अपेक्षा भी तुम्हारा हृदय कठोर है ? ऐसा क्यों भगवन् ?

सुशील उस कालेजमें नहीं है, और किसी कालेजमें भी वह भर्त्ती नहीं हुआ है। इसलिए बहुत सम्भव है कि वह मिर्जापुर माँके पास चला गया हो। मगर नहीं, यह नहीं हो सकता। निश्चय ही कालेजके अपमान और पिताके दुःखसे दुःखी होकर वह अभिमानी बालक त्रिवेणीमें जाकर

डूब गया। जो लड़का इतना बड़ा अभिमानी है, वह भला इतना अपमान सहकर माँके पास कैसे जा सकता है? बस, इसके सिवा और कुछ नहीं हो सकता।' हाय बेटा सुशील! दुखियाका सर्वस्व! तू क्यों इस तरह चुपचाप आकर पाषाणवत् चरणपर दुःखका आँसू बहा गया? यदि तुझे इतना दुःख ही देना था, तो फिर इस पापिनी छोटी माँके हृदयमें तूने अपने स्नेहका बीज क्यों बोया? ओः! समझ गयी! तेरा दोष नहीं! यदि तेरी यह राक्षसी विमाता उस दिन मर गयी होती, तो निश्चय ही तू अपने रोगी पिताको छोड़कर कहीं न जा सकता! कहो यह ठीक है न? हाय! तो फिर मैं मर क्यों नहीं गयी?—मुझे जीवित क्यों रखा प्रभो!

इन्हीं बातोंको सोचकर चन्द्रकलाका हृदय भीतर-ही-भीतर पके हुए फोड़ेकी तरह मंथन करने लगा। एक दिन कौतूहलाक्रान्त होकर राजेन्द्रने उस अनादृत बालकका समाचार जाननेकी इच्छा प्रकट की। कहीं उसका दुःखमय समाचार स्वामी सुन न लें, इसी भयसे आतंकिता चन्द्रकला स्वामीको लेकर इलाहाबादसे भागनेके लिए आज अधीर हो उठी।

४६

लन्धौरमें रहनेके लिए पत्रद्वारा बँगला ठीक कर लिया गया। यात्राका दिन यद्यपि अभी नजदीक नहीं था, तथापि चन्द्रकलाको वह दिन कोई दूर नहीं मालूम होता था। स्वामीकी बातोंसे उसका हृदय परितप्त रहा करता था। जब उसका चित्त वेदनासे व्याकुल और अधीर हो उठता तब वह मन-ही-मन यह कहकर अपने निर्बोध मनको शान्त करती कि, 'यदि वह मुझे छोड़कर जानेमें अपना आराम समझें, तो उन्हें सुख मिलनेके लिए मैं दुःख ही सहूँगी। मेरी सौत मनोरमा बहन भी तो इसी व्रतका

पालन कर रही हैं। यही तो मेरा धर्म है। दुःख सहन क्यों नहीं कर सकूँगी ? जरूर सहन करूँगी।' यही सब सोच-समझकर चन्द्रकला अपने हृदयकी ज्वाला शान्त किया करती थी। स्वामीकी अनुपस्थितिमें कहाँ-कहाँ देवताओंका दर्शन करनेके लिए जाना होगा, कौन-कौनसा व्रत करना होगा, आदि बातें सोचती रहती थी। किन्तु स्वामीकी अनुपस्थितिमें सब सूना हो जायगा। उनके बिना चन्द्रकला किसे लेकर अपना दिन काटेगी ? इन बातोंका स्मरण करते ही चन्द्रकला एकान्तमें जाकर रोने लगी थी।

भाईकी यात्राका हाल सुनकर प्रभा आ गयी। भाभीकी दशा देखकर उसे बड़ा ही दुःख हुआ। वह तीस वर्षकी अवस्थामें ही पचास वर्षकी मालूम होती थी। प्रभाने देखा, किन्तु कुछ कहा नहीं। उसका मन भी पहलेकी अपेक्षा अधिक जर्जरित मालूम हुआ। जो चन्द्रकला इतने ठाट-बाटसे रहती थी कि रानियाँ भी उसके सामने लज्जित होती थीं, जो जवाहरातसे हमेशा लदी रहती थी, वही चन्द्रकला आजकल हाथमें दो-चार चूड़ी, एक अँगूठी तथा गलेमें एक मामूली मोतीका हार छोड़कर सर्वस्व-विहीन हो रही थी। धोती भी इतनी मोटी है कि देखकर आश्चर्य होता है। यह दशा देखकर प्रभा रंज होने लगी। बहुत तरहसे समझाकर, प्रार्थना करके हार जानेपर अन्तमें प्रभा भी अपने गहने उतारकर रखने लगी। चन्द्रकलाने आँसूभरे नत्रोंसे देखकर प्रभाका हाथ पकड़ लिया। वह मन-ही-मन कहने लगी—"मेरे गहने पहननेपर धिक्कार है ! इन्हीं गहनोंके लिए ही तो मेरे पिताने जानबूझकर एक सती-साध्वी देवीका सर्वनाश करके उसकी जगह मुझे बिठाया। यदि इन गहनोंकी लालच न की गयी होती तो मेरा लाल इस तरह दुःख सहकर रातमें आकर न चला जाता। मैंने उसे गर्भमें नहीं रखा था इसीसे अपने मुँहमें अन्न-जल डाल रही हूँ, किन्तु गहने पहनकर मैं सजूँगी कैसे —किस मुखसे ? आखिर मैं भी तो उसकी माँ हूँ। मेरा हृदय कितना कड़ा होगा ?"

प्रभाका साथ अब चन्द्रकला और नहीं निबाह सकती। भाभापर उसकी अटूट भक्ति हो गयी थी। यदि भाभा असमयमें ही विकराल कालका ग्रास न हो गयी होती तो अवश्य चन्द्रकला उसका पाँव पखारती। इस तरहकी उदार चरित्रवाली ननँदको भी उसने विद्वेषकी दृष्टिसे देखा! पर अब तो कोई उपाय नहीं। प्रभाका साथ जब आनन्द-दायक था, तब था। अब चन्द्रकलाका वह दिन कहाँ? जब नये-नये तमाशे देखनेका शौक था, गहनोंके लिए परामर्श करना था, तथा आमोद-प्रमोद करना था, तब प्रभाका साथ अवश्य रोचक था और इन्हीं कामोंके कारण दोनोंमें बहुत घनिष्ठता भी थी। चन्द्रकला स्वामीके प्रेमपर सन्देह करती थी, मान करनेके लिए भूलें ढूँढ़ती थी, सौतसे भेंट न होने देनेके लिए चौकीदारी करनेमें कष्ट सहती थी, तब प्रभाकी बातें उसे प्रिय लगती थीं। किन्तु ईश्वरकी कृपासे अब चन्द्रकलाका वह सब दुःख दूर हो गया। किन्तु प्रभाका वह स्वभाव अभी नहीं बदला है। इसलिए मेल कैसे रह सकता है? बिना स्वभाव मिले मैत्री नहीं टिकती। तो क्या चन्द्रकला अपने दिलकी सच्ची बात भी अब प्रभासे नहीं कहेगी? अवश्य यही बात है। क्योंकि उसके समान दुःखिनी ही उसका दुःख समझ सकती है, प्रभा-से कहनेमें कोई लाभ नहीं। इस अकथ्य दुःखके भारसे यदि उसकी जान भी जायगी, तब भी संसारके एक आदमीके लिए वह अपना यह दुःख प्रकट न होने देगी।

स्वामीके सम्बन्धमें भी रानीगीरीके बाद उसकी जो दाईगीरी आरम्भ हो गयी है, वह भी चन्द्रकला प्रभासे नहीं कह सकेगी। क्योंकि वह प्रभा-का स्वभाव अच्छी तरह जानती थी। इसीसे प्रभाने जब उससे पूछा कि, "भैयाको छोड़कर तू कैसे रहेगी भाभी?" तब चन्द्रकलाने कहा कि, "हर्ज क्या है? वहाँपर सब प्रबन्ध ठीक कर लिया गया है, उन्हें वहाँ किसी तरहकी असुविधा नहीं होगी। ऐसी दशामें मैं जाकर क्या करूँगी? मेरा जाना और न जाना समान है।"

धीरे-धीरे राजेन्द्रके जानेका समय निकट आ गया। एक दिन चन्द्र-

कलाके भाई महादेवप्रसाद कुछ प्रसंग उठनेपर कहने लगे कि,—“जीजा ! मेरे क्लासका एक लड़का अपने बापसे अलग था। उसके पिताका देहान्त हो गया। इसके बाद उसकी विमातासे और उससे मुकदमा चलने लगा। परसों हाईकोर्टके जजने फैसला सुनाया है कि समूचे मालका मालिक लड़का है। इस बिचारेका दुःख तो दूर हो गया, पर उस विमाताकी बड़ी दुर्दशा हुई है।”

राजेन्द्रने ऊपरी भावसे कहा,—“कानूनन तो ऐसा फैसला होगा ही।” यह कहकर राजेन्द्र खिड़कीकी ओर देखने लगे। बहनपर दृष्टि पड़ते ही महादेवप्रसाद विस्मयान्वित हो उठे और बात बदलकर उसे भुलावा देनेके लिए अन्यान्य बातें करने लगे।

इसके दो दिन बाद चार बजेके करीब राजेन्द्रने अपने कमरेमें आकर चन्द्रकलाको बुलाया। आनेपर कागजका एक बंडल उसके हाथमें देकर कहा—“यह बख्शीसनामा है, इसे अच्छी तरह सँभालकर अपने पास रखना। जाओ इसे बाक्समें इन्तिजामसे रख दो।”

चन्द्रकलाने शान्त भावसे कागजका बंडल लेकर कहा—“बख्शीस-नामा कैसा ?”

राजेन्द्रने कहा—“तुम्हारे भाईने उस दिन क्या कहा था, भूल गयी ?”

चन्द्रकलाने उत्तेजित होकर कहा—“कोई कुछ कहे-सुने इससे क्या ? मैं तो लोगोंके कहनेपर इतना ध्यान देनेकी कोई आवश्यकता नहीं देखती।”

चन्द्रकलाकी नाराजगी देखकर राजेन्द्र हँस पड़े। कहा—“अच्छा तुम इसे ले जाकर रख दो।”

चन्द्रकलाने उसे आद्योपान्त पढ़नेके बाद कुछ सोचकर कहा—“क्या यही कागज असल है ?”

राजेन्द्र—“हाँ। इसकी एक नकल रजिस्ट्रारके आफिसमें है।

चन्द्र०—“वह मुझे चाहिये।”

राजेन्द्र—"उसे वापस करनेका सरकारी नियम नहीं है।"

चन्द्रकलाका शरीर थर-थर काँपने लगा। उसने लाल मुँह करके कहा—"क्या तुम कह सकते हो कि यह बख्शीसनामा लिखकर तुमने मेरा अपमान नहीं किया? तुमने अपनी सारी सम्पत्ति मेरे नाम क्यों लिख दी? क्या मैंने कभी कुछ कहा था?"

राजेन्द्रने खिलखिलाकर हँसते हुए कहा—"तुम्हें छोड़कर और मैं किसके नाम लिखता?"

चन्द्रकलाके शरीरका रक्त खौल उठा। उसने कहा—"मुझे छोड़कर क्या तुम्हारा और कोई नहीं है?"

इतना सुनकर भी राजेन्द्रकी हँसी न रुकी। उन्होंने फिर हँसकर ही कहा—"रहनेसे ही तुम्हारे नाम बख्शीसनामा लिखनेकी जरूरत हुई! अभी तो तुम रञ्ज हो रही हो, किन्तु पीछे समझोगी कि इसकी आवश्यकता थी या नहीं। मेरे मरनेके बाद तुम्हें भोजन-वस्त्रके सिवा एक पैसा भी न मिलता, इसकी भी तुम्हें कुछ खबर है?"

चन्द्र०—क्या मुँहपर न लाने योग्य बातें मुँहसे निकालते हो महाराज! यद्यपि मेरे माँ-बापने इन्हीं रुपयोंके लोभसे ही मुझे तुम्हारे गले मढ़ा; किन्तु माँ-बापके उस पापका प्रायश्चित मुझे कम नहीं भोगना पड़ा। जो कुछ भी हो, मैंने आजतक तुम्हें जो दुःख दिया सो दिया, पर अब तुम मेरी चिन्तामें अपना परलोक न बिगाड़ो; इसकी कोई जरूरत नहीं है। मैं इसीमें सन्तुष्ट हूँ। तुम अगले जन्मके लिए भी उनसे शत्रुता करके मत जाओ। मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, मेरी चिन्ता तुम बिलकुल न करो।"—इतना कहते ही चन्द्रकलाकी आँखें आँसूसे तर हो गयीं। उसने हाथका कागज फाड़कर टुकड़ा-टुकड़ा करके जमीनपर फेंक दिया और स्वामीके पैरोंपर गिरकर अबोध बालिकाकी तरह गिड़गिड़ाकर कहा—"ओफ! तुममें कितनी निष्ठुरता है! तुममें जरा भी दया नहीं! लोग एक पक्षी पालकर उसपर भी ममता और स्नेह रखते हैं और तुम सहधर्मिणी संगिनीको इस तरह भूलते हो!"

राजेन्द्रके मुँहसे एक शब्द भी न निकला। अच्छा या बुरा कुछ भी वह मुँहसे न निकाल सके और शोक-ग्रस्त हो गये।

४७

मिर्जापुरके प्रसिद्ध धनी विद्वान् श्रीयुत बाबू सुखनन्दन सिंहके यहाँ जगन नौकरी करता था। इधर एक वर्षसे वह इलाहाबादमें ही रहते हैं। इनकी अवस्था भी अधिक नहीं, केवल पचीस वर्षकी है। यह मानव-स्वभावके सच्चे पारखी हैं। सुशीलको देखते ही वह समझ गये कि यह लड़का किसी उच्च कुटुम्बका है, और किसी प्रकारकी मानसिक वेदनाके कारण इसकी यह दशा हुई है। किन्तु अपना यह भाव उन्होंने सुशीलसे प्रकट नहीं किया। उन्होंने इलाहाबाद बैंकमें सुशीलकी ५०) मासिककी नौकरी ठीक करा दी। वहाँ सुशीलको (Day book) 'डे बुक' लिखनेके लिए ६ बजे शामसे ११ बजे राततक काम करना पड़ता था। उनकी असीम कृपा सुशीलसे छिपी हुई नहीं थी। सुशील उनके पास जाकर प्रतिदिन घंटे-दो-घंटे शान्ति-लाभ करता था। किन्तु एक चीजका नशा उसे हो गया। प्रतिदिन सुबह और शाम वह प्रतीक्षा करनेमें निमग्न रहता था। इसीसे किसी-किसी दिन उसे बैंक जानेमें देर भी हो जाती थी। सड़कके किनारे बैठकर वह उस दिनकी देखी हुई गाड़ीकी खोजमें रहने लगा। दिन-पर-दिन उसकी यह इच्छा बढ़ती गयी। किलेके पास उसे प्रायः रोज दोनों वक्त इस गाड़ीका दर्शन मिल जाया करता था। वह एक वृक्षके नीचे बैठा करता था; क्योंकि वहाँसे राजेन्द्रका मुख अच्छी तरह दिखाई पड़ता था। गाड़ीमें बैठकर वह जो कुछ बातें करते थे उसका कुछ अंश सुशील भी सुन लेता था। पिताका उन्नत शरीर इधर कई महीनोंमें क्षीण हो गया है! सुन्दर मुख कैसा मलिन हो गया

है ! विमाता गाड़ीमें बैठी हुई उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा करती हैं; किन्तु चेहरेपर प्रसन्नता जरासी भी नहीं झलकती, यह भी सुशील समझता था। कभी-कभी जब गाड़ी दूसरे रास्तेसे जाती दिखाई पड़ती, तो सुशील आर्त्त होकर गाड़ीके सामने निकल जानेकी चेष्टा भी करता था। इस तरह सुशीलका दुःखमय दिन स्वप्नके सुखकी भाँति कटता था। पिताके मुखके जो दो-चार शब्द वह सुनता था, घर आनेपर उन्हींको जपता रहता था। सोचता था—एक बार माँको यहाँ लाकर यदि बाबूजीका दर्शन करा देता !

एक दिन विमाताके साथ एक और अपरिचित स्त्री गाड़ीमें दिखाई पड़ी। आज विमाताकी गोदमें एक छोटा-सा कुमार बालक भी है। लड़केका मुँह सुशीलसे बहुत-कुछ मिलता-जुलता था। 'बच्चा' नामसे पुकारनेकी आवाज आयी। बहुत सम्भव है, यह सुशीलका छोटा भाई हो। लड़का बड़ा चञ्चल है। सुशीलको अपनी बाल्यावस्थाकी याद आ गयी। सोचने लगा, इस उम्रमें मैं भी इसी तरह सुख-चञ्चल और हँसमुख रहा होऊँगा। पिताको लड़केका चुम्बन करते देखकर सुशीलका चित्त ललच उठा। अहा ! यह छोटा-सा खूबसूरत बच्चा उसका भाई है !

आज सात बजेतक बैठनेपर भी गाड़ी दिखाई नहीं पड़ी। खिन्न होकर सुशील घर लौट आया। रविवारका दिन था, इसलिए बैंक जानेकी जरूरत नहीं थी। सुशील अभी कुछ देरतक और ठहरकर गाड़ीकी बाट जोहता, किन्तु जगन मिर्जापुर जानेवाला था और सुशील उसे कुछ रुपया देनेवाला था, इसलिए वह अधिक नहीं रुक सका। शनिवारको ही जगनको देनेके लिए सुशील २५) रुपये बैंकसे लेता आया था। आते ही जगनने कहा—"आइ गयउ भइया, अच्छा हम जाई थे।"

सुशीलने २५) रुपये निकालकर जगनके हाथपर रख दिये। कहा—"अच्छी बात है, देखना जल्द आना, तुम्हारे बिना यहाँ मेरा चित्त नहीं लगेगा।"

जगन—"एकर कौनो दरकार नहीं है भैया। लेउ, रुपैया रख लेउ।

हमतौ न जाते, सुना का करी मालिकका काम है न, परसौंतक हम जरूर लउटि अउबै, देख्यौ तकलीफ न सह्यौ।"

सुशील—"यह तुम क्या करते हो जगन! रुपये अपने पास रखो। ईश्वरकी कृपासे मेरी नौकरी लग गयी। इसलिए बिना तुम्हें दिये मैं कैसे रह सकता हूँ। मुझसे रुपये लेनेमें तुम्हें बिलकुल नहीं हिचकना चाहिये। देखो, जब मेरे पास रुपये नहीं थे, तब मैंने बिना आनाकानी किये तुमसे पाँच रुपये ले लिये थे।—लो इसे।"

जगनने नीचा सिर करके बड़े संकोचसे रुपये ले लिये। कहा—"इस्सर फेर दिन देखइहैं तो भैयाके साथै रहबै। लेकिन भैया एतना रुपैया तौ हमार खर्चौ न भयल होइहै, फेर कुल काहे देत हौ?"

सुशील—"तुमने जो कुछ मेरे साथ किया है, वह क्या इन थोड़ेसे रुपयोंसे पटाया जा सकता है? तुम इसे ले लो, खर्च जोड़नेकी जरूरत नहीं। हाँ, देखो माँसे जरूर भेंट करके आना।"—इतना कहते ही सुशीलकी आँखोंसे आँसूकी धारा बह चली। माँ-की सूरत उसकी आँखोंके सामने नाचने लगी।

भोर होते ही सुशील अपने निश्चित स्थानपर फिर जा पहुँचा। आठ बजेतक वह चारों तरफ भटकता रहा, किन्तु वह गाड़ी फिर न दिखाई पड़ी। तो क्या वह इलाहाबाद छोड़कर कहीं चले गये हैं? अथवा उनकी तबीयत ठीक नहीं है? लाचार होकर सुशील नौ बजे घर वापस आ गया। आज अन्न-जल उसे बिलकुल नहीं रुचा।

मंगलवारको सबेरे जगन वापस आ गया। सुशीलने पूछा—"माँ किस तरह है जगन?"

जगनने दुःखित होकर कहा—"भैया, बहुत दूबरि और रोगी होइ ग हैं। उनसे बात करैका मौका हमैं तन्निउ नाहीं मिला। संगमें मुनीमजी रहेनि एसे हम बात नाहीं कह सके। कल्हि रातिमें बैजंतिया आई रही। कहत रही, 'मानू बहिनका हाल बहुतै खराब है। सक्ति भरि सुशील भैयाके खोजिके अब ओ बेराम पड़ी हैं। रहि रहिके सुशील,

सुशील, कहा करत हैं।' भैया, एक दाईं जाइके देखि आवउ।"

माँका समाचार सुननेके लिए जो सुशील विह्वल हो रहा था, वही सुशील इतना सुनते ही मुरझा गया। इतने दिनोंके भीतर वह लज्जावश माँको एक पत्र भी नहीं लिख सका है। क्या यह अच्छा हुआ? बहुत देरतक मौन रहनेके बाद एक लम्बी साँस छोड़कर सुशीलने कहा—"मैं आज ही मिर्जापुर जाऊँगा जगन।" अबकी बार इतना दुःखद समाचार सुननेपर भी सुशीलकी आँखोंमें आँसू नहीं आया। मानो दुःखके मारे आँसूकी धारा गिराते-गिराते सुशीलकी समूची अश्रु सम्पत्ति ही समाप्त हो गयी थी।

जगन यही सुनना चाहता था। प्रसन्न होकर कहा—"अच्छी बात है। रुपैया जो कहउ सो हम लियाइ देई। हाँ भैया, एक चिट्ठी जातै भेज दिह्यौ।"

सुशील बैंकमें काम करनेवाले एक साथीसे १०) अपने खर्चके लिए कल ही उधार ले आया था। इसलिए जगनसे कुछ नहीं लिया।

जगनके पाससे बिदा होकर बाहर आते ही सुशीलका विचार पलट गया। सोचने लगा—"बीस दिनकी छुट्टीके लिए मैं लिख चुका हूँ। क्या जानें मंजूर होगी या नहीं। यदि मंजूर हुई तो मेरा यहाँ आना जल्द काहेको होगा? कब आऊँगा, कब नहीं, कौन जानता है? इसलिए कमसे-कम एक बार उनकी तबीयत कैसी है, कैसी नहीं है, बिना देखे कैसे चलूँ? माँ पूछेगी, आजकल वह कैसे हैं, तो मैं बिना देखे क्या उत्तर दूँगा?"

सुशील लौट पड़ा। उसी मकानके समीप जाकर देखा तो बैल-गाड़ियोंपर सामान लद रहा था। बात क्या है, कुछ भी समझ न सकनेके कारण वह चुपचाप वहीं खड़ा रहा। इतनेमें उसीकी अवस्थाका एक नौकर बाल सँवारे, बढ़िया साफ कुर्त्ता पहने, सिरपर दोपलिया बनारसी सफेद टोपी दिये, बूट पहने और हाथमें एक छड़ी लिये बाहर निकला। बड़े आदमीके घरका यह शौकीन नौकर भला मैला-कुचैला कपड़ा पहने

इस दरिद्र वेषधारी बालकसे क्यों बातें करने लगा ! उसमें इतनी बुद्धि कहाँ कि 'ना जानें केहि वेषमें, नारायण मिलि जायँ ?' उसे क्या मालूम कि यह कौन है ? ऐसे भिक्षुक तो उसके फाटकपर दिनभरमें सैकड़ों आया करते हैं।

सुशीलके पूछनेपर भी वह अभिमानी नौकर कुछ नहीं बोला। थोड़ी देरके बाद एक दूसरे आदमीसे उसे मालूम हुआ कि कल उसके मालिक इन्धौर जानेवाले हैं। उनके साथमें रघुवीरसिंह और बुद्धू दो नौकर तथा एक रसोईदार ये तीन आदमी जायँगे। इनके सिवा और कोई नहीं जायगा। वहींके लिए यह सब सामान लद रहा है। लौटेंगे कबतक ? कुछ ठीक नहीं; शायद चार महीनेमें लौट आवेंगे; सम्भव है इससे अधिक भी लग जाय। इधर कई दिनोंसे वह बाहर घूमने-फिरने भी नहीं गये। बड़े आदमी हैं, उनके दिलकी बात कौन जाने। हाँ, आज तो आधा घण्टा हुआ होगा, घूमने गये हैं।

सुशील ने पूछा—कबतक लौटेंगे ? नौकरने कहा—यह भला किसीको क्या मालूम ?

उत्कंठा सुशीलके शरीरमें प्रबल वेगसे आघात करने लगी। चले जायँगे ! कबतक आवेंगे, कुछ भी निश्चय नहीं ! तो क्या अब सुशीलसे भेंट न होगी ? आज भी ! नहीं नहीं; ऐसा कभी नहीं हो सकता ! वह बिना उन्हें देखे कहीं न जायगा। सुशीलको अपने जानेकी सुध भूल गयी।

सुशील रातके करीब आठ बजे भेंट होनेकी आशा छोड़कर वहाँसे स्टेशनकी ओर चला। जगनके यहाँ उसका जाना असम्भव है। जो सुशील इतने दिनोंके बाद माँसे भेंट करनेके लिए जाना भी भूल गया, वह भला इस समय जगनकी याद क्योंकर करने लगा ?

गलीके मोड़पर मुड़ते ही एक भीषण दृश्य उसे दिखाई पड़ा। उसने देखा कि दैत्यके समान दो प्रकाण्ड काले घोड़े गाड़ीकी जोत तोड़कर उछल रहे हैं। एक घोड़ा तो गाड़ीसे छूट गया है और दूसरा छूटनेकी

चेष्टा कर रहा है। गाड़ीसे किसी असहाय स्त्रीकी आर्त्त-पुकार सुनाई पड़ रही है, किन्तु दुःखका विषय यह है कि उसकी आर्त्तपुकार सुननेवाला वहाँ कोई नहीं! कोचवान बारह हाथकी दूरीपर मूर्छित पड़ा हुआ है। साईस तो दोनों उन्मत्त घोड़ोंको पकड़नेकी चेष्टामें भूला हुआ है। यदि ऐसा न करता तो अवतक गाड़ी उलटकर चूर-मूर हो गयी होती।

भद्र पुरुषोंकी भीड़ नहीं है, छोटे आदमियोंकी मामूली भीड़ लगी हुई है। सहायता करनेवाला कोई नहीं! सुशीलने शीघ्रतासे गाड़ीका दरवाजा खोलकर जोरसे कहा—"मेरा हाथ अच्छी तरह पकड़कर जल्दी नीचे उतर आइये, डरिये मत।" ऐसा कहनेमें सुशील बिलकुल लज्जित या संकुचित नहीं हुआ। गाड़ीमें कौन है कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता था। देखनेका अवसर भी नहीं था।

सुशीलका हाथ न पकड़कर व्याकुल कण्ठसे स्त्रीने कहा—"मेरे लिए कोई चिन्ता नहीं है—यही बीमार हैं, इन्हींको किसी तरह बाहर निकालने-की आवश्यकता है—यदि आप सहायता कर सकें तो—"

सुशीलका हृदय व्यथित होने लगा। उसने अपने शरीरकी जरा भी चिन्ता नहीं की। शीघ्रतासे अपनी सारी शक्ति लगाकर राजेन्द्रका क्षीण शरीर चौचक उठाकर नीचे उतार लिया। इस समय मानो सुशीलके शरीरमें ईश्वर-प्रदत्त शक्तिका संचार हो गया था। तबतक स्त्री अपने-आप ही उतर आयी थी। राजेन्द्रके बिलकुल बेहोश न रहनेपर भी सुशीलने चन्द्रकलासे कहा—"आप बैठें, मैं जल लाता हूँ। माथेपर जल देनेसे इनकी मूर्च्छा दूर हो जायगी।"

बगलमें एक निहायत दरिद्रका घर था। उसके यहाँसे एक टूटा हुआ पंखा और एक ग्लास पानी लेकर सुशील वापस आया। चन्द्रकला हवा करने लगी और सुशील उनके माथेपर पानीका पुट देने लगा।

राजेन्द्रकी एक बार आँखें खुलीं, पर तुरन्त ही फिर ढँप गयीं। चन्द्र-कलाने सुशीलसे नम्र भावसे कहा—"मेरे बच्चे! तुमने मेरे लिए बहुतसे कष्ट सहे, एक काम और कर दो मुन्ना। दया करके एक गाड़ी यदि बुला

देते तो अच्छा होता लाल ?"

सुशीलने कहा—"आप ठहरिये, मैं अभी गाड़ी मँगवा देता हूँ। आप पंखा झलती रहें।"

सुशीलकी इच्छा सारी रात उन्हींके साथ बितानेकी हो रही थी। जीवनकी एक रात तो उसकी सार्थक हो जाय। किन्तु हाय ! यह भी उसकी दुराशामात्र थी ! कहाँ यह निर्धन और भिक्षुक सुशील और कहाँ वह सुविख्यात धनी सदानन्द त्रिपाठीके पुत्र विद्या, बुद्धि और कीर्ति-सम्पन्न राजेन्द्रप्रसाद त्रिपाठी। उनके पास ऐसे भिक्षुकका रहना कैसे सम्भव हो सकता ?

४८

गाड़ी आकर खड़ी हो गयी। राजेन्द्र भी मूर्च्छासे जाग उठे। उन्होंने इधर-उधर देखकर कहा—"बच्चा !"—यह बच्चा' शब्द सुनते ही सुशील चौंक उठा। समझा, यह आवाज मेरे लिए है। उसके हाथका ग्लास गिर पड़ा। उत्तरमें वह जी हाँ, कहना ही चाहता था कि इतनेमें स्वामीके मुखकी ओर देखकर चन्द्रकला बोल उठी—"बच्चा तो साथमें आया ही नहीं था; वह तो घरपर ही है। ईश्वरने ही यह रक्षा की है।"

हाय रे हतभाग्य ! तूने मूर्छित पिताके मुँहसे भी 'बच्चा' शब्द सुशीलको नहीं सुनने दिया ! बिचारे सुशीलको क्या मालूम था कि लोग 'बच्चा' प्रभाके लड़केको कहते हैं ? उसे क्या मालूम कि उस दिन विमाताके साथमें बैठी हुई अपरिचित स्त्री उसकी छोटी बुआ प्रभा थी और उसका वह लड़का ही 'बच्चा' था ? उसने तो यह समझा कि लोक-की प्रथाके अनुसार लोग अपने बड़े लड़केका नाम नहीं लेते, इसलिए बाबूजीने भी मुझे सुशील न कहकर 'बच्चा' नामसे पुकारा है। किन्तु

छोटी माँके बोलते ही सुशीलकी आशा भङ्ग हो गयी। उसके पिता उसे कभी पुकारेंगे, भला यह उसके भाग्यमें कहाँ ?

गाड़ीमें पिताको धीरेसे बैठाकर सुशील जिस समय गाड़ीके दरवाजेके सामने खड़ा हुआ, एवं नजदीकमें सड़कपर जलती हुई बत्तीका प्रकाश उसके मुखपर पड़ा, उस समय निश्चिन्ततासे बैठी हुई चन्द्रकलाकी दृष्टि उसके आँसूसे भरे हुए नेत्रोंकी ओर पड़ी। उसे मालूम हुआ कि इस लड़केको कहीं मैंने अवश्य देखा है; किन्तु कहाँ देखा है, स्मरण नहीं हुआ।

उपकारी तरुणोन्मुख बालकके समीप उसने बार-बार कृतज्ञता प्रकट की। अबकी उसे बहुत निर्धन समझकर प्रत्युपकार करनेकी इच्छासे उसने सुशीलकी ओर देखकर कहा—"मैं किन शब्दोंमें तुम्हें असीसूँ बेटे ? क्या तुम्हारी माँ हैं ? खैर वह हों चाहे न हों, आजसे तुम मुझे भी अपनी माँ समझो। तुम्हारा नाम क्या है लल्ला ?"

सुशील भौंचकासा निस्तब्ध खड़ा रहा। इतनेमें कोचवानने गाड़ी हाँक दी। चन्द्रकलाने गाड़ीके चलते-चलते ही शीघ्रतासे अपने हाथकी अँगूठी निकालकर सुशीलके हाथपर रख दी और व्यग्रतासे कहा—"किन्तु कुछ दिलमें सोचना मत भाई—यह बहुत ही मामूली चीज है ! तुम्हारा नाम और पता क्या है ?"

सुशीलने झपटकर अँगूठीको गाड़ीमें रख दिया और धीरेसे व्याकुल होकर कहा—"इसे मैं नहीं ले सकता, क्षमा कीजियेगा !" यह कहकर वह पीछे लौट आया।

"तुम्हारा नाम और पता क्या है ?"—चन्द्रकलाने फिर पूछा।

तबतक सुशीलसे और गाड़ीसे बहुत अन्तर पड़ गया। चन्द्रकला बार-बार झुककर सुशीलको देखने लगी, पर उसका पता कहाँ है ?

इतनेहीमें चन्द्रकलाका हाथ पकड़कर राजेन्द्रने कहा—"व्यर्थ ही उसे ढूँढ़नेकी चेष्टा क्यों कर रही हो, वह नहीं आवेगा।"

स्वामीका मुख अँधेरेके कारण इस समय चन्द्रकला देख न सकी।

उसने अधीर होकर कहा—"तुमने यह कैसे कहा ? क्या तुम उसे जानते हो ?"—आग्रह और आवेगसे समूचे शरीरके साथ ही उसके गलेका स्वर भी घरघराकर काँपने लगा ।

राजेन्द्र थोड़ी देरतक चुप रहे; पश्चात् धीरेसे बोले—"जानता हूँ ।"

भीषण सन्देहके कारण चन्द्रकलाका शरीर थरथराने लगा । उसने उछ्वास रोककर किसी तरह इतना कहा—"तो फिर तुमने मुझे पहले क्यों नहीं बतलाया ?" यह कहकर चन्द्रकला फिर झुककर पीछेकी ओर देखने लगी और आवाज देने लगी—"सुशील !—सुशील !—सुशील !"

इतना ही नहीं, उसने गाड़ी भी घुमवा दी । इधर-उधर बहुत देरतक ढूँढ़ा; किन्तु सुशीलका कुछ भी पता न चला । उसने व्याकुल होकर स्वामीसे कहा—"तुम उसे चीन्हकर भी चुप रहे ! हाय राम ! तुम्हारा कितना कठोर हृदय है, कुछ समझमें नहीं आता !"

राजेन्द्रने कुछ भी नहीं कहा । हाँ, हँसीकी आवाज जरूर सुनाई पड़ी । किन्तु वह राजेन्द्रकी हँसी नहीं, दीर्घ निःश्वास था । स्वामीकी ऐसी हँसीसे चन्द्रकला अपरिचित नहीं थी । उस समय जी-जानसे उसने अपनेको सँभालकर पूर्ण धीरताके साथ शान्त भावसे कहा—"शायद तुम भी उसे अच्छी तरह पहचान नहीं सके । बस वही एक ही बार तो तुमने भी देखा है न ?"

राजेन्द्रने कहा—"तुमने भी यदि उसे एक बार देखा होता, तो तुम्हें भी उसकी सूरत कभी न भूलती । अच्छा अब यह बात छोड़ो । शरीरकी शक्ति बिलकुल नष्ट होती जा रही है, किसी तरह जल्दी घर पहुँचनेकी चेष्टा करो ।"

सुशील जीवित है, बस इतना ही जानकर चन्द्रकलाका खिन्न हृदय पुलकित हो उठा । उसी आनन्दमें विभोर होनेके कारण स्वामीकी अन्तिम बात वह अच्छी तरह न सुन सकी । नयी आपत्ति आनेके भयसे चन्द्रकलाने इस समय और कोई बात नहीं की ।

दुःखमय समयमें रास्ता भी जल्द खतम नहीं होता ! खैर, किसी

तरह गाड़ी मकानके फाटकके सामने पहुँची। गाड़ीसे रोगीको उतारकर नौकरोंकी सहायतासे चन्द्रकला ऊपर ले गयी। कुछ ठंढी चीजें खिलानेके बाद डाक्टरके पास आदमी भेजकर स्वामीके पास आकर बैठ गयी। देखा, वह दोनों हाथोंसे अपना मुँह ढँककर पलँगपर लेटे हुए हैं। साँसकी गति भी अस्वाभाविक हो गयी है। आँखोंसे आँसूकी धारा बह रही है। मर्म-स्थलमें गोली लगनेके कारण मृत्युके भयंकर कष्टसे पीड़ित जानवरकी भाँति तड़प रहे हैं। एक बार आँखें खुलीं। चन्द्रकलाको अपने समीप बैठी देखकर राजेन्द्रने कहा—"अब तो यह दुःख सहा नहीं जाता! मालूम होता है, फिर उसी रोगने आ घेरा। मैं समझता हूँ, अब यही मेरा अन्तिम समय है।"

स्वामीकी यह बात चन्द्रकलाके हृदयमें बाणकी तरह लगी। वह अपनेको किसी तरह सँभालकर स्वामीके शरीरसे लिपट गयी। हृदय फाड़-कर यह शब्द निकला—"ऐसी बात क्यों कहते हो? ओफ! तुम्हारी यह बात असह्य हो रही है।"

कहते-कहते चन्द्रकला पैरके तलवेमें मालिश करनेकी शीशी लानेके लिए चली गयी और दवा लाकर तलवेमें लेप करने लगी। रोककर राजेन्द्रने कहा—"ठहरो—ठहरो, यदि समय ऐसा ही है तो अब मुझे तुम छुट्टी दे दो प्रिये!"

बहुत देरके बाद जब राजेन्द्रने आँखें खोलकर देखा तो चन्द्रकला हाथमें शीशी लेकर अश्रु-वर्षा करती दिखाई पड़ी। साहस करके राजेन्द्रने कहा—"प्रिये!"

चन्द्रकला चौंककर स्वामीके नेत्रोंका इशारा समझ गयी और उनके समीप आ गयी। स्वामीके कण्ठसे विमुख स्नेहके उच्छ्वासका अनुभव करके चन्द्रकलाका स्त्री-चित्त विदीर्ण होने लगा। यह स्वामीकी छातीके बगलमें अपना माथा झुँकाकर रोने लगी। वह उसके अभिमानका रुदन नहीं, वरन् मर्माहताके हृदयका बाँध टूटनेका कातर क्रन्दन था। बाहरी दिखावट नहीं, बल्कि विरहिणीके हृदयका प्रसेक था।

राजेन्दने फिर कहा—"प्रिये ! शान्त हो जाओ ! यह समय रोनेमें न बिताओ। अब मैं अधिक नहीं सहन कर सकता। शान्त होकर सुनो। तुमसे कई आवश्यक बातें कहनी हैं। अभी कह देना ठीक है। पीछे न-जानें क्या होगा। तुम भी पलँगपर ही बैठ जाओ; और समीपमें आ जाओ। आज हृदयसे एक बार तुम्हें प्यार कर लूँ। एक दिन भी मैं तुम्हें प्रसन्न नहीं रख सका। मेरे स्नेहमें तुम्हें बराबर ही सन्देह बना रहा। इसी कारण तुम्हें दुःख भी बहुत सहना पड़ा। किन्तु प्रिये ! तुम्हारा कोई दोष नहीं !—विश्वास करो, मैंने कभी तुम्हारी अवज्ञा करनेकी नीयत नहीं की; तुम्हें दुःख देना भी मैंने कभी नहीं सोचा; किन्तु अदृष्ट दोषसे मैं जरूर कभी बरी नहीं हो सकता। यह सब मेरे भाग्यका ही दोष है। मैं उसे एक दिन भी नहीं भूल सका। कहोगी, जब ऐसी अवस्था थी, तो दूसरा ब्याह करके भूल की। तुम्हारा यह कहना ठीक है; किन्तु मैं लाचार था। विवाह न करनेसे बाबूजीको बड़ा कष्ट होता। और फिर भाग्यमें जो लिखा था, उसे कौन मिटाता ?"

स्वामीकी बात रोककर चन्द्रकला बोल उठी—"ऐसी बातें तुम क्यों सुनाते हो ? तुम्हें पाकर मुझे जो कुछ मिला है, वह कितनी रानियोंको अपने स्वामी राजाओंसे प्राप्त हुआ है ? मैं राक्षसी हूँ—अभिमानके कारण सन्देहमें मरती थी, इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। पर ईश्वरकी कृपासे इस मिलनके समय मेरे सन्देह और दुःखका कारण पहले ही दूर हो गया है।"

कठिन वेदनाके कारण थोड़ी देरतक चुप रहनेके बाद राजेन्द्रने फिर कहा—"अब मुझे अपनी बातें कहनेकी कोई जरूरत नहीं ! तुम स्वयं ही जानती हो।"

थक जानेके कारण राजेन्द्र फिर चुप हो गये। स्वामीके वेदनाहत शरीरपर अपना मस्तक रखकर चन्द्रकलाने बड़े विलापसे कहा—"यदि तुम्हारा दुःख जाननेकी मैंने एक दिन भी इच्छा की होती, तो कदाचित इस दशामें आज···"

राजेन्द्र—"तुम सहृदय हो, सब कुछ कर सकती हो। पर तुम्हारा कोई भी अपराध नहीं प्रिये! मुझे यही प्रसन्नता हो रही है कि आज मैं इस अन्तिम समयमें तुमसे बिदा होते समय तुम्हारा हृदय निःसन्दिग्ध पा रहा हूँ। अवश्य ही मैं अपने हृदयसे उसे नहीं निकाल सका। पर इसमें मेरा दोष नहीं! ईश्वरको साक्षी देकर कहता हूँ कि मैंने कभी ऐसा काम करनेके लिए सोचा भी नहीं जिससे तुम्हें किसी प्रकारका कष्ट हो। शब्दोंमें शक्ति नहीं कि मैं अपने हृदयका भाव तुमसे कहूँ। मुझे विश्वास है कि तुम मेरा हृदय पहचान लोगी। आज मैं हृदयकी सारी बातें क्यों कह रहा हूँ, इसे तुम मेरे प्रति सन्देहोंको दूर करके देखो; मेरा हृदय तौलो। मेरे समान अभागा इस संसारमें नहीं! तुम मुझपर विचार करो और फिर यदि उचित समझो तथा मुझे अधिकारी समझो तो अपनी ओरसे मुझे क्षमा प्रदान करो। हाय, मैं तुम्हें कभी भी प्रसन्न न कर सका! ओफ! धीरे-धीरे व्यथा बढ़ती ही जा रही है।"

चन्द्र०—"घबड़ाओ मत, ईश्वर चाहेंगे तो बहुत जल्द कष्टोंकी इतिश्री हो जायगी। रोनेसे क्या लाभ? दुःखके समय धैर्य धारण करना ही बुद्धिमत्ता है।"

राजेन्द्रने कहा—"क्या तुम मुझे अभी और दुःख सहन करनेके लिए रोकना चाहती हो? और? सुशील;—निर्दोष, पवित्र और रत्न सुशील—ओफ! उसे आज मैंने—इसी लखपती राजेन्द्रने—भिक्षुकके रूपमें देखा है—फिर भी अभीतक दुःख भोगनेके लिए जीवित हूँ। आश्चर्य! तुम्हें मालूम नहीं प्रिये कि मुझे कितना दुःख हो रहा है। हायरे गुलाबका फूल, तू मालीके हत्यारेपनसे ही सूख गया! हाँ, वह कैसा है, सो तुम्हें मालूम है?—उस रोज रातमें क्या चोर आया था? तुम्हें विश्वास होता है? वह चोर नहीं था, स्वप्न भी नहीं था, वह हम लोगोंका सर्वस्व धन सुशील था!"

चन्द्रकला मानो बेंत लगनेके कारण चौंक पड़ी। बोली—"तुमसे यह बात किसने कही? मैंने तो तुमसे यह बात छिपा रखी थी।"

राजेन्द्र फिर अपनी उस चिराभ्यस्त विषाद-प्रच्छन्न मृदु हँसीको न रोक सके। बोले—"मैं जो यहाँसे बहुत दिनोंके लिए बाहर जा रहा था, वह केवल इसीलिए। मैंने यही सोचा कि मेरे रहनेसे उसकी कुशल न होगी। वह मेरे पीछे-पीछे छायाकी तरह फिरता रहता है। तुम्हें वह दिखाई नहीं पड़ता, पर मैं उसकी छाया देखकर ही उसे पहचान सकता हूँ। मैं क्या उसे एक पलके लिए भी भुला सका हूँ? सभामें कविता पढ़ते समयका उसका अनुपम सौन्दर्य हृदयमें सजीव अंकित हो गया है। यह उसीकी व्यथा है। क्या इतनेपर भी तुम मुझे जीवित रखना चाहती हो?"

चन्द्र०—"शान्त हो लो! दूसरे समय ये बातें कहना, मैं सब सुनूँगी—सुनकर यदि मेरा हृदय फट जायगा, तब भी मैं सहन करूँगी! मैं खुद यह कहना चाहती थी, पर तुम्हें दुःख होनेके भयसे नहीं कह सकी। इतना मैं कह डालती हूँ कि अब उन दोनोंको यहाँ बुला लेना ही कर्त्तव्य और धर्म है। इतने दिनोंतक उन दोनोंको कष्ट पहुँचाना बहुत बड़ा पाप हुआ। खैर अभी इसे छोड़ो, पीछे कहूँगी। इस समय आराम करो। तुमने इतना सहन किया है जरूर, पर मैंने भी कम दुःख सहन नहीं किया है। फिर भी अभी कठिनसे-कठिन कष्ट सहनेके लिए मैं तैयार हूँ। अभी जरा मस्तिष्क ठण्डा होनेकी चिन्ता करो। इस समय बातें न करो।"

राजेन्द्र—"नहीं, मुझे अब और कुछ नहीं कहना है। जो कुछ कहना था, मैं सब कह चुका। हाँ, इतना और कहना है—मेरी मृत्युके बाद कृत्यकर्म उसीसे कराना। तुम्हारा हृदय दयालु है, मैं और कुछ भी न कहूँगा। क्यों, क्या राय है तुम्हारी? क्या इसमें भी कुछ धर्मका उल्लंघन होगा?"

बाहर मोटर खड़ी होनेकी आवाज सुनाई पड़ी। डाक्टर, अवश्य ही डाक्टर आ रहे हैं।

रोगीकी दशा एकदम बिगड़ गयी थी। डाक्टरने देखकर जबाव दे

दिया ! उन्होंने कोइ दवा भी नहीं दी। चन्द्रकलाने स्वामीके शरीरपर हाथ रखा तो उसे भी शरीर शून्य, चेतना-रहित मालूम हुआ। चन्द्रकला रोती हुई स्वामीके शरीरपर बेहोश होकर गिर पड़ी। रोनेकी आवाज़ सुनकर घरके नौकर-चाकर सब आ गये। इतनेमें राजेन्द्रका एक पैर ज़रासा हिला। डाक्टरने नाड़ी देखकर कहा—"भीड़ जल्दी हटाओ, सम्भव है, रोगीकी दशा सुधर जाय !"

४९

समयकी गति बड़ी ही बलवान है। राजेन्द्र महाशय फिर सचेत हो गये। अब उन्हें अपना ही जीवन बिलकुल निःसार और पहाड़ मालूम होने लगा। धीरे-धीरे उठकर बैठने भी लग गये। चन्द्रकला अपने हृदयकी बात स्वामीसे कहना चाहती थी, किन्तु कहनेका साहस नहीं होता था। सोचती, सम्भव है पहलेकी तरह बातें सुनकर फिर बीमार पड़ जायँ !

इस तरह पन्द्रह दिन बीत गये। एक दिन राजेन्द्रने बरामदेमेंसे कहा—"इधर कई दिनोंसे वह दिखाई नहीं पड़ रहा है। मालूम होता है कि यहाँ नहीं है।"

अब चन्द्रकलाको अवसर मिला। उसने स्वामीके समीप जाकर कहा—"मालूम नहीं; सम्भव है कि माँके पास चला गया हो। तो आज आदमीके साथ जाकर मैं उन दोनोंको साथ ले आऊँ ?"

राजेन्द्र थोड़ी देरतक चुप रहे। उसके बाद कहा—"कुछ कहा नहीं जाता। मैंने तो अबकी बार समझा था कि कष्टके दिन पूरे हो गये, पर मालूम होता है अभी मेरी और भी दुर्गति होनेवाली है।"

चन्द्र०—"व्यर्थ ही चिन्ता न करो, आज मैं मिर्जापुर चली जाती हूँ, जिस तरह भी होगा, साथ लेकर आऊँगी।"

राजेन्द्र—"किन्तु ऐसा करना भी उचित नहीं। जिस आज्ञाका मैंने जन्मभर निर्वाह किया, उसीका अब अन्तिम समयमें उल्लंघन कैसे करूँ? ऐसा करनेके बाद मैं तो दोनों तरफसे नष्ट हो जाऊँगा।"

चन्द्र०—"इसमें नष्ट होनेकी कोई बात नहीं है। मैं कहती हूँ, जिसका साथ निबाहनेके लिए विवाहके समय तुमने वैदिक मंत्रों द्वारा ईश्वरको साक्षी देकर प्रतिज्ञा कर ली, फिर उस धर्मयुक्त प्रतिज्ञाको तोड़नेके लिए क्या किसीकी बात मान्य हो सकती है? मेरी धारणा तो यह है कि ईश्वरकी आज्ञासे भी उस प्रतिज्ञाका भंग करना धर्म नहीं हो सकता। हाँ, विरक्तिका भाव उत्पन्न हो जानेपर यदि त्याग किया जाय तो उसकी बात दूसरी है। यद्यपि ईश्वरकी आज्ञा और पिताकी आज्ञामें अन्तर नहीं है, तथापि मैं ईश्वरकी आज्ञा इसलिए कहती हूँ कि मनुष्य भ्रान्त है और ईश्वर सर्वदा निर्भ्रान्त है।"

अभी राजेन्द्रकी बुद्धिमें इतनी शक्ति संचरित नहीं हुई थी कि वह इस गम्भीर कर्त्तव्याकर्त्तव्यके निर्णयपर विचार कर सकते। इतना सुनते ही उन्हें फिर घबड़ाहट मालूम हुई। कहा—"अच्छा अब इस विषयमें और बातें करना ठीक नहीं है। क्योंकि मेरी तबीयत फिर चिन्तित हो रही है।" इतना सुनते ही चन्द्रकला चुप हो गयी। कुछ देरके बाद वह स्वामीका दिल बहलानेके लिए अन्यान्य रोचक बातें करने लगी।

इस बीमारीसे फुरसत मिलते ही लन्धौर जानेका विचार तय हो चुका था। चन्द्रकलाको घर रहनेमें कोई आपत्ति नहीं हुई। वादा हो चुका था कि यदि बीस दिनसे अधिक लगेंगे तो चन्द्रकला भी स्वामीके पास लन्धौर चली जायगी। चन्द्रकलाने अपना काम पूरा करनेका निश्चय कर लिया। सम्भवतः इसीलिए वह घर रही भी। नहीं तो अवश्य स्वामीके साथ लन्धौर चली जाती। तो क्या चन्द्रकला मनोरमाके पास जायगी? मानिनी मनोरमाका चन्द्रकलाके जानेसे वहाँ आना क्या कभी सम्भव है? यदि नहीं आवेगी तो चन्द्रकला कभी जीवित न लौटेगी। अच्छा, यदि वह सुशीलके साथ चन्द्रकलाके विनती करनेपर आ जायगी,

तो राजेन्द्र क्या नाराज नहीं होंगे ? इसमें नाराज होनेकी बात ही कौनसी है ? पिताकी आज्ञा उनपर है, चन्द्रकलापर तो है नहीं। वह अपनी इच्छासे उन दोनोंको बुलाकर अपने पास रख सकती है। राजेन्द्र अपने पिताकी आज्ञा माननेके लिए यदि उन दोनोंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रखेंगे, तो इसमें चन्द्रकलाका क्या दोष ? उन दोनोंको चन्द्रकला अपने पास रखेगी, घरका सब अधिकार सौंपेगी और पूर्ण रीतिसे सेवा-सुश्रूषा करके अपनी अभिलाषा—सच्ची अभिलाषा पूर्ण करेगी। इसमें हर्ज ही क्या है।

राजेन्द्र गाड़ीपर सवार हो गये। इलाहाबादके स्टेशनपर एक मासिक-पत्रिका बिक रही थी। रास्तेमें देखनेके लिए उन्होंने नौकरसे पत्रिका मँगवा ली। गाड़ी रवाना हो गयी। राजेन्द्र फर्स्ट क्लासमें लेटे हुए लेख-सूची देखने लगे। 'कर्त्तव्याकर्त्तव्य' शीर्षक लेख पढ़नेकी इच्छा हुई। उन्होंने वही लेख निकालकर पढ़ना शुरू कर दिया। लेख इस प्रकार था—

"संसार-चक्र बड़ा ही जटिल और दुरूह है। वास्तवमें भवसागरसे पार होना अत्यन्त कठिन काम है। इसमें 'कर्त्तव्याकर्त्तव्य' रूपी भँवरमें जीवन-नैया डूबे बिना नहीं रहती। संसारमें क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य, बस इन्हीं दो बातोंको लेकर धर्म और नीतिकी सारी विडम्बनाएँ, मत-मतान्तरका प्रचार तथा विचार-बाहुल्यकी सृष्टि हुई है। किन्तु कर्त्तव्यकी विवेचना करना साधारण काम नहीं और न यह श्रृंखलित किया जा सकता है। समयानुसार पवित्र बुद्धि ही कठिनताके साथ इसका निर्णय कर सकती है। कर्त्तव्याकर्त्तव्यकी निर्णायिका शक्ति प्राप्त हो जानेपर जीवन-यात्राका अगम-पथ सुस्पष्ट और सरल हो जाता है। फिर तो साहस-पूर्वक जीवन-यात्राका तय करना ही अवशेष रह जाता है; हाँ, बीचमें मार्गकी भयंकरतासे यदि घबड़ाहट न पैदा हो।

"जीवनमें बहुधा ऐसा समय उपस्थित हो जाया करता है कि तीक्ष्णसे-तीक्ष्ण बुद्धि भी धर्माधर्म-कार्यका निर्णय करनेमें पछाड़ खाकर गिर जाती

है, साधारण बुद्धिकी तो बात ही क्या। करने योग्य कार्यका करना ही धर्म और न करने योग्य कार्यका करना ही अधर्म है। यों तो साधारण रूपसे समझनेमें यह कोई कठिन प्रतीत नहीं होता; किन्तु गम्भीरता-पूर्वक विचार करनेपर इसकी गहनतासे बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। कल्पना कीजिये, शंकरने अपने सच्चे मित्र श्यामकी रक्षा करनेके लिए प्रतिज्ञा की है। श्याम अपने मित्र शंकरकी बातपर विश्वास करके निश्चिन्त है। शंकरके पिता भैरव, एक बहुत मामूली कारणवश निरपराध श्यामकी रक्षा करनेसे शंकरको रोकते हैं। आज्ञा न माननेसे पैत्रिक सम्पत्ति भी शंकरको न मिलेगी, यह भी तय है। अब ऐसी अवस्थामें शंकरका कर्त्तव्य क्या है ! पिताकी आज्ञाका पालन करके निर्दोष श्यामका नाश करना धर्म है, या अपनी प्रतिज्ञाका निर्वाह करके पितृ-आज्ञाका तिरस्कार करना धर्म है ? पहलू दोनों ही पुष्ट हैं। पिताकी आज्ञा माननेके सम्बन्धमें गोस्वामी तुलसीदासका कथन है—

अनुचित उचित विचार तजि, जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजसके, बसहिं अमरपति ऐन॥

"दूसरी ओर—उधर वचन-बद्धताके सम्बन्धमें भी स्वयं गोस्वामीजी ही कहते हैं कि 'प्रान जाइ बरु वचन न जाई।' अब इस समस्याकी जटिलता स्वाभाविक ही समझमें आ सकती है। किन्तु निर्मल बुद्धि सरलतापूर्वक यह समस्या हल कर लेगी। ऐसी अवस्थामें वह कोई ऐसा मार्ग ढूँढ़ निकालेगी जिससे पिता भी असन्तुष्ट न होंगे और प्रतिज्ञा भी भङ्ग न होगी। कुछ लोगोंको यह निर्णय उचित नहीं जँच सकता। परन्तु यह विचारनेकी बात है कि यद्यपि पितृ-आज्ञा अनुचित और उचितका विचार छोड़कर शिरोधार्य की जानी चाहिये तथापि अनुचित-उचित, धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यपर दृष्टि न डालनेसे अन्ध-भक्ति ही कही जायगी। कर्त्तव्याकर्त्तव्यका विवेचन तो हर जगह करना ही पड़ेगा। पिताका स्थान संसारमें सर्वोच्च है अवश्य; किन्तु पिताकी पितृत्व-युक्त आज्ञा न होनेसे वह मान्य कदापि नहीं हो सकती। वैसी आज्ञाका मानना ही

अधर्म होगा। जिस पितामें विवेक नहीं, धर्माधर्म पहचाननेकी शक्ति नहीं, वह पिता केवल जन्मदाताके सिवा और कुछ भी नहीं। पिता शब्दका अर्थ ही 'महागुरु' है।

"थोड़ी देरके लिए मान लिया जाय कि पिताकी आज्ञा अनुचित और उचितका विचार छोड़कर माननी चाहिये। अच्छा, तो मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्रने ऐसा क्यों नहीं किया? कैकेयीकी माँग तो यह थी न कि, 'तापस-वेष विशेष उदासी।' फिर रामने धनुष-बाण क्यों नहीं छोड़ा? क्या तपस्वी-वेषमें धनुष-बाण या और कोई भी अस्त्र-शस्त्र धारण करना उचित है? कदापि नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि अनुचित और उचितका विचार हर जगह करना चाहिये। भगवान्ने पिताकी आज्ञाका सब अंश तो सहर्ष स्वीकार किया, पर धनुषका छोड़ना उचित नहीं समझा; क्योंकि उन्हें तो दुष्टोंका संहार करना था; फिर निष्कर्मी बनकर वह कैसे बैठ जाते? अतः यह मानना पड़ेगा कि अनुचित और उचितका विचार छोड़कर पिताकी आज्ञा माननी चाहिये—यह कहनेका अभिप्राय बहुत ही ठीक है; कवि या शास्त्रकारोंने अपने इस प्रकारके कथनमें पिता शब्दसे 'महागुरु'के अर्थका लक्ष्य करके कहा है। उनका कथन ठीक है; क्योंकि जो पिता (महागुरु) है, वह अनुचित आज्ञा ही क्यों देगा और जब वह ऐसी आज्ञा देगा ही नहीं, तो फिर उसमें अनुचित और उचितका विचार करनेकी आवश्यकता ही क्या? और फिर यदि शास्त्र-कारोंके कथनका यही अभिप्राय होता कि पिताकी अनुचित आज्ञाका मानना भी धर्म है, तो फिर उन्हें यह लिखनेकी आवश्यकता ही क्या थी कि,—

पितुर्वचो हि माकार्षीः कामाव्यासक्त चेतसः।
आत्मानञ्चाभिषिञ्चस्व तदर्थं क्षत्रियो ह्यसि॥'—इत्याग्नेये।

"अतः हर तरहसे यही सिद्ध होता है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्यके निर्णय करनेका प्रश्न हर जगह है, कोई भी स्थान इससे रिक्त नहीं।"

"सारांश यह है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्यकी निर्णायिका शक्ति संचरित

करनेकी जीवनमें सबसे बड़ी आवश्यकता है। इसके बिना धर्माधर्मका अलगाव कदापि नहीं किया जा सकता।"

इतना पढ़कर राजेन्द्रने पत्रिका बन्द कर दी। उनके सामने एक भीषण समस्या उपस्थित हो गयी। मन-ही-मन सोचने लगे, 'यह लेख मुझपर लक्ष्य करके तो नहीं लिखा गया है। किन्तु लेखमें ऐसी कोई बात तो नहीं है जिससे यह साबित हो सके कि मुझे लक्ष्य बनाकर यह लेख लिखा हो, विचार अवश्य ही उत्तम, धर्म-युक्त और अनूठा है। ठीक है, और लोगोंका लिखना ठीक हो या न हो, पर मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्रने तो मानव-जीवनका आदर्श दिखलानेके लिए अवतार लिया था। उन्होंने भी धनुष-बाण लेनेमें पितृ-आज्ञाका उल्लंघन किया। अवश्य ही सब काममें उचित और अनुचितका विचार करना चाहिये। अच्छा तो क्या मैंने बहुत बड़ी भूल की? इतना कष्ट सहन करनेपर भी मैं पथ-भ्रष्ट हो गया, धर्म-अधर्मका उचित निर्णय नहीं कर सका? ओफ! मैं किसी तरफका भी न हुआ? जिसका मैंने पाणिग्रहण किया, वैदिक मन्त्रों द्वारा शपथ-पूर्वक जिसे सुखसे रखनेकी प्रतिज्ञा की, अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर उसीका मैंने इतना बड़ा अपमान किया। निरपराधिनी सती देवीको इतना कठिन दुःख देकर मैं शान्ति और सुखका अधिकारी बिलकुल नहीं रह गया। जब मैं प्रतिज्ञा-बद्ध हो चुका, तो बाबूजीकी बातसे उसे तोड़ना उचित नहीं था।—नहीं नहीं, बाबूजीके जीवित रहनेतक उन्हें प्रसन्न रखनेके लिए उनकी आज्ञा मुझे माननी चाहिये थी, पर उनके स्वर्गारोहण करते ही उस देवीको अपने यहाँ बुला लेना ही उचित था। हाय! माँ और मामाका कहना भी मैंने नहीं सुना! उस दिन चन्द्रकला जो कहती थी, वह बात ठीक हुई; सचमुच मैंने बहुत बड़ा अधर्म किया। अब उसी देवीके पास चलकर क्षमा माँगनेमें ही कल्याण है। किन्तु जब यह (चन्द्रकला) राजी हो तब तो? नहीं नहीं, फिर भूल कर रहा हूँ। यह (चन्द्रकला) बेचारी तो उस दिन भी बुलानेके लिए कह रही थी। वर्षोंसे यह इसीलिए मुझपर भीतर-ही-भीतर नाराज

भी है। किन्तु—मैं उसके सामने कौनसा मुँह लेकर खड़ा होऊँगा ? क्या यह मुँह क्षमा माँगनेके लायक है ?' इन्हीं बातोंका मनन करनेमें राजेन्द्र लगे हुए थे। रातभरमें एक बार भी उनकी आँखें नहीं ढँपीं। कभी सोचते थे, लौट चलना ठीक है, कभी सोचते थे, लौटनेसे लाभ ही क्या है। अब उसके सामने किसी प्रकार भी मुँह दिखाना ठीक नहीं।

सबेरा हो गया। गाड़ी मथुरा स्टेशनपर खड़ी हो गयी। राजेन्द्रने नौकरोंसे कहा, "सामान वगैरह उतारो, यहाँ दो-एक दिन रहकर तब चलेंगे।"

किसी मित्रको पहलेसे अपने आनेका समाचार न दे सकनेके कारण राजेन्द्र बाहरी तरफकी धर्मशालामें जाकर ठहरे। चार दिन बीत गये, किन्तु वह मकानके बाहर एक बार भी नहीं निकले। चिन्तासे बाहर निकलनेकी उन्हें फुरसत ही नहीं मिली। तो क्या सचमुच ही राजेन्द्र वापस लौटेंगे ? मनोरमाके सामने जाकर क्षमा-प्रार्थी होंगे ? पिताकी आज्ञाका जीवन-पर्यन्त पालन करके इस अन्तिम अवस्थामें उसे तोड़ देंगे ? कभी नहीं; राजेन्द्रमें पिताकी आज्ञाका उल्लंघन करनेकी शक्ति नहीं है। इतना कष्ट सहन करके प्रेमकी व्यथासे आहत होकर जिस पितृ-भक्तिका उन्होंने परिचय दिया है, उसको तोड़ना राजेन्द्रकी शक्तिसे बाहर है। उन्हें नरकमें जाना स्वीकार है, संसारके कठिनसे-कठिन दुःख जन्म-जन्मान्तर तक भोगना शिरोधार्य है; किन्तु पिताकी आज्ञा वह नहीं टाल सकते।

आज शामकी गाड़ीसे जानेका विचार पक्का हो गया। दस बजे दिनके करीब उन्हें जगदीशप्रसादकी याद आयी। जगदीशप्रसाद मथुराके रहनेवाले बड़े प्रसिद्ध रईस और राजेन्द्रके अन्तरंग मित्र थे।

भेंट करनेके लिए उनके मकानपर गये। उस समय जगदीशप्रसाद बाहर जानेके लिए तैयार होकर मकानके फाटकपर पहुँचे ही थे कि राजेंद्रप्रसाद पहुँच गये। बड़े हर्षसे उभय मित्रोंका सम्मिलन हुआ। जगदीशने कहा—"क्या अभीतक तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं हुई ? इधर तो बहुत दिनोंसे, तुम्हारा कोई पत्र भी नहीं आया।" यह कहते हुए वह मित्रको लेकर बैठकमें चले गये।

राजेन्द्र—"कुछ पूछो न, एक बार अच्छा होकर फिर बीमार पड़ गया।"

जगदीशने खेद प्रकट करते हुए कहा—"सामान वगैरह आ गया होगा, ठहरो जरा मैं उसे उतारकर रखवानेके लिए जमादारसे कह दूँ।"

राजेन्द्र—"मेरे साथ सामान नहीं आया है। क्षमा करना, मैं सूचना न देनेके कारण धर्मशालामें ठहरा हूँ। आज शामकी गाड़ीसे जानेका विचार है।"

यह सुनकर जगदीशका दिल बहुत दुखी हुआ। किन्तु राजेन्द्रके समझानेपर उन्हें शान्ति मिल गयी।

राजेन्द्रने पूछा—"कहाँ जा रहे थे?"

जग०—"अनाथ-चिकित्सालयमें जा रहा था। आजकल रोगी बहुत ज्यादा हैं। खासकर एक रोगीकी हालत बहुत खराब है।"

राजेन्द्र—"चलो फिर, मैं भी देखनेके लिए चलूँगा।"

जग०—"नहीं, तुम अभी आराम करो, तुम्हारा शरीर बहुत निर्बल हो गया है, चलनेमें तकलीफ होगी।"

राजेन्द्र—"तकलीफ काहेकी है। चलो, वहाँसे आकर आराम करूँगा।"

दोनों मित्र मोटरपर बैठकर अनाथ-चिकित्सालयमें पहुँचे। रोगियोंका समूह और उनकी सेवाका ढंग देखकर राजेन्द्र बार-बार अपने मित्रकी सराहना करने लगे। धीरे-धीरे जनाना विभागमें पहुँचे।

जगदीश एक जगह खड़े होकर अपना विचार प्रकट करते हुए बगलके कमरेकी ओर लक्ष्य करके कहने लगे—"इसमें एक रुग्ण स्त्रीकी दशा बड़ी शोचनीय है। यह तीर्थ करनेके लिए आयी थी, यहाँ आकर बीमार पड़ गयी। सड़कपर बेहोश पड़ी हुई मिली। तीन दिनसे यहाँ सेवा की जा रही है। इसका लड़का इलाहाबादमें पढ़ता है। स्त्री उच्च श्रेणीकी पण्डिता मालूम होती है। मस्तकके सिन्दूरसे सधवा मालूम होती है; किन्तु वह कहती है कि लड़केको छोड़कर और कोई सहायक नहीं

है। लड़केको खबर भेज दी गयी है।"

इतनेमें आफिसके क्लर्कने जरूरी पत्रोंपर सही करनेके लिए बुलाया। जगदीशने कहा—"तुम इस कमरेमें चलकर जरा रोगीको देखो, मैं सही करके अभी आता हूँ। सीढ़ी चढ़कर ऊपर चलनेमें तुम्हें कष्ट होगा।" इतना कहकर जगदीश तो ऊपर चले गये और राजेन्द्र उस रुग्ण स्त्रीको देखनेके लिए कमरेमें आये।

५०

कृष्ण पक्षकी त्रयोदशीके कलावशेष चन्द्रमाकी भाँति क्षीण और प्रभाहीन माँके मुखकी ओर दृष्टि डालते ही सुशीलकी आँखोंसे अश्रुपात होने लगा। लड़केका सूखा हुआ, दुखी और मलिन मुँह देखकर भी दुःखिनी मनोरमा उसे शान्त करनेकी बहुत देरतक कुछ भी चेष्टा न कर सकी। दोनों आपसमें गलेसे मिलकर वेदना-पूर्ण अश्रु-प्रवाहसे एक दूसरेके हृदयका दुःख धोकर बहाने लगे।

मनोरमाके शरीरमें और कुछ भी शेष नहीं रह गया है, केवल पतले चमड़ेसे ढँका हुआ हड्डीका ढाँचा-मात्र है। 'मुझ अभागेके कारण ही तेरी यह दशा हुई!' यह वाक्य बार-बार कहकर सुशील माँके शुष्क शरीरमें मानो रक्तका संचार करने लगा। किन्तु इस रक्त-संचारसे क्या मनोरमाको अब जीवन-दान मिल सकता है? यदि अपनी वाक्-सुधाका श्रवण-पान कराना सुशील इतने दिनोंतक एकदम बन्द न कर रखता तो निश्चय ही मनोरमाकी जीवन-शक्ति अभी समाप्त न होती। अबतक तो मनोरमा अपना जीवन बहुत पहले ही समाप्त कर चुकी होती, किन्तु सुशीलने ही जन्म लेकर उसे वैसा करनेसे रोक दिया। यदि माँकी हत्या करना ही सुशीलका ध्येय था, तो वह क्यों मनोरमाके गर्भमें आया?

हाय ! पिताके लोभमें पड़कर सुशीलने अपना समुज्ज्वल भविष्य भी चौपट कर दिया ! यहाँतक कि संसारमें सबसे अधिक प्रिय मूर्तिमती देवी अपनी माँको भी खोना चाहता है ।

सुशीलकी इस दुःख-परितप्त माँके साथ उन्होंने कैसा व्यवहार किया, यह भी तो सोचनेकी बात है । पिताका आदेश ! यदि पिताकी आज्ञासे बिना अपराध ही धन-हीन कन्याका त्याग करके वह भी भगवान् श्रीराम-चन्द्रकी तरह उसकी स्मृतिमें अपना जीवन समाप्त करते, तो निश्चय ही आज वह संसारमें ज्वलन्त उदाहरण, दया-पूर्ण सहानुभूतिके पात्र और सुशीलके ईश्वर होते । पिताकी आज्ञाका उन्होंने पालन ही क्या किया है ? अग्निदेवताको साक्षी देकर वेद-मंत्रों द्वारा ग्रहण की हुई साध्वी देवीके मस्तकपर कलंकका टीका लगाकर उसे निःसहायावस्थामें छोड़ देना और सुन्दरी धनी कन्याके साहचर्यसे सानन्द जीवन व्यतीत करना भी क्या पिताकी आज्ञाका पालन करना कहा जा सकता है ?

सुशीलका करुणा-पूर्ण वाक्य मनोरमाको असह्य तो हुआ, किन्तु उसने धैर्यके साथ बालकको दृढ़ता प्रदान करनेके लिए कहा—"बेटा सुशील, तेरा इसमें कोई दोष नहीं है । गीताका वह भगवद्वाक्य क्या तू भूल गया कि 'गहना कर्मणो गतिः ?' लड़केके सामने यदि माँ-बापकी मृत्यु हो तो इससे बढ़कर और हो ही क्या सकता है बेटा ! हृदयमें ग्लानि लानेसे यह सांसारिक स्नेह बड़ा ही कठिन क्लेश पहुँचाता है बेटा ! इस-लिए तुझे शान्त होना चाहिये । अब मुझे अपना अन्तिम समय सुखसे समाप्त करने दे । आज तुझे पाकर मैं जिस सुखका अनुभव कर रही हूँ लाल, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । परमात्माने सचमुच ही तुझ-पर बड़ा अनुग्रह किया । अब मुझे जिलानेकी चेष्टा करना व्यर्थ है बेटा ! ऐसी सुविधा-जनक मृत्यु मेरे लिए फिर नसीब न होगी ।"

सुशीलके मुँहसे एक भी शब्द न निकला । माँकी गोदमें मुँह छिपा-कर सिसकने लगा । थोड़ी देरमें ढाढ़स करके सिसकना रोककर किसी गहरी चिन्तामें पड़ गया । वह माँको मिर्जापुर छोड़कर प्रयाग क्यों चला

गया ? छुट्टियोंमें भी वह एक बार देखने क्यों नहीं आया ? माँके अनुरोध करनेपर यदि वह उसे अपने साथ लेता गया होता—रुग्णा माँको छोड़-कर चला न जाता—तो आज उसकी माता-विहीन होनेकी बारी न आती; किन्तु अपनी यह भूल सुशील कहे किससे ? और—अब कहनेसे लाभ ही क्या ?

लड़केका मुँह देखनेके लिए मनोरमा बहुत दिनोंसे व्याकुल हो रही थी। इस बीमारीमें तो वह और भी अधीर हो उठी थी। सुशीलके देखते ही उसके शरीरमें बहुत-कुछ शक्ति आ गयी है। नहीं तो सम्भवतः अबसे बहुत पहले ही—राम ! राम ! क्या पतिव्रता मनोरमा अपनी इच्छा पूर्ण किये बिना ही चल बसती ? असम्भव ! मृत्युके भीषण आक्रमणका अनु-भव करके मनोरमा केवल सुशीलके मुखकी ओर अतृप्त नेत्रोंसे देखने लगी। एक गुप्त वासना उसके हृदयमें छिपी हुई थी; बीच-बीचमें उसके स्मरणसे मनोरमा व्यग्र हो उठती थी। क्या अपनी उस वासनाको वह प्रकट नहीं करेगी ?

द्विधाके कारण बहुत देरतक मौन रहनेके बाद अन्तमें मनोरमाने स्तब्ध सुशीलका कण्ठ अपने बलहीन हाथसे लपेट लिया और दूसरे हाथसे उसका चिबुक पकड़कर कहा—"नहीं बेटे, तू इस तरह उदास होकर मत रह ! जब मैं चली जाऊँगी, तो क्या तू बहुत अधिक दुखी हो जायगा ? नहीं लल्ला मेरे ! मेरे प्राण ! व्यर्थ ही ग्लानिसे अपना शरीर मिट्टी न कर डालना हीरा ! उस समय तुझे समझानेवाला भी तो कोई न होगा ! यही सोचती हूँ। आः !"

माँकी यह बात सुशील सहन नहीं कर सका। अबोध बालककी भाँति मुख छिपा लिया और उसका दबे कण्ठसे पुक्का फूट गया। बीचमें एक बार लम्बी साँस लेकर रोते हुए ही कहा—"मेरे समान अभागा कोई न होगा माँ ! तेरे लिए मैं कुछ भी न कर सका !"

मनोरमाने सुशीलकी पीठपर हाथ रखकर बड़ी धीरताके साथ कहा—"मेरे लिए तू कुछ करना चाहता है बेटा सुशील ?"

आँसू-भरे हुए नेत्रोंसे चकित होकर मस्तक उठाकर सुशीलने कहा—"क्या करूँ, बतला ?"

मनोरमाका निर्बल कण्ठ रुक गया। थोड़ी देर बाद चेष्टा करके उसने कहा—"इस अन्तिम समयमें एक बार किसी तरह उनका दर्शन करा दे बेटा। बोल करा सकेगा, सुशील ?"

सुनते ही सुशीलके रोंगटे खड़े हो गये। बहुत देरतक कोई उत्तर न पानेपर अधीरा मनोरमाने व्याकुल कण्ठसे विनती करके कहा—"बोल, बेटा सुशील ! जन्म सफल करनेके लिए उन्हें दिखला सकेगा ? सत्रह वर्ष हो गये, देखा नहीं रे—अन्त समयमें उनके पैरोंपर अपना माथा रखकर इच्छा पूरी करनेकी मेरी उत्कट अभिलाषा है। क्या यह काम तू कर सकेगा ?"

सुशील अबोध बालक नहीं था। माँकी पति-भक्तिसे वह भलीभाँति परिचित था। एक बार उसने यह कहना चाहा कि जो आदमी तेरी सारी दुर्दशाओंका मूल कारण है, एवं जो तेरा हनन करनेवाला है, उसके पैरोंपर तू क्यों मस्तक रखेगी ? जिसके कारण तेरी यह दशा हुई, उसीके पैरोंपर गिरेगी ? किन्तु तुरन्त उसके कानमें मानो किसीने यह कह दिया कि, 'यह कहना सर्वथा अनुचित है।' सुशील चिन्तामें पड़ गया। सोचने लगा, रोगीकी आशा भंग होनेसे सम्भव है कि उसका प्राण-पखेरू उड़ जाय। जो भी हो, सुशील एक बार अपने सारे विचारोंको दबाकर माँकी आज्ञाका पालन जरूर करता; किन्तु उसे सफल होनेकी बिल्कुल आशा नहीं होती थी। प्रयत्न करनेके लिए माँको छोड़कर जानेका भी साहस वह नहीं कर सकता था। सोचता था कि कहीं मेरे उधर जाते ही माँ बिदा न हो जाय।

सुशीलके मुँहसे फिर कोई उत्तर न मिलनेपर मनोरमाने कहा—"उनके प्रति अपने दिलमें किसी प्रकारकी भी बुरी भावना उत्पन्न न करना बेटा ! किसी देवताको दैत्य कहनेसे उस देवताका देवत्व नष्ट नहीं होता वरन् निन्दक ही दुःख पाता है। देवत्व और असुरत्व अपने मनकी निष्ठापर

ही निर्भर करता है बेटा ! तुम्हारे एक पत्रसे मालूम हुआ था कि तुमने उन्हें देख लिया। सम्भव है, उनका बाहरी व्यवहार देखनेसे तुम्हारे दिलमें कुछ अरुचि भी पैदा हो गयी हो, किन्तु ऐसा समझना ठीक नहीं। हृदयका देखना ही सच्चा देखना है बेटा ! बोल, दिखला सकेगा या नहीं ?"

सुशील कुछ कहना ही चाहता था कि इतनेमें एक आदमीने अँगुली दिखलाकर कहा—"यही हैं" इतना कहकर आदमी चला गया।

"यही हैं" सुनते ही सुशील चौंक पड़ा। मनोरमा भी स्तम्भित हो गयी। हाय भगवान्, इस दुःखमय समयमें कौन आया ? क्या सुशीलको फिर जेल जाना पड़ेगा ? माँका दग्ध-संस्कार भी वह न कर सकेगा ?

इतनेमें एक स्त्री कमरेमें आकर मनोरमाके पैरोंपर गिर पड़ी। मनोरमाने पूछा—"कौन ? कौन है सुशील ?"

यह अपरिचिता स्त्री सुशीलकी सन्दिग्ध-पूर्ण चिर-परिचिता थी। कमरेमें यह मुँह ढँककर आयी और आते ही मनोरमाके पैरोंपर गिर पड़ी। इसीसे अभीतक सुशील उसका मुँह भी नहीं देख सका। स्त्री उठकर आँसू पोंछने लगी। सुशीलने मुँह देखकर माँके कानमें न-जानें क्या कहा। सम्भवतः स्त्रीका परिचय कराया। मनोरमाकी आँखें एक बार खुल गयीं। कुछ कहना ही चाहती थी कि इतनेमें स्त्रीने कहा—"बहन, बहन ! मैं अपने महापापका प्रायश्चित्त करनेके लिए आयी थी; किन्तु हाय। बहन, तुमने मुझे प्रायश्चित्त करनेका अवसर भी न दिया ! सारी आशाएँ भीतर ही रह जाना चाहती हैं !"

मनोरमाने कहा—"कौन, बहन चन्द्रकला ! आ, इस अन्तिम समयमें एक बार तुझे गलेसे तो लगा लूँ। तेरा कोई अपराध नहीं री चन्दरि ! तू प्रायश्चित्त किस बातके लिए करेगी ? नहीं-नहीं, इस तरह रोकर मुझे दुखी न कर बहन,—आज मैं धन्य हो गयी ! तेरे प्रति— ईश्वर जानते होंगे—किसी दिन भी मेरे हृदयमें द्वेषका भाव नहीं पैदा हुआ। आज भी अपने हृदयसे यही आशीर्वाद देकर जाती हूँ कि—तेरा

जीवन सावित्रीके समान पवित्र रहे।"

'चन्दरि' शब्दका प्रयोग सुनकर चन्द्रकला प्रेममें विभोर हो गयी। हृदयका भाव कभी छिपा नहीं रहता। जो कुछ सोचकर वह आयी थी, उससे कहीं अधिक उदार और प्रेममय हृदय उसने मनोरमाका पाया। यदि ऐसा न होता तो भला मनोरमा अपनी सौत चन्द्रकलाको 'चन्दरि' जैसे प्रेमसूचक शब्दसे कभी न पुकारती। क्यों न हो, सुशील जैसा पितृ-भक्त और अनुपम सुन्दर बालक पैदा करनेवाली माँका ऐसा होना कोई आश्चर्यजनक नहीं। मनोरमाकी स्नेह-भरी सहृदयतासे टपकती हुई बातें सुनकर चन्द्रकला और अधिक रोने लगी। रोती हुई बोली—"मेरी सारी आशाओंपर पानी फिर गया!—मैं तुमसे इस समय और क्या कहूँ बहन, अब तो तुम्हारा चरण छूकर ही सन्तोष करना पड़ता है।—ऐसी देवी उनके हृदयमें कैसे न पूर्ण स्थान पाती!"

मनो०—"मेरी बहन! तुझे भी आधा स्थान मिला है। वह किसीके साथ अन्याय नहीं कर सकते—यह मैं अच्छी तरह जानती हूँ।—प्यारी बहन, मनमें सोच न करो! अब एक बार तू अपने इस लड़केको गोदमें लेकर बैठ जा, मैं देखकर चली जाऊँ—सुशील बेटा! तूने अपनी छोटी माँके पैरोंपर गिरकर प्रणाम नहीं किया?"

सुशीलके मुखसे 'माँ' सुननेके लिए चन्द्रकलाकी उत्सुकता बहुत दिनोंसे मचल रही थी। किन्तु वह कहती कैसे कि सुशील तुम मुझे 'माँ' कहकर पुकारो। इसी चिन्तामें चन्द्रकला डूबी हुई थी कि सुशील चन्द्रकलाके पैरोंपर गिर पड़ा और बोला—"माँ! इतनी देरतक मैंने प्रणाम नहीं किया, क्षमा करना।"

चन्द्रकलाने गद्गद होकर सुशीलको हृदयसे लगा लिया और उसके तप्त शरीरको प्रेमाश्रु-सुधासे शीतल करने लगी।

मनोरमा यह दृश्य देखकर गद्गद हो उठी। मृत्यु समयकी भयानक यन्त्रणा उसे बिलकुल विस्मृत हो गयी। थोड़ी देरतक निस्तब्धता छायी रही। इसके बाद चन्द्रकलाने कहा—"बहन तुमने मेरा जीवन सार्थक

कर दिया। पर हाय भगवान्, मैं कुछ भी तुम्हारे लिए न कर सकी !"

मनोरमाने बड़े कष्टसे कहा—"बहन, यदि उनके चरणोंका दर्शन करा देती तो—"

चन्द्रकलाने लम्बी साँस लेकर कहा—"वह तो लन्धौर हवा खानेके लिए चले गये हैं बहन ! किन्तु मैं अभी तार भेजती हूँ। कलतक वह जरूर आ जायँगे। लेकिन बहन ! कलतक क्या तुम रहकर मेरी सेवा स्वीकार करोगी ? ठहरो, मैं आदमी बुलाकर तार देनेके लिए भेजती हूँ।"

इतना कहकर चन्द्रकला अपने साथ आये हुए आदमीको बुलानेके लिए ज्यों ही दरवाजेपर पहुँची, त्यों ही बगलमें दो आदमी खड़े हुए बातें करते दिखाई पड़े। चन्द्रकला वापस आकर बैठ गयी। शीघ्रतामें उन्हें वह बिलकुल देख न सकी।

इतनेमें एक सज्जन कमरेमें आ गये। चन्द्रकला नीचे बैठी थी और सुशील चारपाईकी पाटीपर मुँह करके उदास बैठा था। आगन्तुकको रोगीकी दशा देखकर बड़ा दुःख हुआ। सुशीलपर दृष्टि पड़ते ही आगन्तुककी दशामें परिवर्तन हुआ। इतनेमें मनोरमाकी भी आँखें खुलीं। बड़ी देरतक वह आगन्तुककी ओर एकटक ताकती रही। अच्छी तरह दृष्टि जमाकर बड़े जोरसे चिल्ला पड़ी—"स्वामी ! प्राणनाथ !" यह कहते ही रुग्ण मनोरमामें अचानक बलका संचार हुआ और वह आगन्तुकके पैरोंपर गिर पड़ी।

चन्द्रकला और सुशील दोनोंने देखा तो यह आगन्तुक 'राजेन्द्र' थे।

मनोरमाको हृदयसे लगाकर आगन्तुकने कहा—"प्रिये ! क्षमा करना !—मैं अपराधी और पापी हूँ। कर्त्तव्याकर्त्तव्यका ठीक निर्णय न कर सकनेके कारण मैंने तुमपर आघात किया।"

मनोरमाके मुखसे बड़ी कठिनतासे इतने शब्द निकले—"ईश्वर, अब देर क्यों करते हो ?—जीवनाधार ! इस मृत्युके समय मुझे जो आनन्द मिला वह—"

राजेन्द्रने घबड़ाहटके साथ कहा—"प्रिये, क्षमा प्रदान करके जाओ !

आओ एक बार हम चारों आपसमें गले मिल लें। बेटा सुशील, तू भी मुझे क्षमा प्रदान कर बेटा !"

रोता हुआ सुशील पिताके पैरोंपर गिर पड़ा। राजेन्द्रने बेटेको हृदयसे लगाकर अपनी छाती शीतल की।

इतनेमें मनोरमाने कहा—"स्वामी ! प्राणाधिक ! अब मुझे बिदा दो ! मेरा जीवन सफल हो गया। बे—टा—सु—आह ! रा—म्—" और इतना कहते ही मनोरमाका शरीर चेतनाविहीन हो गया !

प्रणय

श्री देवनारायण द्विवेदी

यह उपन्यास नये युगका सामाजिक चित्र है। इसमें एक ओर तो युवक-युवतीके अन्धे यौवनका चित्रण है और दूसरी ओर आर्य-ललनाके त्याग और धैर्यकी करुण-कहानी; एक ओर झूठे लांछनका जाल है तो दूसरी ओर धन-की कुत्सित भावनाओंका दुष्परिणाम। इसमें कहीं-कहीं कथोपकथनमें जो गम्भीर विषयोंकी रोचक ढंगसे अवतारणा की गयी है, वह लेखककी विलक्षण प्रतिभाका परिचय देती है।

मूल्य पाँच रुपये